SOUNDRAYE-LEHRI

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य
श्री १००८ शंकरभगवत्पाद-विरचिता

सौन्दर्य-लहरी

का

हिन्दी अनुवाद

(श्रीविद्या-तत्त्व और कुण्डलिनी-रहस्य सहित)

उत्तिष्ठत मा स्वप्त, अग्निमिच्छध्वं भारताः।
राज्ञः सोमस्य तृप्तासः, सूर्येण सयुजोषसः॥
- तै० ब्रा०

—टीकाकार—

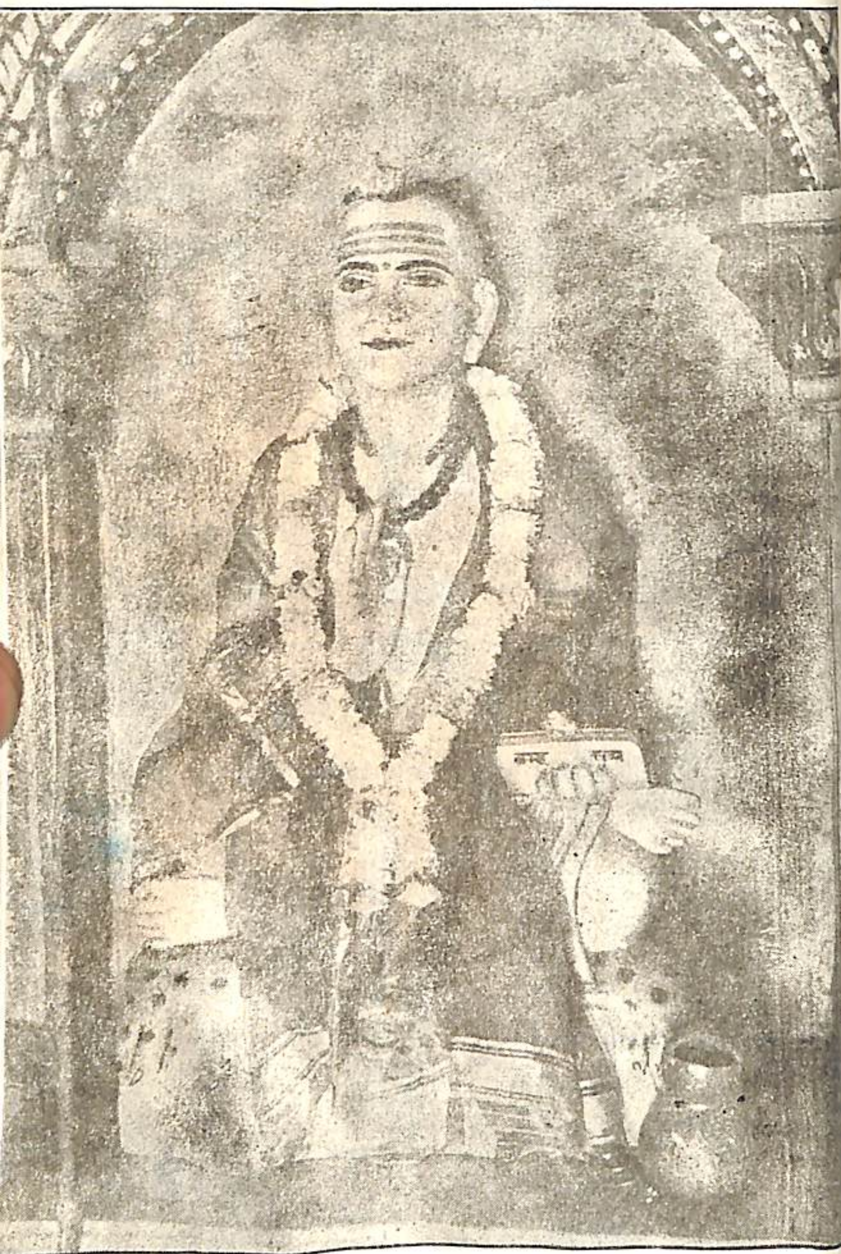
श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

मूल्य] सं० २०२७ विक्रमी [७-००

प्रकाशक—
योगश्री पीठ,
मुनिकीरेती (ऋषिकेश)
टिहरी गढ़वाल (उ० प्र०)

प्रथमावृत्ति — १००० — सन् १६४६ ई०
द्वितीयावृत्ति — १००० — सन् १६५८ ई०
तृतीयावृत्ति — १००० — सन् १६७० ई०
मूल्य सात रुपये मात्र

मुद्रक—
श्री देवेन्द्र विज्ञानी
विज्ञान प्रेस,
ऋषिकेश (उ० प्र०)



ग्रन्थ-प्रणेता ब्रह्मलीन श्री शंकरभगवत्पाद

श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद की जीवन-झांकी

और

सौन्दर्यलहरी

अद्वैतस्थापनाचार्यं शंकरं लोकसद्गुरुम् ।
प्रस्थानत्रयभाष्यादिग्रन्थकारं नमाम्यहम् ॥

अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत् शून्यं चाशून्यं च।

श्रीमद्भगवत्पाद जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने सौन्दर्य-लहरी स्तोत्र में श्रीआदिशक्ति मूलमाया एवं शुद्ध विद्या का तात्विक. यौगिक और प्राकृतिक सगुण रूप का रसगर्भित, भक्तिपूर्ण व मनोहर वर्णन किया है। भगवत्पाद ने जो अनेक ग्रंथ तात्विक और धार्मिक विषय के लिखे हैं, उनमें 'सौन्दर्यलहरी' एक संकीर्ण स्तोत्र है, जिस की रचना भग-वत्पाद ने बाल्यावस्था में ही की थी, ऐसा श्लोक ७५ और १०० से प्रकट होता है। श्रीशंकराचार्य का जन्मकाल इतिहास-संशोधनकर्ता डा० भांडारकर, जस्टिस तैलंग, लोकमान्य तिलक, हाईकोर्ट वकील नारायण शास्त्री (Age of Shankar के लेखक), लो० का० बा० पाठक तथा म० रा० बोडस M.A., L L. B. प्रभृति विद्वन्मण्डली ने ७८८ ई० में केरल देश के कालड़ी ग्राम में वैशाख शु० १०वीं को निश्चित किया है।

इनकी माता का नाम आर्यअम्बा, पिता का नाम शिवगुरु और आजा का नाम विद्याधिराज था। शिवगुरु जी के

संतान न होने के कारण उन्होंने शिवजी की आराधना की जिसके फलस्वरूप भगवत्पाद का जन्म हुआ। बाल शंकर का उपनयन संस्कार ५वें वर्ष में हुआ और असाधारण विशद बुद्धि होने से ८ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने वेदाध्ययन एवं १२वें वर्ष में सब शास्त्राभ्यास समाप्त कर लिया। इसी समय इनके पिता के भौतिक देह परित्याग कर देने के पश्चात् ब्रह्मचर्य अवस्था में ही तीव्र वैराग्य उदय होने पर इन्होंने श्री श्रीगोविन्द पादाचार्य से ॐकारेश्वर क्षेत्र में नर्मदा तट पर संन्यास दीक्षा ली और १६ वर्ष की अवस्था में काशी जाकर प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे। तदनन्तर सनातन वैदिक धर्म के पुनः संस्थापन का अलौकिक कार्य किया और तत्कालीन प्रचलित अवैदिक धर्म-संप्रदायों को निरस्त किया। अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त की विश्व में सुदृढ़ नींव कायम करने का श्रेय एकमात्र श्रीमच्छंकर भगवत्पाद को ही है। इतना सब कुछ अलौकिक कार्य ३२ वर्ष के अल्प समय में ही संपादित करके सन् ८२० ई० में वे अपना प्रातःस्मरणीय नाम सदा के लिये छोड़ गये।

भगवत्पाद के घराने में परंपरागत सांवशिव उपासना चली आती थी। उनके श्रृंगेरी आदि मठों में शिव व शारदादि की शक्ति उपासना अद्यापि प्रचलित है। शिव से निर्गुण परमतत्त्व प्राप्ति का ज्ञान-मार्ग और शक्ति से शुद्ध विद्या की

उपासना समझनी चाहिये। कांच्ची मठ में श्रीचक्र की तांत्रिक उपासना समयाचार पद्धति के अनुसार आज भी होती है, जहां भगवत्पाद का विद्यार्थीकालीन आचार्यकुल था। सौन्दर्य-लहरी के ११वें श्लोक में श्रीचक्र का वर्णन है। अद्वैत ज्ञान और शक्ति-उपासना दोनों के पारस्परिक मेल की आवश्यकता और विधिक्रम श्रींगेरी आदि मठों में देखा जा सकता है। मानव-जाति के परम उच्चतम उन्नत विकास की समाप्ति अद्वैत ब्रह्मानुभूति में कही गई है जिसके लिये ब्रह्मविद्या पर अनेक साधन हैं। उनमें श्रीचक्र की उपासना एक बड़े महत्त्व का साधन है। श्रीचक्र रेखागणित के प्रमाण से दैवी शक्तियों का एक प्रतीक स्वरूप यंत्र बनाया गया है। भौतिक यंत्रों के सदृश यह भी अध्यात्मविज्ञान के विद्वानों की आध्यात्मिक खोज का फल है जिसके द्वारा अध्यात्मशक्ति की उपलब्धि करके मनुष्य-जीवन को सार्थक किया जा सकता है। इस विषय का साहित्य-भंडार आरण्यक उपनिषदों और तंत्रों में मिलता है।

श्रीचक्र की उपास्य देवता श्री ललिता त्रिपुरा है। मंत्र के मनन द्वारा मन का तत्सम्बन्धी देवता से तादात्म्य किया जाता है। श्री ललिता त्रिपुराम्बा के मंत्र का निर्देश सौन्दर्य-लहरी के श्लोक ३२ व ३३ में है जिसका विशेष रहस्य श्री भास्कर राय के वरिवस्या नामक ग्रन्थ से जाना जा सकता

है। श्री ब्रह्म गायत्री के वैदिक मंत्र और श्रीविद्या के कादि-हादि तांत्रिक मंत्रों को एकार्थी ही समझना चाहिये, जैसे कि विभिन्न वर्णों की गायों का दूध एक जैसा ही मधुर होता है (देखें त्रिपुरतापिनी उपनिषद्)।

श्री भगवती की उपासना जैसे मंत्र-यंत्र द्वारा बाहर की जाती है, वैसे ही शरीर के अभ्यन्तर षट चक्र एवं नाड़ियों (इडा, पिंगला, सुषुम्ना) में देवता रूपी शक्तियों के केन्द्रों की सहायता से योगपद्धति के साधनक्रम का विधान है। तब देह को ही श्री यंत्र माना जाता है और मंत्रों की सहायता से मूलाधारस्थित कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान करके उसका आरोहण-अवरोहण सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्म रंध्र (सहस्रार) पर्यन्त किया जाता है जिसका वर्णन श्लोक ९, १० एवं ३५ से ४१ तक में किया गया है। सब शक्तियां बीज रूप से अपने शरीर में ही हैं, उनका जागरण कर के शरीर में ही ईश्वर की प्राप्ति की जाती है, कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की रचना तात्विक रूप से एक समान है। योगमार्गानुसार कुण्डलिनी, मन, प्राण, नाद और बिन्दु इन पांचों के ज्ञान से ब्रह्माण्ड के यावतीय सब तत्त्वों का ज्ञान होता है। मूलाधारस्थित कुण्डलिनी शक्ति ही महामाया कहलाती है, उसी का संवित् स्वरूप शुद्ध विद्या कहलाता है। वही परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के रूप में व्यक्त

होकर समस्त मंत्रमय जगत् की सृष्टि करती है जिसकी योग-उपासना का स्थान मनुष्य-देह ही है। कहा है:—

'देहो देवालयः प्रोक्तः'

परन्तु कोई भी विद्या क्यों न हो, उसकी प्राप्ति सद्गुरु की कृपा के बिना कठिन है।

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥'—गीता

इसलिये तत्त्वज्ञ महानुभावों की शरण ग्रहण करना ही राजमार्ग है।

श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ने श्री भगवत्पाद शंकराचार्य की रची हुई सौन्दर्यलहरी का हिन्दी भाषा में विद्वत्तापूर्ण अनुवाद करके यह पुस्तक लिखी है। यह उनका अनुग्रह है।

श्री स्वामी जी कतिपय महान् पुरुषों में से एक संत महात्मा हैं। आपकी विद्वत्ता और यौगिक तपोबल प्रासादिक हैं।

सौन्दर्यलहरी में तत्त्वार्थ, योगार्थ और मंत्रार्थ गूढ़ रीति और काव्यालंकारों से छिपा हुआ है। पाठक महाशयों को उसका प्रतीतार्थ यथायोग्य समझने में सहायता हो, इस हेतु से श्री स्वामी जी ने अपने विवरण की पुष्टि में वेदोपनिषद्, शास्त्रों के आधार-स्थान-विशेष बार-बार उद्धृत

किये हैं। वैसे ही नाड़ियों एवं श्रीचक्र के चित्र भी देने का प्रयत्न किया है जिससे पुस्तक पढ़ने वाले तथा योग-साधन व उपासना करने वाले भक्तजनों को विस्तृत जानकारी द्वारा सन्देह कटकर उनके मन को आनन्द-लहरियों की प्राप्ति हो। यह पुस्तक आदरणीय और संग्रहणीय है।

॥ इति शिवम् ॥

देवास जूनियर, मध्य भारत
ता० २५-३-४६
फा० ब० ११, संवत् २००५

विनायकराव बापूजी
वैशंपायन
रिटायर्ड स्टेट कौन्सिलर



ग्रन्थ-परिचय



भारतीय तत्त्वज्ञानियों में जगद्गुरु स्वामी शंकराचार्य का नाम सर्वप्रथम है। संस्कृत साहित्य के पंडितों का आज भी अभाव नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति और उच्च स्तर पर पहुंचने वाले साधननिष्ठ पुरुषों का अभाव-सा ही है। पुस्तकों का साधारण अनुवाद कर देना सरल-सी बात है, किन्तु ग्रन्थ के गर्भ-भाग में प्रवेश कर उसका आध्यात्मिक तत्त्व निकालना और उसे साधन-उपयुक्त बनाकर जनता के सामने रखना दुष्कर है। हम पुरातन शास्त्रज्ञों से यदि आत्मा, मन और प्राण की परिभाषा पूछें तो वे संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। इसको कोई आध्यात्मिक पुरुष अस्वीकार नहीं कर सकता कि स्वामी शंकराचार्य ने सौंदर्य-लहरी के १०३ श्लोकों में उपासना का कितना गूढ़ रहस्य और योग-साधनों की कितनी उपयोगिता बतलायी है। भगवान् शंकराचार्य के इस स्तोत्र में जो भगवती की स्तुति की गई है, उसमें उनके उद्गार कितने श्रेष्ठ, स्पष्ट, गम्भीर और उन्नत प्रदर्शित किये गये हैं। ऐसे बृहद् ग्रंथ का अनुवाद करना और उसे आध्यात्मिक साधन के उपयुक्त कर देना सरल बात नहीं है। इस पर तो वही महात्मा प्रकाश डाल सकते हैं जो उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचे हुए हैं और अधिकारी हैं।

ब्रह्मनिष्ठ श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ने इस अनुपम ग्रन्थ का अनुवाद करके हिन्दी जगत् का बड़ा उपकार किया है। प्रस्तुत पुस्तक के कुछ पृष्ठों को पढ़ने से ही स्वामी जी के गंभीर अध्ययन का परिचय मिलता है।

वेद, वेदान्त, उपनिषद्, शास्त्र, तंत्रशास्त्र, योग, मंत्रशास्त्र तथा भारतीय एवं पाश्चात्य तत्त्वज्ञानियों के वैज्ञानिक अनुसंधान के दृष्टिकोण को लेकर मंत्रों का महत्त्व समझाया है। प्रत्येक श्लोक विशेष महत्त्व रखता है जिसमें स्वामीजी के अध्ययन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

मंत्रों के विषय में स्वामी जी ने जो व्याख्या सहित अपने विचार लिखे हैं, वह मंत्रशास्त्र के साधकों के लिये गूढ़ तत्त्व एवं अतीव उपयोगी हैं। शिवजी के तांडव नृत्य के सम्बन्ध में जो भाव प्रकट किये हैं, उनमें स्वामी जी की मौलिकता स्पष्ट हो रही है। आनन्द-लहरी को पढ़ते-पढ़ते पाठक स्वयं आनन्दविभोर हो जाता है। सौन्दर्यलहरी को २ भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में ४१ श्लोक आनन्दलहरी के नाम से प्रसिद्ध हैं और उत्तरार्द्ध खंड सौन्दर्यलहरी है। दूसरे खंड को पढ़कर अनात्मवादी भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर लेगा। चितिशक्ति का वर्णन और अपरोक्षानुभूति के विषय को इतना स्पष्ट किया गया है कि पाठक के चेतना-स्तर को हिला देता है।

चक्रों और कुण्डलिनी का विषय बहुत सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया गया है। उसका रहस्योद्घाटन बड़े सरल शब्दों में किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को साधनायुक्त बनाने में स्वामी जी ने स्तुत्य प्रयत्न किया है और इसका समीकरण भी बहुत स्पष्ट हुआ है।

विचारी, विवेकी और ज्ञानी इस ग्रन्थ का समुचित आदर करेंगे और इस ग्रन्थ से लाभ उठावेंगे। आध्यात्मिक जिज्ञासु स्वामी जी के इस महान् कार्य के लिए आभारी हैं।

इस ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार हो, यही मंगल कामना है।

कल्पवृक्ष कार्यालय, उज्जैन
दिनांक ३ मार्च, सन् १९४९ } —डा० दुर्गाशंकर नागर

❀ ॐ श्री शिव शरणम् ❀

आमुख



परमगुरु श्री गौड़पादाचार्य महाराज का समस्त अजातवाद तथा भगवत्पाद श्री आद्य शंकराचार्य महाराज का समस्त विवर्तवाद दोनों को पर्यायभूत सिद्धान्त समझना सामान्य जनता की बुद्धि के लिए अगम्य है, इसलिये भगवत् पूज्यपाद महाराज ने उपासनादि द्वारा जनता की बुद्धि को विशद करने के लिये 'हरिमिडे' इत्यादि तत्तद्देवता के स्तोत्र बनाये। इन्हीं उत्तमोत्तम स्तोत्रों की पंक्ति में अग्रणीपद इस सौन्दर्यलहरी को ही प्राप्त है। दृश्यमान् जगत् की सत्यता जिनको प्रतीत होती है, ऐसी जनता के सद्बोध के लिये अध्यारोपापवाद-न्याय से अध्यारोप-समय में विवर्तवादी भगवत् पूज्यपाद को परिणामवाद मानना क्रमप्राप्त होने से सुसंगत ही है। इसी अध्यारोप दृष्टि से सौन्दर्यलहरी में सर्वजगत्पूज्य भगवती की प्रार्थना की गई है जिस से भगवती का प्रसाद मिलेगा। तदनन्तर केनोपनिषद्-वर्णित प्रकार से उपासक को सत्यज्ञान-लाभ होगा अर्थात् यह विवर्तवाद का ही परिणत स्वरूप है। विमर्शशाली विद्वानों को यह भली भांति विदित है कि जगद्गुरु के प्रादुर्भाव के समय में कादि, हादि उपासना तथा योगमार्ग यत्र-तत्र प्रचलित थे। उन्हीं को लेकर महाराज ने भगवती की प्रार्थना की है। यह क्रम उपनिषद्-

सम्मत है, क्यों कि छांदोग्यादि उपनिषदों में कर्मठों की सम्मत उद्गीथादि उपासनायें कही गई हैं। स्पष्टार्थ से केवल भगवती के अंग-प्रत्यंगों का वर्णन ही सौन्दर्यलहरी से प्रतीत होता है, परन्तु अभियुक्त टीकाकारों ने तंत्रशास्त्र तथा योग-शास्त्र की दृष्टि से उसका वर्णन किया है। ये सब टीकाएँ देववाणी संस्कृत में होने से प्राकृत जनता इनके अर्थों से वंचित रही। इस हेतु परम दयालु परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज ने इसका राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद किया। यह अनुवाद मानों तंत्रशास्त्र का सांगोपाङ्ग पदार्थ-परिचय है। अभी तक तंत्रशास्त्र-भाषा-भिज्ञ विद्वद्गण इस पदार्थपरिचय को परम गोपनीय कहकर मानों लोप करने में सहायक रहे! सौभाग्यवश भगवती की प्रेरणा से यह आवश्यक ज्ञान आप ने सामान्य जिज्ञासु जनता को परिचित कराया है; साथ-साथ योग-प्रक्रियाओं के विषय में भी यही बात सिद्ध है।

'श्रीमत् भगवत् पूज्यपाद को तंत्रोक्त समयाचार से शुद्ध सात्त्विक उपासना मात्र ही अभिप्रेत थी'—यह बात श्री स्वामी जी महाराज ने असंदिग्ध रीति से प्राक्कथन में बताई है, यह जानकर मुझे विशेष संतोष होता है। कतिपय प्रथितयश विद्वान् असदाचार निमित्त अपने ऊपर का दोष हटाने के लिए—'आद्य जगद्गुरु इस आचार से ही पूजा करते थे'—ऐसा कहकर सामान्य जनता को दिग्भ्रम किया करते हैं। उसका

मान्यवर श्री स्वामी जी जैसे अधिकारी व्यक्ति से खंडन हुआ है, यह परम संतोष की बात है।

ऐसा जटिल ग्रंथ जो विविध अर्थों से घटित है, उसकी व्याख्या करना दुर्गम है, तथापि लिखने में संतोष होता है कि इस में एक भी स्थल व्याकरण-विधुर नहीं है। सभी अर्थ पाणिनी व्याकरणानुसार सुसंगत ही हैं।

श्लोक ४१ में कथित महाताण्डव पर ग्रंथकार ने जो रूपक बताया है, उसे पढ़ने से कवि-हृदय का जो साहित्य-परिचय मिलता है, वह अतीव सराहनीय है। इस शिव-ताण्डव ने सचमुच सोने में सुगंध वाली कहावत चरितार्थ की है, यह परम समाधान की बात है।

अन्त में सर्वोपकारक ग्रंथकार का अभिनन्दन करके इस अल्प निवेदन का विराम करते हैं। इति शम् ॥

पूर्वाश्रमी:—

महामहोपाध्याय, वेदान्तवागीश	सर्वेषां विधेय:
श्री श्रीधरशास्त्री पाठक	शंकरानन्द भारती यति
डेक्कन कॉलेज, पूना।	मु० मोरटक्का, रेवातीर।



सौन्दर्यलहरी का सौन्दर्य-माधुर्य

सौन्दर्य-लहरी श्री भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य द्वारा रचित एक प्रासादिक स्तोत्र है जिसके पाठ से अनेक साधकों का महान् कल्याण हुआ है। श्री जगज्जननी आदिशक्ति महात्रिपुर सुन्दरी के प्रकाश से यह सकल चर-अचर प्रकाशित है। माँ की इस स्तुति से साधक-शिशुओं के हृदय में अपार शान्ति एवं अपूर्व तेज और ओज का दिव्य समावेश होता है—यह अनेकों का अनुभव है। उसी महान् मंगलमय स्तोत्र क श्रीमत्स्वामी श्री विष्णुतीर्थजी महाराज ने योगपरक अपूर्व व्याख्या की है जो ज्ञान-विज्ञान एवं व्यक्तिगत यौगिक अनुभूतियों से समवेत होने के कारण योग-साधकों के लिये अनमोल बन गई है। वेद, उपनिषद्, गीता, सप्तशती आदि ग्रंथों के प्रचुर उद्धरणों एवं प्रमाण से ग्रन्थ का एक-एक पृष्ठ परिपुष्ट है। पूर्वानुक्रमणिका के कारण यह अत्यन्त गहन एवं रहस्यपूर्ण विषय बहुत ही सरलता से संग्राह्य हो गया है। क्लिष्ट शब्दों के अर्थ, भावार्थ एवं संक्षिप्त टिप्पणी तथा विषय-विवेचन के विवरण से संपूर्ण ग्रंथ अपने आंतरिक सौन्दर्य-माधुर्य के साथ आस्वाद्य हो गया है। लेखक 'अनुभवी' व्यक्ति मालूम होते हैं, साधना के गुह्य पथ का आपको अनुभव है, वे उसके रहस्य और मर्म को भली भांति जानते-समझते हैं और समझाने की भाषा इतनी प्राञ्जल, मधुर एवं मोहक है कि ग्रंथ आरम्भ करने पर पूरा किये बिना रहा नहीं जाता। संपूर्ण ग्रंथ में योग का अंतरंग ज्ञान एवं अनुभव भरा हुआ है। मा भगवती के उपासकों के लिए तो यह अनमोल वस्तु है ही, सभी साधकों का इससे पथ-प्रदर्शन हो सकता है। ऐसी पुस्तक के लिये लेखक तथा प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

S. Sinha College,
Aurangabad (*Gaya*)

B. N. Madhava, M. A.,
PRINCIPAL
(सहकारी सम्पादक, कल्याण)



प्राक्कथन

सनातन वैदिक धर्म में ब्रह्मोपासना की विधि के निर्गुण-सगुण भेद से दो क्रम कहे जा सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म सत्-असत् से परे अक्षर, अविनाशी, अनिर्देश्य, अचिन्त्य, अव्यक्तस्वरूप है। वह सर्वव्यापक होने पर भी कूटस्थ, स्पन्दरहित अचल है, इन्द्रियों का वह विषय नहीं, मन की उस तक गति नहीं और बुद्धि की विवेक-शक्ति वहां तक पहुँचते-पहुँचते थक जाती है। एक मात्र निर्विकल्पावस्था में ही उसकी उपलब्धि होना संभव है। कहा है 'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' (पंचशिखाचार्य)। अव्यक्त स्वरूपा प्रकृति से भी अतीत वह परम अव्यक्त है।

'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।'

—गीता ८, २०

चेतन आत्मा की भी पराकाष्टा अर्थात् अन्तिम सीमा होने के कारण उसको परमात्मा कहते हैं। उसी को सर्वव्यापक होने से महाविष्णु, सर्वकल्याणमय होने से पर शिव, सर्वशक्तिमान् होने से शक्ति का ईश्वर, निरतिशय सर्वज्ञ होने से प्रज्ञानघन, परम सत्य होने से सत्यनारायण, सुखराशि होने से आनन्दकंद, सत्तात्म होने से सद्ब्रह्म, चेतन होने से चिद्ब्रह्म या चिन्मात्र चिति शक्ति कहते हैं। उसकी परम अव्यक्तता के कारण ही उसे बौद्धों ने शून्य निर्वाण पद कहा है। श्रीमद्भागवत् में भगवान् वासुदेव का परम सूक्ष्म रूप समझने के लिए उसकी शून्यवत् कल्पना करने का निर्देश किया गया है, यथा:—

'यत्तद्ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्यं शून्यकल्पितं।
भगवान् वासुदेवेति यं गृणन्ति हि सात्वताः॥'—६,६, ३०

इन्द्रियों एवं मन के संचालक, बुद्धि के प्रज्ञात्म-प्रकाश, प्राणों

के प्राण और प्रकाश को भी प्रकाश देने वाले ऐसे परम तत्त्व का ध्यान कैसे किया जा सकता है ? सामान्य जन की स्थूल चंचल बुद्धि वहां काम नहीं करती, इसलिये उसके व्यक्त होने वाले गुणों का ही ध्यानार्चन करना पड़ता है। वह ऐसा सूर्य है जिसको दृष्टि नहीं देख सकती। उसके तेज का ही ध्यान संभव होने के कारण, उस तेज के विभिन्न स्तरों पर चमकने वाली उसकी विभूतियों द्वारा ही उसका चिन्तन किया जाता है, यही सगुण उपासना कहलाती है। उससे उद्भूत तेजोमयी भ्राजमान शक्ति की व्यक्तता में ही उस सत्य को देखा जा सकता है। उसकी श्री को कोई प्रकृति, कोई माया, कोई उमा, कोई लक्ष्मी, कोई शक्ति, कोई प्रकृति कहते हैं। वह वैष्णवी माया चेतन प्राणियों की चेतना है, विश्व की कांतिमय श्री है, जगत् की धात्री और प्रतिष्ठा है। बुद्धि वह है तो निद्रा भी वही है, तृषा वह है तो तुष्टि भी वही है। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, दया के सात्त्विक भाव उसी की मन्द मुस्कान से विभूषित होने के कारण सदा विश्व का कल्याण करने के निमित्त अनुग्रह की वर्षा किया करते हैं।

इसलिये सगुण उपासना में शक्ति रूप से ब्रह्म की उपासना करने की प्रधानता सनातन धर्म में विशेष रूप से पाई जाती है। नास्तिक जड़ भौतिकवादी जन तो सब शक्ति की ही उपासना करते हैं, परन्तु उनकी उपासना अचेतनता के स्तर पर है, उसमें देव भाव न होने के कारण वह प्राणहीन उपासना है। सनातन धर्मावलम्बी भक्तगण चिति शक्ति के उपासक होते हैं और उनकी वह उपासना परब्रह्मतत्त्व की ही उपासना है। वैष्णवों के वृन्दावन की श्री राधा रानी, राम के मन्दिरों में सीता माता, शैवों की उपासना में उमा और शाक्तों की मां दुर्गा-काली शक्ति-उपासना की प्रथम प्रधानता के द्योतक हैं। शंकर भगवत्पाद ने सौन्दर्य-

लहरी में जगज्जननी उमा पार्वती की प्रार्थना के मिस सनातन धर्म के अतिरहस्यमय, गूढ़ और प्रभावशाली शक्ति-उपासना के उस साधनक्रम की विशद व्याख्या की है जो श्रीविद्या के नाम से प्रसिद्ध है। श्री विद्या की उपासना-पद्धति तंत्रों की आधारभूत पद्धति है जो योगियों में श्रीरूपा कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये गुरुपरंपरा से गुरु की शक्तिपात दीक्षा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। यह उपासना वैदिक काल से चली आ रही है, इस बात का अकाट्य प्रमाण यह है कि तैत्तिरीय आरण्यक की एक आख्यायिका में देखने को मिलता है कि पृश्नी नाम के ऋषियों ने श्रीचक्र के अर्चन द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का मूलाधार से सहस्रार में उत्थान करके योग-सिद्धि प्राप्त की थी और भास्करराय भी कादि विद्या की प्रधानता सिद्ध करने के प्रमाण में 'चत्वार ईं बिभर्ति क्षेमयन्तः' (ऋक्०, मं० ५, अ० ४, सू० ४७, मं० ४), इस शाङ्खायन श्रुति को उद्धृत करके अपने वरिवस्यारहस्य नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि इस ऋचा में चार 'ईं' से कादि पंचदशी मंत्र की ओर संकेत है। त्रिपुरतापिनी उपनिषद् में कादि पंचदशी का उद्धार गायत्री मंत्र, 'जातवेदसे सुनवाम' और 'त्र्यंबकं यजामहे' इत्यादि वेदमंत्रों के आधार पर किया गया है, अपिच त्रिपुरोपनिषद् में दोनों कादि हादि विद्याओं का स्पष्ट उल्लेख है। श्रीमच्छंकराचार्य को श्रीविद्या की दीक्षा योगीन्द्र श्रीमद्गोविन्दपादाचार्य से मिली थी। श्री श्री गोविन्दपादाचार्य को इस विद्या की दीक्षा श्री श्री गौड़पादाचार्य से मिली थी। श्री श्री गौड़पादाचार्य का लिखित सुभगोदय नामक ग्रन्थ, जो श्री विद्या का ग्रन्थ है, इस बात की पुष्टि करता है। श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने सुभगोदय की छाया पर ही सौन्दर्यलहरी के प्रथम ४१ श्लोकों की रचना की है।

प्रत्येक उपासना के बहि: और अन्तरंग दो भेद होते हैं। बहि-पूंजा की उपयोगिता उस समय तक ही रहती है जब तक कुण्ड-लिनी शक्ति का जागरण नहीं होता। तत्पश्चात् अन्त:साधना का आरम्भ होता है। इसी नियम के अनुसार श्रीविद्या की बहिरुपा-सना श्रीचक्र पर की जाती है और अन्तरुपासना के लिये देह में ही श्रीचक्र की भावना करने का विधान है। (देखें—भावनोपनि-षद् परिशिष्ट नं० ३)। देह में सुषुम्नापथ द्वारा कुण्डलिनी का उसके जागरणोपरान्त आरोह-अवरोह होने लगता है। श्रीचक्र पर अन्तर्भावनायुक्त बहिरुपासना करने से शक्ति के जागरण में सहायता मिलती है। श्रीचक्र का अर्चन-पूजन सब उपासना का कर्मकाण्ड रूपी स्थूल अंग है और शक्ति-जागरण के पश्चात् षट्चक्रवेध की क्रियाओं का योगपरक साधन धारणा, ध्यान, समाधि के अन्तरंग साधनों युक्त उसका सूक्ष्म अंग है। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण तक पहुँचा जाता है।

यद्यपि सौन्दर्यलहरी एक तांत्रिक ग्रन्थ है, तो भी वह श्रीमद्-भगवत्पाद शंकराचार्य का विरचित है, इस बात पर प्राचीन और अर्वाचीन सब विद्वानों का एक मत होने से यह विषय अधिक विवादास्पद नहीं है। श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद के लिखित अनेक देवी-देवताओं के स्तोत्र प्रसिद्ध हैं, परन्तु विद्वत्समाज का जितना ध्यान सौन्दर्यलहरी ने आकर्षित किया है और अब भी वह जितने मान से देखी जाती है, उतना कोई अन्य स्तोत्र नहीं। सौन्दर्यलहरी पर श्री अच्युतानन्द, पंडित अनन्त कृष्ण शास्त्री और लक्ष्मीधर जैसे विद्वानों की टीकाएं संस्कृत साहित्य में बड़े आदर से देखी जाती हैं। कलकत्ता हाईकोर्ट के प्रमुख न्यायाधीश सर जोन् वुड्रफ महोदय ने भी, - जो तांत्रिक संसार में आर्थर अवैलन के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनको तांत्रिक साहित्य का अन्वेषण, अध्ययन

और प्रकाशन करके पाश्चात्य जगत् का ध्यान इस ओर खींचने का श्रेय प्राप्त हैं,—सौन्दर्यलहरी के पूर्व भाग आनन्दलहरी पर एक संक्षिप्त अंग्रेजी टीका लिखी है। उक्त टीका के प्राक्कथन (preface) में जो मत प्रकट किया गया है, उसे हम पाठकों की जानकारी के लिये यहां नीचे देते हैं। तदनुसार बंगाल के प्रसन्न कुमार शास्त्री की ई० सन् १९०८ में प्रकाशित श्री शंकराचार्य ग्रंथावलि में सौन्दर्यलहरी को भी स्थान दिया गया है और वहां पाठकों का लक्ष्य महामहोपाध्याय शतीशचन्द्र विद्याभूषण के कलकत्ता रिव्यू के १९१५ जुलाई मास के अंक में प्रकाशित एक लेख की ओर भी कराया गया है। आप का कहना है कि सौन्दर्य लहरी की प्राचीनता तो इस बात से काफी निश्चय के साथ प्रमाणित है कि इस पर स्तोत्र-साहित्य में सबसे अधिक टीकायें मिलती हैं। यद्यपि यह बात उसके भगवत्पाद वि त्रित होने का प्रमाण तो नहीं कही जा सकती; परन्तु सारे भारतवर्ष में जो लगभग ३५ टीकायें इस स्तोत्र पर लिखी जा चुकी हैं, वे इस स्तोत्र के शंकर भगवत्पाद विरचित होने का बहुत बड़ा प्रमाण हैं, क्योंकि प्राय: सभी टीकाकारों का इस बात पर एक मत है कि यह स्तोत्र भगवत्पाद श्री शंकराचार्य का ही विरचित है। इन टीकाकारों में से जो प्राचीनतम हैं, वे असंदिग्ध रूप से सौन्दर्य-लहरी को भगवत्पाद की कृति ही सिद्ध करते हैं। कैवल्य शर्मा, जो उड़ीसा के नरेश प्रतापरुद्रदेव के राज्यकाल १५०४ से १५३२ तक में हुए कहे जाते हैं, अपनी टीका के प्रारम्भ में स्पष्ट लिखते हैं:—'भगवान् परमकारुणिकः शंकरावतारः श्री शंकराचार्यः शिव-शक्त्योरभेदं ज्ञापयितुं सकलप्रपंचसाक्षिण्याः ब्रह्माविनाभूतं चिच्छक्तेः स्तुतिद्वारा...' इत्यादि। कैवल्य शर्मा और उनके समकालीन लक्ष्मीधर एक मनोरमा संज्ञक ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं जो श्री

शिवादि गुरुपारम्पर्य संतमप्रदायानुसारी मुनीन्द्र श्री सच्चिदानन्दनाथ के शिष्य सहजानन्दनाथ विरचित है और श्री सच्चिदानन्दनाथ स्वामी का नाम श्रींगेरीमठ के आचार्यों की नामावलि में मिलता है (Vide Descriptive catalogue of Madras Mss., vol. XIX, P. 7606) और एक ऐसे व्यक्ति की टीका जो आदि शंकराचार्य के संप्रदाय से संबन्ध रखता है, सौन्दर्यलहरी के भगवत्पाद की कृति होने का अच्छा प्रमाण है। लक्ष्मीधर ने सुभगोदय व्याख्यान नाम के श्री शंकराचार्य विरचित एक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है जो श्री गौड़पादाचार्य विरचित सुभगोदय की टीका मालूम होती है। इस से यह स्पष्ट है कि शिवागम का तांत्रिक साहित्य श्री गौड़पादाचार्य के काल में भी बहुत प्रचलित था और श्री शंकराचार्य को गुरुपरम्परागत संप्रदायानुसार शाक्ति दीक्षा मिली थी। सुभगोदय का अर्थ 'सुभगा का उदय' अर्थात् 'कुण्डलिनी शक्ति का जागरण' किया जा सकता है। श्री शंकराचार्य विरचित 'प्रपंचसार संग्रह' तंत्र भी इस बात की पुष्टि करता है, जिस पर भगवत्पाद के शिष्य श्री पद्मपादाचार्य ने टोका लिखी है। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने अपनी ई० १४९३ में लिखित टीका में उसका उल्लेख किया है। इन प्रमाणों के होते हुए सब शंकाएं निरर्थक हैं। वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने भी प्रपंचसार संग्रह पर एक टीका लिखी है और वेदान्त कल्पतरु, अध्याय १, पाद ३, अधिकरण ८, सूत्र ३३ में भी प्रपंचसार संग्रह का उल्लेख मिलता है और वहां वह तंत्र शारीरक भाष्यकार श्री शंकर भगवत्पाद का लिखा हुआ बताया जाता है।

हमारी तो इन ऐतिहासिक समस्याओं में अधिक दिलचस्पी नहीं है, इसलिये इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि शारीरकमीमांसा-भाष्य के पढ़ने से यह बात स्पष्ट है कि शंकर भगवत्पाद

ने वेद-वेदान्तानुकूल स्मृत्युक्त सब योग और उपासनाओं को अंगीकार किया है और वेद-वेदान्त विरुद्ध सिद्धान्तों का परिहार किया है। इसलिये तांत्रिक योग-पद्धतियों और उपासनाओं को भी अपनाने में उनको आपत्ति नहीं हो सकती थी, जहां तक कि वे वेद-वेदान्त का समर्थन करने वाली हों। प्रपंचसार संग्रह एवं सौन्दर्यलहरी की सैद्धांतिक भूमिका श्रौत मार्ग के विपरीत नहीं है अपितु श्रौत सिद्धान्तों का समर्थन करती है। अन्ततः जबकि सभी प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का बहुमत इस बात के पक्ष में है कि सौन्दर्यलहरी भगवत्पाद की ही रचना है तो उसके विरुद्ध शंका उठाकर वाद-विवाद में पड़ना वांछनीय नहीं है।

इस सम्बन्ध में बहुधा एक शंका यह भी उठाई जाती है कि शंकर भगवत्पाद विवर्तवाद के प्रवर्तक थे, वे परिणामवाद के समर्थक कदापि नहीं बन सकते थे, परन्तु सौन्दर्यलहरी में स्पष्ट रूप से परिणामवाद का समर्थन किया गया है (देखें श्लोक १ और ३५)। इस शंका का उत्तर स्वयं भगवत्पाद ब्रह्मसूत्र (२, १, १४) के भाष्य की अंतिम पंक्ति में इन शब्दों में देते हैं—'अप्रत्याख्यायैव कार्य-प्रपंच परिणाम प्रक्रियां चाश्रयति सगुणेषु उपासनेषूपयोक्ष्यते इति।' अर्थात् कार्य प्रपंच को सिद्ध करने के लिये नहीं, वरन् सगुण उपासना के उपयोग के लिये सूत्रकार ने परिणामवाद का आश्रय लिया है। भगवत्पाद ने ब्रह्मसूत्रों में सर्वत्र सत्कारणवाद को सिद्ध करते समय जगत् को सत्शक्ति का परिणाम ही सिद्ध किया है। आगे चलकर ब्रह्मसूत्र (२,१,२४) के भाष्य की अन्तिम पंक्ति में भी वे इन शब्दों में उपसंहार करते हैं—'तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात्क्षीरादिवत् विचित्र परिणाम उपपद्यते।'

श्रीविद्या का प्रचार मद्रास प्रान्त में अधिक है। उत्तर भारत में उसका सर्वथा अभाव-सा प्रतीत होता है, यहां तक कि उत्तर भारत का विद्वत्समाज इस विद्या से अनभिज्ञ जान पड़ता है। इसलिये हमने सौन्दर्यलहरी पर हिन्दी जानने वालों के लाभार्थ हिन्दी में यह व्याख्या लिखने का साहस किया है। यद्यपि यह विषय प्रधानतया तान्त्रिक है, परन्तु हमने अपने विचारों की पुष्टि में उपनिषद्, गीता जैसे सर्वमान्य शास्त्रों का ही उद्धरण इस दृष्टि से दिया है कि तंत्रों का साहित्य वाममार्ग की कुत्सित प्रथाओं के कारण सामान्य जनता में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। परन्तु साथ ही हम पाठकों को यह भी बता देना उचित समझते हैं कि तंत्रोक्त समयाचार शुद्ध सात्विकी उपासना का मार्ग है और श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद की लेखनी से निकला हुआ यह स्तोत्र इस बात का सर्वोपरि प्रमाण है। श्रीभगवत्पाद का लिखित एक प्रपंचसार तंत्र भी मिलता है जिसे सैंट् अवैलन महोदय ने अपनी तंत्रागम ग्रन्थावलि में प्रकाशित किया है।

श्रीविद्या पर परशुराम कल्पसूत्र और उसके आधार पर संग्रहीत नित्योत्सव एवं भास्करराय का समस्त साहित्य पढ़ने योग्य है। कैवल्य शर्मा ने सौन्दर्यलहरी पर भाष्य लिखा है। संस्कृत जानने वाले विद्वानों को श्रीविद्या के रहस्यों को जानने के लिए उपरोक्त ग्रन्थ अवश्य पढ़ने चाहियें। श्रीविद्या के जिज्ञासुओं को त्रिपुरतापिनी, देवी, त्रिपुरा और भावनोपनिषद् भी देखने योग्य हैं। त्रिपुरा और भावनोपनिषदों को हम परिशिष्ट में दे रहे हैं।

अंग्रेजी में सौन्दर्यलहरी पर कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। ३ ग्रन्थ हमारे देखने में भी आये हैं। दि थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अडयर का प्रकाशित और पण्डित स० सुब्रह्मण्य शास्त्री

(F.T.S.) और ट० र० श्रीनिवास अयंगार (B. A., L. T.) की लिखित अंग्रेजी प्रति हमारे सामने है जिसको पढ़कर हमें यह ग्रन्थ हिन्दी में लिखने की प्रेरणा मिली। हम उक्त दोनों सज्जनों के अनुगृहीत हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थ से अनेक विषयों पर हमें पर्याप्त सहायता मिली है।

साथ ही मैं श्री स्वामी शंकरानन्द भारतीजी (जिनसे साहित्य-संसार महामहोपाध्याय वेदान्तवागीश श्री श्रीधर शास्त्री पाठक, प्रोफेसर डेक्कन कॉलेज, पूना के नाम से परिचित है), डा० दुर्गा-शंकर नागरजी (संस्थापक कल्पवृक्ष) उज्जयनी, श्री विनायकराव बापू वैशंपायनजी, देवास तथा श्री बी० एन० माधव का भी अनुग्रह प्रकट करना जरूरी समझता हूँ जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय प्रदान करके ग्रन्थ पर अपनी सहानुभूति एवं सम्मति प्रदान की है जो ग्रन्थ के पूर्व भाग में प्रकाशित हुई हैं।

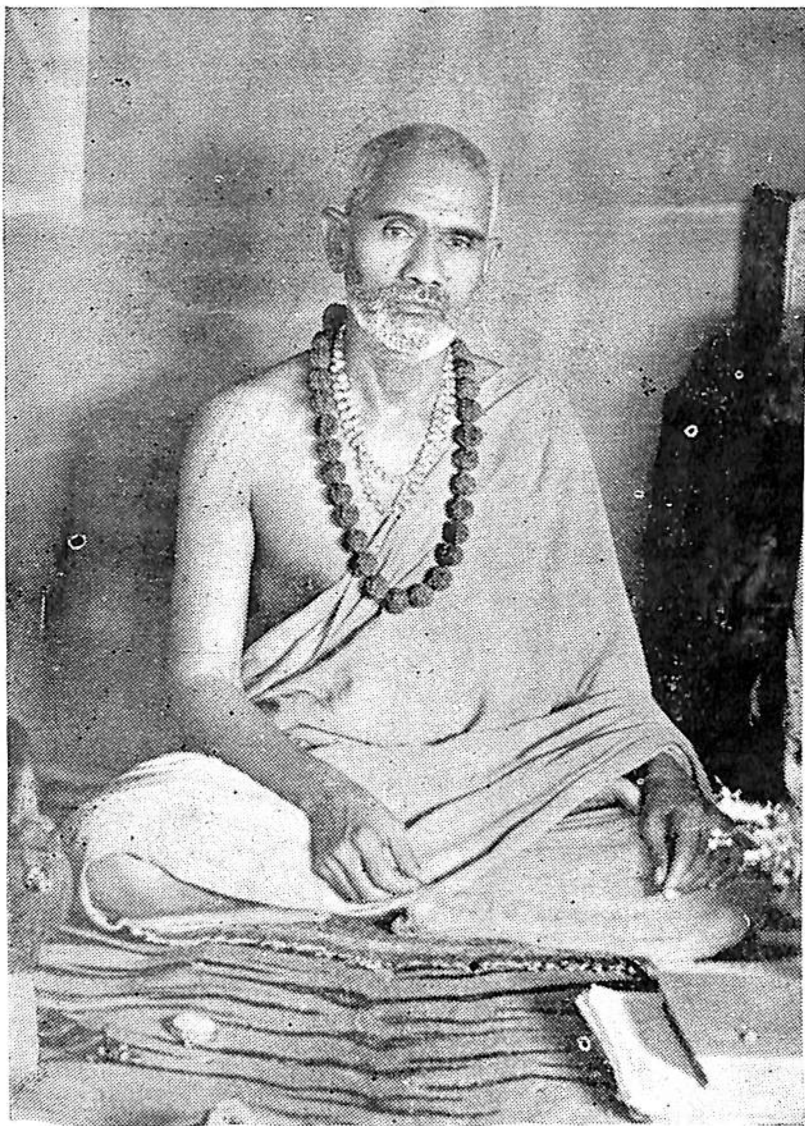
परिशिष्ट में नासदासीय ऋग्वेदीय सूक्त भी हिन्दी अनुवाद सहित दिया जा रहा है।

देवास (मध्य भारत)
सं० २००५

—विष्णुतीर्थ



लेखक—



श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

तृतीय संस्करण के विषय में



प्रथम, द्वितीय संस्करण की समाप्ति और प्रतिदिन की अधिक मांगों से, नास्तिकता के इस युग में भी सौन्दर्यलहरी के प्रेमी भक्तों की श्रद्धायुक्त वृत्ति देखकर, हमारा उत्साह बढ़ा। अतः हम फिर पाठकों के समक्ष तीसरा संस्करण उपस्थित कर रहे हैं। इस में द्वितीय संस्करण की अशुद्धियों को तो दूर किया ही गया है, साथ ही आवश्यक विषयों पर अधिक स्पष्टीकरण भी दिया गया है। विषय अति गहन है, कहां तक लिखा जाय। आशा है इतने से ही पाठकों को श्री-विद्या एवं कुण्डलिनी विषयक अन्य साहित्य का स्वाध्याय करने की प्रेरणा देने के लिये हमारा यह तुच्छ प्रयास अवश्य पर्याप्त होगा।

देवास, —स्वामी विष्णुतीर्थ

दिनाङ्क ७–७–५८



सांकेतिक चिन्ह

गी०, गीता	=	श्रीमद्भगवत् गीता
यो० द०	=	योगदर्शन
वृ०, वृह०	=	वृहदारण्यक उपनिषद्
क०, कठ०	=	कठोपनिषद्
प्र०, प्रश्न०	=	प्रश्नोपनिषद्
दु० स०	=	दुर्गा सप्तशती
मु०	=	मुण्डकोपनिषद्
छा०	=	छान्दोग्योपनिषद्
ऐत०	=	ऐतरेय उपनिषद्
श्वे०	=	श्वेताश्वतर उपनिषद्
ब्र०, ब्र० सू०	=	ब्रह्म सूत्र
ऐ० आ०	=	ऐतरीय आरण्यक
यो० शि०	=	योगशिखोपनिषद्
शा० ति०	=	शारदा तिलक
ऋक्०	=	ऋग्वेद
तै०	=	तैत्तिरीयोपनिषद्
ना०	=	नारायणोपनिषद्
ल० स०	=	ललिता सहस्रनाम
सौं० ल०	=	सौन्दर्य लहरी

मूल श्लोकों में ब्रैकिट के अन्दर दिया गया अंश पाठान्तर है।

विषयानुक्रमणिका

विषय | पृष्ठाङ्क

सौन्दर्यलहरी (उत्तरार्ध)

परिशिष्ट—१ से ४ तक

* श्रीः *

आनन्दलहरी

आदौ गणपतिं नत्वा, नत्वा शिवं जगद्गुरुम् ।
आचार्य शंकरं नत्वा भजे त्रिपुरसुन्दरीम् ॥

सौन्दर्यलहरी १०३ श्लोकों का एक बृहत् स्तोत्र है जो श्री १००८ आदि शंकराचार्य शंकर भगवत्पाद का विरचित है। इस स्तोत्र में भगवती की स्तुति की गई है। कविता और साहित्य की दृष्टि से भी इसका स्थान ऊंचा है। परन्तु विवर्तवाद के प्रवर्तक की लेखनी से निकला हुआ यह स्तोत्र तांत्रिक उपासना के रहस्यों पर प्रकाश डालता है और साथ ही प्रक्रियात्मक योगसाधन की आवश्यकता सिद्ध करता है, इसलिये साधकों के लिए इसका विशेष महत्व है। सौन्दर्यलहरी की विशेषता इस बात में है कि केनोपनिषद् की बहुशोभमाना उमा हैमवती अथवा पुराणों की उमा हिमशैल-सुता पार्वती के मानुषी स्त्री रूप को सामने रखते हुए भी उसे सृष्टि की आदिकारणभूता शक्ति, योगियों की षट्चक्राधिष्ठात्री कुण्डलिनी शक्ति, तांत्रिक श्रीचक्रस्थ श्रीविद्या की अधिदेवता महात्रिपुरसुन्दरी और सकल ब्रह्माण्ड में स्थूल रूप से स्वयं व्यक्त होने वाली विराट अधिभूता शक्ति का, निर्गुण ब्रह्म की सत-चित्-आनन्द से अभिव्यक्त होने वाली चिति अर्थात् चिन्मयी शक्ति के साथ समन्वय करके अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन

किया गया है । स्थूल बहिर्दृष्टि रखने वाले उपासकों का उपास्यदेव बहुधा किसी-न-किसी रूप में व्यक्तित्व की भावना की प्रधानता लिये होता है, परन्तु एक दार्शनिक का दृष्टिकोण, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों पर अपना लक्ष्य रखता है, उपासक के मूर्तिमान् एकदेशीय, व्यक्तिमापन्न, रूप से सन्तुष्ट नहीं होता, वह सदा दोनों का समन्वय करने का यत्न किया करता है । जैसा कि श्री भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (गीता ७,२४)

अर्थ:—बुद्धिहीन मनुष्य मुझ अव्यक्त को व्यक्तिमापन्न मानते हैं, क्योंकि वे मेरे उत्तम अव्यय परं भाव को नहीं जानते ।

शिव-शक्ति

सौन्दर्यलहरी को पढ़ने से यह बात स्पष्ट दीखने लगती है कि यद्यपि ब्रह्म अक्षर है अर्थात् उसमें कभी किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता, वह अपरिणामी, अव्यय, अविनाशी है, परन्तु जगत् के सृष्टि-स्थिति-संहार का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण भी है, इसलिये वह सर्वशक्तिमान् है । शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं कही जा सकती और न वह शक्तिमान् से पृथक् ही हो सकती है, यद्यपि सब कर्म शक्ति की ही क्रिया से सम्पादित होते हैं । अर्थात् शक्ति ही सारे जगत् का कारण है, तो भी शक्तिमान् की शक्ति शक्तिमान् की इच्छा के ही अधीन कार्य करती है । स्वतन्त्र रूप से उसकी

कोई सत्ता नहीं होती। या यों कहें कि शक्तिमान् की इच्छा ही शक्ति है। परन्तु वह उसका अङ्ग भी नहीं कही जा सकती अर्थात् दोनों में अंग-अंगी का सम्बन्ध नहीं है। दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं कहा जा सकता। जो भिन्नता दीख पड़ती है, वह सर्वथा व्यावहारिक ही है। पहिले शक्तिमान् में इच्छा अथवा संकल्प के रूप में उसका उदय होता है, फिर वह क्रिया और ज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान के रूपों में अभिव्यक्त होने परे भी शक्ति एक ही है और शक्तिमान का परिणाम अथवा विकार नहीं है क्योंकि ब्रह्म अपरिणामी है। श्वेताश्वतरोपनिषत् का कथन है कि ब्रह्मवादियों के समाज में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हम कहाँ पैदा हुये, हम किसके आधार पर जीवित और प्रतिष्ठित हैं और किसके कारण सुख-दुःख के चक्कर में पड़े हैं? उन्होंने ध्यान योग द्वारा देखा कि सब का कारण एक शक्ति ही है, जड़ नहीं वरन् देवात्मिका चेतन शक्ति है—'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।' यह हम कह चुके हैं कि शक्ति शक्तिमान् की ही इच्छा के परतन्त्र है अथवा वह शक्तिमान् की इच्छा की ही अभिव्यक्ति है। ब्रह्मसूत्र, अध्याय १, पाद ४, सूत्र ३—"तदधीनत्वादर्थवत्" के भाष्य में शंकर भगवत्पाद कहते हैं:—

"परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न

स्वतंत्रा । अर्थवती हि सा-नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।'

अर्थ—हम तो जगत् की प्रागवस्था परमेश्वर के अधीन मानते हैं, न कि स्वतन्त्र । क्योंकि वह अर्थवती अर्थात् सार्थक है, इसके बिना तो परमेश्वर का सृष्टि करना भी सिद्ध नहीं होता, शक्ति-रहित परमेश्वर में प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण।

शक्ति का लहरी रूप

इस स्तोत्र के प्रथम ४१ श्लोकों का पूर्वार्द्ध आनन्दलहरी और पूरा स्तोत्र सौन्दर्यलहरी के नाम से विख्यात है। आनन्दलहरी से अध्यात्म और सौन्दर्यलहरी से भौतिक विराट् पक्ष समझना चाहिये। ब्रह्म की सत् शक्ति के आधार पर भौतिक सृष्टि की प्रतीति होती है और सच्चित (सत्+चित्) शक्ति के आधार पर चेतन जगत् की। ब्रह्म का आनन्दस्वरूप सत् शक्ति में प्रियता अर्थात् सौन्दर्य का भाव जागृत करता है और चेतन स्तर पर आत्मानन्द का। आनन्द की लहरियों का अनुभव मानसिक एवं बौद्धिक है ही, जड़-चेतन नाम-रूपात्मक पदार्थों का सौन्दर्य भी लहरियों की ही रचना है, यह बात सर्वसाधारण की समझ नहीं आती। परन्तु वास्तव में है ऐसा ही। श्रुति का वचन है कि—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। (कठ० ६, २)

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां······· । (प्र० ६, ४)

अर्थात् सारा विश्व आदि शक्ति प्राण के स्पन्दन का परिणाम है। आधुनिक भौतिक विज्ञान की Wave Theory भी इस बात का समर्थन करती है।

हमारे एक परिचित महात्मा ने कहा कि एक लड़के पर भगवती के आवेश का प्रादुर्भाव होता है। उन्होंने आवेश की अवस्था में पूछा कि हे भगवती! आपका स्वरूप क्या है? उत्तर मिला कि हम आदिशक्ति की लहरी हैं और सारा विश्व भी उसकी लहरियों से निर्मित है। अर्थात् यहां सच्चिदानन्द की शक्ति की लहरियों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

जबकि शक्ति की शक्तिमान् से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं, तो शक्ति की महिमा का स्तवन करना शक्तिमान् का ही गुणगान करना है। किसी मनुष्य की वीरता अथवा कला-कौशल की बड़ाई करने से उस मनुष्य की ही बड़ाई समझी जाती है। इसी प्रकार आदिशक्ति की उपासना, पूजन, स्तवन आदि भी परमात्मा की ही उपासना, पूजन अथवा स्तवन है।

प्रयोजन

प्रत्येक ग्रंथ में चार अंग हुआ करते हैं—प्रयोजन, विषय, उपाय और सम्बन्ध। पाठक को किसी भी ग्रंथ के स्वाध्ययन से पहले यह जानना आवश्यक है कि ग्रंथकार का इस ग्रंथ के लिखने में क्या प्रयोजन है, उसका विषय क्या है, अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए ग्रंथकार ने क्या-क्या उपाय अथवा साधन बताये हैं और अन्त में यह भी

जानना आवश्यक है कि इन तीनों का परस्पर क्या सम्बन्ध है?

श्रीमच्छङ्कर भगवतपाद का किसी भी ग्रंथ के लिखने में मोक्ष के एक मात्र साधन तत्त्वज्ञान की अपरोक्षानुभूति की उपलब्धि के सिवाय दूसरा अन्य प्रयोजन नहीं हो सकता, विषय चाहे कुछ भी क्यों न हो। सौन्दर्यलहरी का विषय भगवती का स्तवन है। स्तुति मनन का एक साधन है जिससे तत्त्वदर्शन और तत्त्वदर्शन से अपरोक्ष ज्ञान होता है। कोई शंका करे कि योग और उपासना कर्म-कांड के विषय हैं और कर्म का फल ज्ञान नहीं होता, उनको यह समझना जरूरी है कि योग अथवा उपासना के बहिरंग और अन्तरंग दो स्तर होते हैं। बहिरंग क्रियायें कर्मप्रधान हुआ करती हैं जिनका प्रयोजन मन को परमार्थ की ओर आकर्षित करना मात्र है। जैसे बालक की पढ़ने की रुचि बढ़ाने के लिए पहिले उसे खिलौनों के विचित्र खेलों द्वारा kindergarten की आधुनिक पद्धति के अनुसार खेल में ही प्रवृत्त किया जाता है। उपासना का बाह्य कर्म-कांड ज्ञान का कारण नहीं, परन्तु उपासना के समय उपासक का चित्त भावना से युक्त होता है। भावना रहित उपासना प्राणहीन समझनी चाहिये। भावना और ध्यान ही उपासना और योग के बाह्य कर्माडम्बर रूपी स्थूल शरीर में प्राण का काम करते हैं।

तज्जपस्तदर्थ भावनम्। (यो० द० १, २८)

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च। (यो० द० १, २९)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। (गी० १३, २४)

भगवान् का अनन्य, तैलधाराप्रवाहवत् अनवच्छिन्न चिन्तन अथवा योग का "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचदपि चिंतयेत्" साधन वेदान्त का निदिध्यासन ही है। जीवब्रह्मैक्यज्ञान तो वाणी से कथन मात्र का ज्ञान अथवा बुद्धि की समझ का परोक्ष ज्ञान नहीं, वह तो ध्यान की वह भूमिका है जिस पर आरूढ़ होने पर जीव की अहं वृत्ति में देहाभिमान की वृत्ति तनु होकर ब्राह्मी वृत्ति बढ़ने लगती है, अहंकार को भगवान् के चरणों में समर्पण करके मन उपास्य देव से तल्लीनता प्राप्त कर लेता है। ऐसे दृढ़ भावनायुक्त ध्यान अथवा अनन्यचिन्तन का फल ही तत्त्वदर्शन है। उपासना के अन्तरंग स्तरों पर प्रगति होने के साथ-साथ बाह्य कर्म-कांड का आडम्बर स्वयं छूटने लगता है।

यस्त्वात्मरति रेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गीता ३, १७)

सौन्दर्यलहरी का विषय तो भगवती का स्तवन ही है, परन्तु उसकी शैली ऐसी है कि स्तुति के बहाने प्रथम ४१ श्लोकों में श्री विद्या के रहस्य, हादि-कादि विद्या का उद्धरण, षट्-चक्रवेध का प्रकरण, ग्रंथित्रय का वर्णन इत्यादि साधनोपायों का दिग्दर्शन करा कर जीव-ब्रह्म की एकता पर साधक का लक्ष्य कराया गया है। उक्त साधन-क्रम को तीन स्तरों में बांटा जाता है जिनकी दीक्षा के लिये किसी समर्थ गुरु की

शरण लेनी पड़ती है, क्योंकि साधन का रहस्य पुस्तकों के पढ़ने से नहीं मिलता । वह गुरुकृपा का ही विषय है और गुरु की कृपा ही दीक्षा तत्व है—

दीयते शिवसायुज्यं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
अतो दीक्षेति कथिता बुधैः सच्छास्त्रवेदिभिः ॥

दीक्षा

दीक्षा ३ प्रकार की होती है—आणवी, शाक्ति और शांभवी । प्रथम आणवी दीक्षा में मंत्र-दीक्षा द्वारा श्रीचक्र के पूजन सहित कादि-हादि विद्याओं में प्रवेश कराकर, बहिर्पूजन में, जो कर्मप्रधान है, साधक को दीक्षित किया जाता है । अन्तिम दोनों दीक्षाएं वेध दीक्षाएं कहलाती हैं जिनमें गुरु शिष्य पर शक्तिपात करके शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर देता है । शक्ति दीक्षा में षट् चक्र के वेध द्वारा ग्रंथित्रय अर्थात् रुद्रग्रंथि, विष्णुग्रंथि और ब्रह्मग्रंथि का वेध किया जाता है । इसीलिए इसको वेध-दीक्षा कहते हैं । अन्तिम शांभवी दीक्षा में, जो तीव्रतम दीक्षा है, जीव-ब्रह्मैकत्व ज्ञान का प्रस्फुटन होता है, इसीलिये इसको महावेध दीक्षा कहते हैं ।

शक्तिपात

यह ऊपर कहा जा चुका है कि उपरोक्त दीक्षाएं गुरु के शक्तिपात रूपी अनुग्रह के द्वारा ही संपादित होती हैं । शक्तिपात दीक्षा में गुरु अधिकारी जिज्ञासु को स्पर्श, अव-

लोकन, मंत्र देकर वाणी द्वारा अथवा संकल्प मात्र से अनुगृहीत करता है। यदि शिष्य अपने को अनुगृहीत अनुभव न करे तो दीक्षा का होना न होने के तुल्य समझना चाहिये।

श्रीमच्छङ्कराचार्य ने सौंदर्यलहरी जैसा ग्रंथ लिखकर मानव-समाज पर बड़ी कृपा की है क्योंकि केवल वाचक ज्ञानियों को यह बताना अत्यावश्यक है कि गुरु के शक्तिपात रूपी अनुग्रह बिना जीवब्रह्मैक्य ज्ञान का होना दुर्लभ ही नहीं, असंभव है। कहा है :—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

नहीं तो क्या आश्चर्य-अत्याश्चर्य नहीं है कि ब्रह्म-सूत्रों के भाष्यकार एक ऐसे विषय को इतनी महानता दें जो वेदांत की परिपाटी से सर्वथा असंगत हो। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए हम नीचे श्री वासुदेव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती जी के 'ब्रह्मणिका' नामक पुस्तक से संगृहीत निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं :—

तत्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।
ज्ञानं वेदांतवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम्॥
तच्च देवप्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात्।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्॥

अर्थ :—तत्वज्ञान से ही माया का बाध होता है, अन्य कर्म से नहीं। जो ज्ञान वेदान्त के महा वाक्यों द्वारा ब्रह्म और

जीवात्मा के एकत्व की अनुभूति कराता है, वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद से और गुरु के साक्षात् निरीक्षण अथवा वचन से शक्तिपात द्वारा अधिकारियों में प्रकाशित होता है। गीता में भगवान ने कहा हैः—

"तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति" – गीता ४,३८

अर्थः— वह (ज्ञान) स्वयं योगसिद्ध को यथासमय अपने अन्तर में ही मिलता है।

पांच प्रकार का भ्रम और तीन प्रकार का मल

अज्ञान से उत्पन्न होने वाला भ्रम पांच प्रकार का होता है—

जीवेश्वरौ भिन्नरूपाविति प्राथमिको भ्रमः,
आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा द्वितीयकः,
शरीरत्रय-संयुक्तजीवः संगी तृतीयकः,
जगत्कारणरूपस्य विकारित्वं चतुर्थकः,
कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वं पंचमो भ्रमः।

(अन्नपूर्णोपनिषत्)

जीव-ब्रह्म का भेद पहला भ्रम है। आत्मा में कर्त्ता-भोक्ता-पन वास्तविक है या नहीं, यह दूसरा भ्रम है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों के संयोग से इतरेतर अध्यास के कारण आत्मा संगी हो गया है, यह तीसरा भ्रम है। प्रथम माया-मल, दूसरा कर्ता-मल और तीसरा आणव-मल कह-लाता है। चौथा और पांचवाँ दोनों भ्रम जगत् और उसके

अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म सम्बन्धी हैं। पहिला भ्रम जगत् के कारणस्वरूप अपरिणामी ब्रह्म तत्व में विकारीपन की प्रतीति कराता है और दूसरा कारण और कार्य में भेद-बुद्धि उत्पन्न करता है। माया-मल और आणव-मल की निवृत्ति कुण्डलिनी शक्ति के जागरणोपरांत षट्चक्र-वेध द्वारा तत्त्वशुद्धि होने पर होती है। तत्त्व ३६ हैं जिनका वर्णन आगे आवेगा। उनमें पांच शुद्ध तत्त्व; सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व और चौबीस अशुद्ध तत्त्व होते हैं। प्रथम पांच शुद्ध तत्त्वों को छोड़-कर शुद्धि शेष इकत्तीस तत्त्वों की होती है। अनात्म तत्त्वों में आत्मभावना के न रहने पर उन तत्त्वों की शुद्धि कहलाती है।

चौथे भ्रम की निवृत्ति जगत् को सत् शक्ति का परिणाम जानकर ब्रह्म के विकार-रहित सिद्ध होने पर होती है और पांचवें भ्रम की निवृत्ति शक्ति में ब्रह्म-दृष्टि होने पर होती है।

तत्त्व-शुद्धि

अनात्म तत्त्वों में से आत्माध्यास की निवृत्ति होना अर्थात् पंचकोषों के विभिन्न स्तरों पर से आत्म-भावना रूपी तादा-त्म्य को नष्ट करना ही तत्त्व शुद्धि कहलाती है, जैसा कि 'तैत्तिरीयोपनिषत्' के आठवें अनुवाक में कहा है कि इस लोक से प्रयाण करते समय अपने आत्म-स्वरूप को जैसा बताया गया है, वैसा जानने वाला मनुष्य इस आत्मा को अन्नमय कोष से निकालता है, इस आत्मा को प्राणमय कोष से निकालता है, इस आत्मा को मनोमय कोष से निकालता है,

इस आत्मा को विज्ञानमय कोष से निकालता है, इस आत्मा को आनन्दमय कोष से निकालता है। आनन्द ब्रह्म को जानने वाला,—जहां से मन सहित वाणी बिना उसे प्राप्त किये लौट आती है,—किसी से भी भय नहीं खाता अर्थात् वह निर्भय ब्रह्म पद को प्राप्त हो जाता है।

अन्नमय कोष पांच महाभूतों से बना है, इसलिये उससे निकालने के लिये क्रमशः पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और आकाश के ५ स्तरों से आत्मा को हटाना पड़ेगा। उक्त तत्त्व भी अपने-अपने स्तर पर अन्य तत्त्वों के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। पृथ्वी में ५६, जल में ५२, अग्नि में ६२, वायु में ५४ और आकाश में ७२ किरणें होती हैं जिनका सम्बन्ध तत्त्वों और मातृकाओं से है। फिर उनके उतने ही अधिदेवता होते हैं। आत्मा का सबसे सम्बन्ध है। उसको सबसे पृथक् करना होता है (देखें श्लोक १४)। इसी प्रकार प्राणमय कोष के भी पांच स्तर हैं, उनके नाम प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान हैं, जिनके द्वारा अन्नमय कोष के अभ्यन्तर व्यापारों की सब क्रियाएं होती हैं। ये क्रियाएं पांचों महाभूतों से सम्बन्धित होने के कारण पांच प्रकार की हैं। अभ्यन्तर क्रियाएं श्वास-प्रश्वास, पाचन, रस का सातों धातुओं में वितरण और उनका निर्माण, निकम्मे पदार्थों का मल-मूत्र-स्वेद आदि से रेचन और शरीर को धारण करने इत्यादि की क्रियाएं हैं। मनोमय कोष में भी पांचों भूतों से सम्बन्धित ५ व्यापार हैं और उनकी ६४

किरणें हैं (देखें श्लोक १४)। वे हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और वाक् शक्ति की कर्मेंद्रियों की क्रियाएं हैं। विज्ञानमय कोष के भी ५ स्तर हैं, वे भी पांचों महाभूतों से सम्बन्धित ५ ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं। चारों कोषों का अन्वय-व्यतिरेक द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध है। आनन्दमय कोष के तीन गुणों के अनुरूप सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन स्तर हैं जिनका भेद जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में देखने में आता है।

उपरोक्त पांचों कोषों और उनके व्यापारों से तादात्म्य करके आत्मा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, शोक, मोह के जाल में पड़ा है। इस तादात्म्य का कारण माया अथवा अविद्या का तम है। अविद्या का यही रूप है कि अनात्म तत्त्वों में आत्मभाव, उनकी अनित्यता में नित्यत्व का भाव, उनके अपवित्र संघातों में पवित्रता का भाव और उन पर पड़ने वाली आत्मा के ही आनन्द की छाया की तारतम्यता से अनुभव में आने वाले दुःखों में सुख का भाव अर्थात् सर्वथा विपरीतता का आभास उत्पन्न हो जाता है। इसलिये इसे तम कहते हैं। अष्टधा प्रकृति में आत्मभाव होने के कारण यह तम भी आठ प्रकार का है। अणिमादि आठ सिद्धियों के लिये उनका आश्रय लेकर अभिमान करना अथवा उनमें फंसकर अहंकार करना आठ प्रकार का मोह है। उक्त आठों सिद्धियों और शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्धात्मक दिव्य और सामान्य १० विषयों की आसक्ति १८ प्रकार

का महामोह कहलाता है। फिर उनके प्रतिबन्धकों से द्वेष करना १८ प्रकार का तामिस्र है, और उनके भोगने के साधनरूप देह के सदा बने रहने की वृथा इच्छा करना १८ प्रकार का अन्ध तामिस्र कहलाता है। यह सब अविद्या की फसल है। इससे निवृत्ति पाने पर तत्त्वों की शुद्धि कही जाती है।

विरजा हवन के मंत्रों द्वारा बहिर्यज्ञ करके तत्त्वशुद्धि की जो भावना की जाती है, अन्तर्याग द्वारा ही उसकी उपलब्धि होना शक्य है, जो योग और उपासना का अंग होने के कारण अन्तःसाधन से सम्पादित होती है।

विरजा हवन के मंत्र नीचे दिये जाते हैं:—

१ प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्तां ज्योतिरहंविरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा।

२ वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रजिह्वा-
घ्राणरेतो बुद्ध्याकूर्ति संकल्पा ” ”

३ त्वक्चर्ममांसरुधिर-
मेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि ” ”

४ शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूदर-
जङ्घशिश्नोपस्थ पायवो ” ”

५ उत्तिष्ठ पुरुष हरित पिंङ्गला-
लोहिताक्ष देहि २ ददापयिता ” ”

६ पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशाः ” ”

७ शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ” ”

८ मनोवाक्कायकर्माणि ” ”

९ अव्यक्तभावैरहंकारैः ज्योतिरहं इत्यादि	मे शुध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासं स्वाहा।	
१० आत्मा	"	"
११ अन्तरात्मा	"	"
१२ परमात्मा	"	"
१३ अन्नमयप्राणमयमनोमय-	"	"
विज्ञानमयमानन्दमयमात्मा।	"	"

प्राणायाम द्वारा भी भूतशुद्धि की जाती है, परन्तु वह भी भावनाप्रधान ही है। उसकी विधि इस प्रकार हैः—

१. पिंगला से पूरक करे और हँ बीज के जप सहित यह भावना करे कि मूलाधार से जीवात्मा को सुषुम्ना पथ द्वारा ब्रह्मरंध्र में ले जाकर उसका परम शिव से योग कर रहा हूँ, फिर कुम्भक करके इडा से रेचक कर दे।

२. इडा से पूरक करके यं बीज के जप सहित यह भावना करे कि शरीर सूख गया है और पिंगला से रेचक कर दे।

३. पिंगला से पूरक करके रं बीज के जप सहित यह भावना करे कि शरीर भस्म हो गया है, कुम्भक करके इडा से रेचक करे।

४. इडा से पूरक करके वं बीज सहित यह भावना करे कि सहस्रार से अमृतस्राव हो रहा है, फिर कुम्भक करके पिंगला

से रेचक कर दे। वं बीज के जप सहित यह प्राणायाम करना चाहिये।

५. पिंगला से पूरक करे और लं बीज के जप सहित यह भावना करे कि दिव्य देह उत्पन्न हो गया है। लं बीज के सहित कुम्भक करके इडा से रेचक कर दे।

६. इडा से पूरक करे और यह भावना करे कि शिव से एकीभूत जीव पुनः मूलाधार में उतर आया है। 'हंसः सोहं' के जप सहित यह प्राणायाम करना चाहिये।

ज्ञान के पूर्व योग और उपासना की आवश्यकता

आधुनिक वेदान्तवादियों में प्रायः देखने में आता है कि वे योग और उपासना की अवहेलना करते हैं और केवल महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन मात्र अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिये पर्याप्त समझते हैं। उनके मतानुसार योग, उपासना में समय नष्ट करना वृथा है, क्योंकि वे ज्ञान के साधन नहीं होते। ज्ञान महावाक्यज ज्ञान ही है और उसकी उपलब्धि महावाक्यों के विचार द्वारा हो सकती है। परन्तु शास्त्रों के अवलोकन से उनकी यह धारणा भ्रमात्मक सिद्ध होती है। यह बात तो सत्य है कि महावाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का उदय होगा। परन्तु श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अधिकारी वे ही लोग हैं जिनके कषाय परिपक्व हो चुके हैं। यह बात वह भूल

जाते हैं कि कषाय परिपक्व होने के लिये योग और उपासना ही अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" ब्रह्मसूत्र के इस प्रथम सूत्र के भाष्य में 'अथ' शब्द पर भाष्यकार श्रीमच्छंकर भगवत्पाद लिखते हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा के उपदेश के पहले कुछ भी साधन तो आवश्यक होना चाहिये, जो 'अथ' शब्द से निर्दिष्ट है। वह क्या है ? वह है नित्यानित्यविवेक, इह और परलोक के भोगों से वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान की षट्सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। इस साधनचतुष्टय के पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अधिकार प्राप्त होता है। "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" योगदर्शन के इस सूत्र में भी विवेक और वराग्य दोनों का सर्वप्रथम स्थान है। इस सूत्र पर व्यास-भाष्य पढ़ने योग्य है, वहां नित्यानित्य विवेक को ही अभ्यास बताया गया है। शम अर्थात् मनोनिरोध के लिये अभ्यास और वैराग्य दोनों प्रथम साधन हैं। भगवान् ने भी गीता में ऐसा ही उपदेश किया है:—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"—गीता ६, ३५

अभ्यास और वैराग्य के साथ-साथ ईश्वर प्रणिधान भी आवश्यक है। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' सूत्र में ईश्वर-प्रणिधान को मनोनिरोध का दूसरा मुख्य साधन कहा है। इसलिये योग के साथ उपासना की भी आवश्यकता होती है। योगदर्शन में ईश्वर प्रणिधान का उपदेश तीन स्थानों पर किया गया है और उनका फल भी भिन्न बताया गया है। प्रथम 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा'

इस सूत्र में अभ्यास-वैराग्य के साथ ईश्वर-प्रणिधान का फल मनोनिरोध रूपी शम है। दूसरे स्थान पर "तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः" (२,१) में तप और स्वाध्याय के साथ ईश्वर-प्रणिधान का फल समाधि के लिये भूमिका तैयार करना है और अविद्या आदि क्लेशों को तनु करना है। तीसरी जगह 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः' में ईश्वर-प्रणिधान के पूर्व तप और स्वाध्याय के साथ शौच और सन्तोष और बढ़ा दिये गये हैं, जिनसे युक्त ईश्वर-प्रणिधान का फल समाधि की सिद्धि है–'समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्'। दम इन्द्रिय निग्रह को कहते हैं। उपरति का अर्थ विषयों से हटकर वृत्ति का अन्तर्मुखी होना है, जिसको प्रत्याहार कहते हैं। ये अष्टांग योग का पांचवां अंग है। उपरति के साथ सुख-दुःख में सम रहने का साधन तितिक्षा कहलाता है। गुरु और शास्त्रों में श्रद्धा सहित मन की स्वाभाविक एकाग्र अवस्था का उदय होना समाधान कहलाता है। इनके पश्चात् मोक्ष की इच्छा होती है। तब ब्रह्मजिज्ञासा की क्षुधा लगने पर साधक महावाक्यों के श्रवण का अधिकारी बनता है। 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृह० ४,४,२३)- इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म-जिज्ञासा के लिये उपरोक्त षट्सम्पत्ति की आवश्यकता बताई गई है, जिसका फल आत्म-दर्शन है। और आत्म-दर्शन के पश्चात् ब्रह्म-जिज्ञासा उत्पन्न होती है, यह बात नीचे दी हुई श्रुति से स्पष्ट हो जाती है:—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे द्रष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"
बृह० ४, ५, ६

इस श्रुति में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के पूर्व दर्शन-वाचक शब्द भी हैं अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन के पूर्व आत्मदर्शन होना जरूरी है जो षट्सम्पत्ति के साधन से हो सकेगा। आत्मदर्शन होने के पश्चात् मार्ग सरल हो जाता है। यह दर्शन प्रज्ञान आत्मा का दर्शन है। जब गुरु उपदेश करता है–'अयं आत्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि' अर्थात् प्रज्ञात्म दर्शन के पश्चात् महावाक्यों के उपदेश से साधक जानता है, कि यही आत्मा, जिसका उसने दर्शन किया है, ब्रह्म है। वह इस बात का युक्ति और न्याय के आधार पर निश्चय करता है, जिसको मनन कहते हैं। और फिर एकाग्रचित से उसी पर सदा अपना लक्ष्य रखता हुआ 'अहं ब्रह्मास्मि' का साधन करता है, यही निदिध्यासन है। 'द्रष्टव्यः' शब्द का लक्ष्य आत्मा है जो महावाक्यों के उपदेश के पूर्व द्रष्टा को अपने स्वरूप का लक्ष्य कराता है और पश्चात् ब्रह्म का लक्ष्य करा कर ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान का साधन बन जाता है।

हम इस बात को ऊपर समझा आये हैं कि योग का साधन भी ईश्वर-प्रणिधान रूपी साधना के बिना समाधि की उपलब्धि के लिये पूर्ण नहीं है। उपासना और योग दोनों साथ-साथ रहते हैं। एक दूसरे के बिना साधक अपूर्णता का अनुभव करता है। श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने तो सौंदर्यलहरी में, कुण्डलिनी योग

को प्रधानता देकर, उपासना और योग की एकता ही सिद्ध कर दी है, जो योग की एक तांत्रिक योग पद्धति है। उसका फल है शिवसायुज्य पदवी। (देखें श्लोक २२)।

ज्ञानयोग और भावयोग

शून्य एक निषेधात्मक शब्द है और पूर्ण में सर्वात्मता का भाव है। यदि बिन्दु को अभाव वाचक समझें तो अभाव पर अभाव कितना भी बढ़ाया जाय, वह सदा अभाव ही रहेगा। अभाव अथवा सर्वथा विशेषणयुक्त अभाव में केवल विकल्प मात्र की प्रतिध्वनि दिखती है। अनन्त बिन्दुओं को एकत्रित करने पर भी क्या कभी कोई संख्या बन सकती है? फिर किसी संख्या पर उस अभावात्मक बिन्दु को रख देने से उस संख्या का मूल्य क्यों बढ़ना चाहिये? एक पर एक बिन्दु रखने से उसका मूल्य दश गुणा हो जाता है, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? इसलिये वह बिन्दु शून्य नहीं, वरन् पूर्ण है। एक पर एक बिन्दु रखने से उसमें दश की पूर्णता समझी जाती है और दो बिन्दु लगाने से वह दुबारा दश की पूर्णता प्रदान करती है, अर्थात् प्रत्येक बिन्दु की वृद्धि से पूर्णता की वृद्धि होती जाती है परन्तु शून्य तो सदा शून्य ही है। इसलिये यह कहना अधिक सत्य प्रतीत होता है कि जिसे शून्य कहते हैं, उस बिन्दु का मूल्य अभाव नहीं, वरन पूर्ण है। यदि पूर्ण पर पूर्ण जोड़कर उसका मूल्य बढ़ जाय तो प्रथम पूर्ण की अपूर्णता सिद्ध होती है क्योंकि पूर्ण अनेक नहीं हो सकते, पूर्ण एक ही होना सम्भव है।

इसलिये अनेक बिन्दुओं को एकत्रित करने से उनका संग्रह पूर्णता के अतिरिक्त किसी संख्या का निर्माण नहीं कर सकता। प्रत्येक संख्या अपूर्ण वाच्य ही है, क्योंकि पूर्ण की कोई संख्या अथवा गणना नहीं की जा सकती, इसलिये बिन्दु शून्य नहीं, वरन् पूर्ण है। और सब संख्यायें अपूर्ण हैं। गणित विज्ञान का यह सिद्धांत अखिल विश्व पर लागू है। जहां तक नाम-रूपों के भेदों की गिनती की जा सकती है, वहां तक वह पूर्ण नहीं कहला सकता और पूर्ण की पूर्णता को हमारी बुद्धि नहीं समझ सकती, क्योंकि बुद्धि का ज्ञान स्वयं अपूर्ण है। इसलिये हम उसे शून्य कहते हैं। अभाव का अर्थ भी साधारण भाषा में किसी नाम-रूप के अभाव का ही द्योतक है। जैसे, हमारे पास घड़ा नहीं है, इसका अर्थ इतना मात्र है कि हमारे पास घड़े की आकृति धारण किये हुए मृतिका का एक रूप नहीं है। जब विश्व के सब नाम-रूपों के अभाव की कल्पना की जाती है, तो उसे हम शून्य कहते हैं। परन्तु वास्तव में क्या वह अभावात्मक शून्य है ? नहीं, वरन् आदि कारण की पूर्णता का भाव उसमें निहित है। जैसे सिनेमा के पर्दे की तस्वीरें लुप्त होने पर पूर्ण पर्दा दृष्टिगोचर होने लगता है, इसी तरह विश्व के नाम रूपों के अभाव में उसके एकमात्र आधार का, जो पूर्ण है, अनुभव होता है। दर्शन उसको विकार रहित पूर्ण ब्रह्म कहते हैं। उसकी पूर्णता के कारण ही विश्व का प्रत्येक नाम-रूपात्मक अंग अपने स्थान पर सत्य और पूर्ण प्रतीत होता है।

अभाव का ही दूसरा नाम असत्य भी है। जो बात अथवा घटना जैसी हो वैसी ही न कही या समझी जाय, वह असत्य कहलाती है। प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान सत्य कहलाता है, परन्तु उसके संख्या, गणना अथवा सीमाबद्ध होने से वह ज्ञान अल्प हो जाता है। निरपेक्ष अनन्त ज्ञान यद्यपि सत्य है, तो भी बुद्धि की समझ के बाहर का विषय होने से समझ में नहीं आता है। यह रूप है उस पूर्ण परमात्मा का जिसकी वेद 'सत्यं-ज्ञानं अनंतं ब्रह्म' कह कर व्याख्या करते हैं। अर्थात् उस बृहत् अनंत सत्य ज्ञान को ईश्वर कहते हैं। वही पूर्ण बिन्दु है। इसलिये एक मत के दार्शनिक विद्वान् उसे परबिन्दु भी कहते हैं। वह ऐसा गोलाकार बिन्दु है जिसका केन्द्र सर्वत्र है, परन्तु सीमांत कहीं भी नहीं है। उसका अनुभव साधारणजन सुषुप्ति में करते हैं और योगिजन समाधि में; परन्तु उसके सौंदर्य की द्युति सर्वत्र है और उसका, सौंदर्य की लहरी में आनन्द की लहर का, योगी-उपासक अपने अन्तर में अनुभव करते हैं क्योंकि सौंदर्य का भाव अधिभौतिक प्रायः दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उसकी अध्यात्म प्रतिक्रिया आनन्द में व्यक्त हुआ करती है। हम तीन स्तरों पर एक ही तत्त्व की अनुभूति इस प्रकार करते हैं- प्रथम स्तर पर वह परमतत्त्व अद्वैत अक्षर परम ब्रह्म कहलाता है। जगत् में उसकी अधिभूता अभिव्यक्ति के सौंदर्य की मोहात्मिका शक्ति का विकास है और अध्यात्म में आनन्द लहरी का। हम कह चुके हैं कि नाम-

रूपात्मक जगत् आदि सत् शक्ति की परिणति है और उसके सौंदर्य में उसी अधिष्ठातृदेवी की सौंदर्यलहरी झलक रही है। इस दृष्टि से प्रथम ४१ श्लोकों का पूर्वार्ध, जो अध्यात्मविद्यापरक है—आनन्दलहरी नाम से संज्ञित किया गया है। ८वें श्लोक में चिदानन्दलहरी और २१वें श्लोकोक्त परमानन्दलहरी पद इस बात के स्पष्ट संकेत हैं और अन्तिम उत्तरार्ध विराट् विश्व में आदि कारणभूता शक्ति जगज्जनी के मुख की सुन्दर झांकी दिखाता है। जैसा कि ४४वें श्लोकोक्त 'तव वदन सौंदर्यलहरी' पद से स्पष्ट है, आधिभौतिक रूप अधिदेव की ओर लक्ष्य कराता है। ३५वें श्लोक में पिण्ड और ब्रह्मांड की एक समानता दिखाने के अभिप्राय से कहा गया है कि दोनों एक चिदानन्द के ही परिणाम मात्र हैं क्योंकि यह देह आधिभौतिक तत्त्वों का ऐसा संघात है जिसमें परम और अध्यात्म दोनों ही भावों की उपलब्धि होती है जिनका प्रत्यक्षीकरण अध्यात्म विद्या का विषय है। परम तत्त्व का ज्ञेयत्व दो भावों से ग्राह्य होता है और उसकी अनुभूति अध्यात्म स्तर पर ही की जाती है। उक्त दोनों भावों को हम इन दो नामों के सम्बन्ध से स्पष्ट समझ सकते हैं—प्रथम 'सच्चिदेकं ब्रह्म' और दूसरा 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म'। प्रथम पद में सद्ब्रह्म के एक प्रज्ञानघन भाव की प्रकर्षता का प्रत्याभास प्रस्फुटित होता है और दूसरे पद में चिदानन्दघन भाव की प्रधानता का। इस प्रकार अध्यात्म विद्या के दो फांटे हो जाते हैं, प्रथम को ज्ञान मार्ग और दूसरे

को भक्ति मार्ग कहते हैं जिनका वर्णन भगवान् ने गीता के १२वें अध्याय के २-४ श्लोकों में भी किया है और प्रथम ज्ञान-मार्ग को क्लिष्टतर बताकर दूसरे मार्ग की प्रशंसा की है कि:-

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।—गीता १२,२।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥'—गीता १२,७

यहां "मय्यावेश्य मनः" अथवा "मय्यावेशित चेतस्" से आनन्द के आवेश का ही अभिप्राय है क्योंकि ज्ञान का आवेश नहीं हो सकता, आवेश सदा आनन्द का ही हुआ करता है। ज्ञानमार्ग 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' महावाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन का मार्ग है और दूसरा योग का मार्ग है, उस योग का जिसमें प्रत्यगात्मा के आनन्दावेश से अहंवृत्ति का तादात्म्य किया जाता है। इन दोनों मार्गों को ज्ञान-योग और भाव-योग भी कहते हैं। प्रथम में शिवतत्व की और दूसरे में शक्ति-तत्त्व की प्रधानता समझनी चाहिये। वैष्णव सम्प्रदायों में भी राधा-तत्त्व, शक्ति-तत्त्व आनन्दावेश-प्रधान हैं और सब प्राणियों का केन्द्रीभूत आकर्षण पद कृष्ण-तत्त्व, ज्ञानप्रधान-तत्त्व का वाचक है, परन्तु वैष्णव सम्प्रदायों की द्वैत भावना उपासक को परम तत्त्व का आभोग मात्र प्रदान कर सकती है और उस आभोग से तादात्म्यभाव न कराकर अपूर्ण रह जाती है। तथापि उस आनन्दावेश की अन्तिम पहुंच तादात्म्यभाव प्राप्त होने पर ही

मिलती है, जैसी चैतन्य महाप्रभु के भावावेश में प्रायः प्रादुर्भूत हुआ करती थी। ज्ञानयोग को भावयोग की अपेक्षा से अभाव-योग भी कहा जाता है। कहा है:—

"योगोहि प्रभवाप्ययौ"—कठो० ६, ११

अर्थात् योग दो प्रकार का है—प्रभव योग और अप्यय योग। प्रभव योग का मार्ग आनन्दावेश का प्रभव पूर्वक मार्ग है और अप्यय योग में मनोमय कार्यजगत् का परम तत्त्व में लयक्रम किया जाता है।

शक्ति-उपासनायें सब आनन्द भाव की ही योग-पद्धतियां हैं। यद्यपि उनमें बहिःकर्मकांड का अधिक समावेश होने के कारण उनके अभ्यन्तरस्थ योग-मार्ग से सर्वसाधारण की जानकारी नहीं होती और वे लोग वास्तविकता से दूर रह कर सकाम अनुष्ठान में ही आमरण लगे रहते हैं। श्रीविद्या की अधिष्ठातृ देवी महात्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप चिति शक्ति कहा जाता है, परन्तु चिति शक्ति को चिन्मयी मात्र मानने से, उसकी उपासना ज्ञान परक ही नहीं समझनी चाहिये। वास्तव में वह भी आनन्दावेश युक्त भाव योग का ही मार्ग है, इसलिये श्री भगवत्पाद ने चिदानन्द लहरी और परमानन्द लहरी पदों का प्रयोग किया है।

सगुण पंचोपासना

सनातन धर्म में सगुणोपासना के पांच मुख्य सम्प्रदाय हैं—वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर—जिनमें एक ही

ब्रह्म की क्रमशः विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य पांच रूपों में उपासना की जाती है। शंकराचार्य के पूर्व पांचों सम्प्रदायों के अनुयायी आपस में द्वेषबुद्धि रखते थे और आपस में लड़ा करते थे, परन्तु श्रीमच्छंकराचार्य ने सब में एक ही ब्रह्म की उपासना सिद्ध करके उनका पारस्परिक द्वेष दूर किया और सबको एक ब्रह्मवाद के सूत्र में बाँधकर सनातन धर्म का एक संगठन बनाया। तब से सभी उपासकों का लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति माना जाने लगा है। विष्णु का अर्थ सर्वव्यापी है, इसलिये ब्रह्मांड का स्वामी, जो सगुण रूप से सबका पालनकर्ता है, बहिर्दृष्टि से उपासना करने वालों का इष्ट है। शिव प्रायः निर्गुण ब्रह्म का वाचक समझा जाता है। शिव पद की प्राप्ति निर्विकल्प समाधि द्वारा ही होती है, इसलिये शिव का चित्र सदा समाधिस्थ अवस्था में दिखाया जाता है। शक्ति परब्रह्म की शक्ति है जो सारे विश्व में व्यक्त होकर अनेक रूप धारण कर रही है। गणपति शिव-शक्ति के योग से समाधि में उदय होने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा का ज्ञान-भण्डार है जिसमें ऋद्धि-सिद्धि प्रकट होती हैं। उसका हाथी का सिर यह प्रकट करता है कि साधक का पशुत्व अभी नष्ट नहीं हुआ है क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान की बाधक सिद्धियां विघ्न बनकर उसे गिरा सकती हैं। परन्तु ज्ञान तो स्वयं ब्रह्म ही है—'सत्यं ज्ञानं अनंतं ब्रह्म'—इसलिये गणेश रूप से ज्ञान-रूपी ब्रह्म की उपासना करने वालों को विघ्नों का भय नहीं रहता। सूर्य सारे विश्व का प्राण माना

जाता है—'सहस्ररश्मि: शतधा वर्तमान: प्राण:
प्रजानामुदयत्येष सूर्य:' –प्र० १, ८

इसलिये प्राणोपासना करने वालों के लिये सूर्य भी ब्रह्म का प्रत्यक्ष सगुण रूप है।

उपासना का योग से सम्बन्ध

हम कह आये हैं कि उपासना का योग से बड़ा सम्बंध है। यदि कहा जाय कि उपासना योग का ही अङ्ग है तो अनुचित नहीं। उक्त पांचों उपासनायें योग से किस प्रकार गुंथी हुई हैं, यह भी हम नीचे संक्षेप में बताने का यत्न करते हैं। कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से योग-साधन का श्रीगणेश होता है। मेरुदण्ड में जो नाड़ी सारे शरीर के नाड़ीजाल का मस्तिष्क से सम्बन्ध करती है, वही सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी, विरजा या सूर्यद्वार कहलाती है जिसके द्वारा भ्रूमध्यस्थ आज्ञा चक्र अथवा मूर्धा में प्राण ले जाये जा सकते हैं। जो योगी प्रयाण-समय इस प्रकार भ्रूमध्य अथवा मूर्धा में प्राण लेजाकर प्राण-त्याग करते हैं, वे ब्रह्म में लीन हो जाते हैं (देखें गीता, अध्याय ८, श्लोक १०, ११, १२, १३)। उक्त नाड़ी में ६ चक्र हैं। गुदा के पीछे मूलाधार, उपस्थ के पीछे स्वाधिष्ठान, नाभि के पीछे मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठ में विशुद्ध और भ्रूमध्य में आज्ञा,– ये छहों चक्र क्रमश: पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मनस्तत्त्व के स्थान हैं। पृथ्वी का पीत, जल का श्वेत, अग्नि का रक्त, वायु का धूमाकार, आकाश का नील और मन का चन्द्र सदृश वर्ण होता है। विष्णु की सर्वव्यापकता इन छ: स्तरों में

दिखाने के लिये नीचे पीताम्बर, स्वाधिष्ठान के निकट चांदी की मेखला, नाभि पर माला में गुंथा हुआ रक्त पुष्प, वक्षस्थलको धूम्राकार वर्णवाला, कण्ठ को नीले रंग का और मस्तक को चन्द्रवत् चमकने वाला दिखाया जाता है। इसीलिए, ब्रह्माण्ड और पिण्ड में व्यापकता दिखाने के लिये ही भगवान् का चित्र इस प्रकार का खींचा जाता है। शंख शब्दब्रह्म का द्योतक है। सुदर्शन चक्र काल के नियन्ता सहस्ररश्मि आदित्य का, गदा भगवान् के ईशन् (शासन) का और कमल सौभाग्यदान का चिह्न है। गरुड़ इस बात को प्रकट करता है कि भगवान् के नाम-स्मरण से पृथ्वी से ब्रह्मलोक तक गति हो सकती है अथवा षट्चक्र वेध द्वारा सब तत्त्वों का वेध करके सहस्रार में पहुंचा जा सकता है। प्राण ही महा खग है जो सुषुम्ना में प्रणव भगवान् को लेकर सहस्रार की ओर उड़ता है। कहा है—

'प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीति एतस्मात् प्रणवः।'

—अथर्वशिखोपनिषत्

शिव-शक्ति उपासना

शिव का रूप परब्रह्म है जो प्रकृति सहित सब तत्त्वों का लय-स्थान है। इसीलिये उनको सदा समाधिस्थ दिखाया जाता है और उनका स्थान सहस्रार है। शक्ति ज्ञानाग्नि का रूप है जो सब शुभाशुभ कर्मों को भस्म करके, सब तत्त्वों को अपने-अपने कारण में लीन करती हुई, साधक को सर्वकारणभूत परब्रह्म में लीन कर देती है। शक्ति ब्रह्म के आदि संकल्प की स्फुरणा

का प्रथम स्पन्द है। वही चिति-शक्ति है, वही प्राणशक्ति है, वही इच्छा, क्रिया और ज्ञान-शक्ति है, वही विश्व को धारण करने वाली अनन्त शेष शक्ति और पिण्डस्थ मूलाधार में सोने वाली कुण्डलिनी शक्ति है। जागने पर पशुराज सिंह पर बैठकर अर्थात् रजोगुण को दबाकर मनुष्य की सब पाशविक वृत्तियों का संहार करती हुई शिव-सायुज्य पदवी देती है। इसीलिये देवी पर पशु-बलि चढ़ाने की प्रथा पड़ गई है। मनुष्य अपने अभ्यन्तर पाशविक भावों की बलि न देकर वाह्य बलि देते हैं और हिंसा करके जगज्जननी को सन्तुष्ट करना चाहते हैं!

'या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते, नमस्तस्यै ३ नमोनमः।
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्यस्थिता जगत् नमस्तस्यै ३ नमोनमः।

दुर्गा सप्तशती के ऊपर दिये हुए श्लोकों का भाव अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में भी मिलता है जिसका अर्थ यह है कि सब प्राणियों की चेतना भगवती का स्वरूप है। इसलिये हिंसा करना भगवती के स्वरूप की हिंसा करना है। अथर्ववेद का मंत्र यह है—

"ते देवा उपाशिक्षन् सा अजानात् वधू सती।
ईशा वशस्य या जाया सा वर्णमाभरत।।"

अर्थः—उन देवताओं ने जानना चाहा (कि इस शरीर में किसका वर्ण अर्थात् प्रकाश है) तब वह सती वधू (उनकी इच्छा को) जान गई और उसने बताया कि ईश्वर की जो ईश्वरी जाया (पत्नी) है, वह इस वर्ण का आभरण करती है।

पर ब्रह्म की आदि संकल्प-शक्ति जो प्रत्येक सर्ग में सृष्टि और स्थिति का कारण होती है और प्रलय के समय संहार-रूपिणी बनकर समस्त त्रिलोक को भस्म करके शंकर की अंगविभूति बनाती है, वही महामाया ज्ञानियों को भी मोह में डाल रही है, इतरजनों की तो गणना ही क्या है ?

'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥'—दु०श०

वह अपने भक्तों को कल्पतरु के सदृश मनोवांछित भोग भी देती है और मुमुक्षुओं को शिव का साक्षात् कराकर शिव-सायुज्य पदवी प्रदान करती है। केनोपनिषत् में ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार समझाया गया है-श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन, जो वाक्शक्ति की भी वाक् और प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु है, उसे जानकर बुद्धिमान् मनुष्य जीवन्मुक्त होकर इह-लोक से प्रयाण करके अमर हो जाते हैं। जो वाणी से नहीं कहा जा सकता, जिसके कारण वाणी बोलती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिसकी तू (वाणी द्वारा) उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है। जिसको (मनुष्य) आंख से नहीं देख सकता, आंख जिसके कारण देखती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिसकी तू उपासना (दृष्टि द्वारा) करता है, वह ब्रह्म नहीं है। जिसको (मनुष्य) श्रोत्र से नहीं सुन सकता, श्रोत्र जिसके कारण सुनते हैं, उसी को तू ब्रह्म जान, जिसकी तू उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है। जिसको प्राण से जीवित नहीं रखा जाता,

प्राण जिसके कारण मनुष्य को जीवित रखते हैं, उसी को तू ब्रह्म जान। जिसकी तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है।

इसलिये जिस ब्रह्म को इंद्रियाँ, मन, प्राण भी नहीं जान सकते, उसको कैसे जाना जाय? यह बताने के लिये उपनिषत् में एक आख्यायिका द्वारा समझाया गया है कि देवासुर-संग्राम में देवताओं की विजय हुई तो देवताओं को अभिमान हुआ कि हमने असुरों को हराया है। उनका अभिमान तोड़ने के लिये ब्रह्म ने एक यक्ष के रूप में दर्शन दिये। देवताओं ने अग्नि से कहा कि तू जान कि यह यक्ष कौन है? अग्नि ने यक्ष से पूछा कि तू कौन है और क्या कर सकता है? अग्नि ने उत्तर दिया कि मैं जातवेदा अग्नि हूँ, सारे संसार को जला सकता हूँ। तब यक्ष ने एक तृण उसके सामने रखकर कहा कि इसको जला, परन्तु वह नहीं जला सका। फिर देवताओं ने वायु को भेजा। वह भी इसी प्रकार तृण को नहीं उड़ा सका। जब देवताओं ने देखा कि यह दोनों यक्ष को नहीं जान सके तब उन्होंने इन्द्र से जानने को कहा। परन्तु जब इन्द्र गया तो यक्ष अन्तर्धान हो गया और उसके स्थान पर एक बड़ी सुन्दर स्त्री प्रकट हुई जो स्वयं हैमवती उमा थी। इन्द्र के पूछने पर उमा भगवती ने बताया कि वह यक्ष ब्रह्म था अर्थात् इन्द्र भी ब्रह्म को नहीं जान सका, उमा के बताने पर उसने ब्रह्म को जाना। अतएव ब्रह्म को जानने का एक मात्र उपाय भगवती उमा ही है। शंकर भगवत्पाद ने सौंदर्यलहरी लिखकर मुमुक्षुजनों पर परम

अनुग्रह किया है जिसमें स्तवन के मिस श्रीविद्या की महिमा, उपासना की विधि, मंत्र, श्रीचक्र और षट्चक्रों से इसका सम्बन्ध, षट्चक्रों का वेध एवं तत्सम्बन्धी दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालते हुए अद्वैत ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग दिखाया है।

(१)

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥

अर्थ—यदि शिव शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान् होता है और यदि ऐसा न होता तो वह ईश्वर स्पन्दित होने को भी योग्य नहीं था; इसलिये तुझ हरि-हर और ब्रह्मा आदि की भी आराध्या देवी को प्रणाम करने अथवा स्तुति करने की सामर्थ्य किसी भी पुण्य-हीन मनुष्य में कैसे हो सकती है?

संक्षिप्त टिप्पणी:-(१) इच्छा; ज्ञान, क्रिया भेद से शक्ति त्रिधा होती है। उसके विना शक्ति-रहित शिव कुछ नहीं कर सकता। शिव हं वाच्य है और शक्ति सः वाच्य, इसलिये इस श्लोक से हंसः मंत्र सिद्ध होता है जिसको उल्टा करने से सोऽहं बनता है। सोऽहं में से स और ह दोनों अक्षरों को हटा दिया जाय तो ॐ शेष रह

जाता है। ॐ निर्गुण अक्षर ब्रह्म-वाचक है, हंस जीव-वाचक और सोऽहं ब्रह्मात्मैक्य पद है। ह, स दोनों हादि विद्या के प्रथम दो अक्षर हैं, इसलिये सौन्दर्यलहरी में प्रतिपाद्य आनन्दलहरी पद से श्रीविद्या का संकेत करते हैं और यह श्लोक इस ग्रन्थ के प्रथम मंगलाचरणार्थ लिखा गया है। ह और स दोनों के योग से ह्सौ बीज मंत्र भी बनता है जिसको प्रेत बीज कहते हैं। इस बीज में शिव-शक्ति दोनों को प्रलयकालीन महासुप्ति अवस्था में दिखाया गया है। प्रेत (=प्र+इत) का अर्थ है-प्रकर्ष रूप से गया हुआ। प्रत्येक श्वास में प्राणिमात्र का हंसः अथवा सोऽहं जप होता रहता है

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुमंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

इसको अजपाजप अथवा अजपा गायत्री कहते हैं। जप यद्यपि स्वतः होता है, परन्तु उस पर हेतु सहित ध्यान रखने से ही जप का फल हो सकता है। उच्छ्वास के समय सः और निःश्वास के समय हं बीज का शब्द स्वतः होता रहता है। यदि इस जोड़े का वियोग हो जाय तो श्वास की गति रुकने से या तो मृत्यु हो जावेगी अथवा समाधि हो जायगी। प्रभव के लिये शिव का शक्ति सहित रहना आवश्यक है। ब्रह्मा, विष्णु और हर तीनों क्रमशः रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण की शक्तियों से सृष्टि, स्थिति, संहार करते हैं, इसलिये आदि शक्ति की आराधना के सिवाय उनमें कुछ भी करने का सामर्थ्य नहीं। आदि शक्ति जब इन त्रिदेव की भी आराध्या है, तो हम जैसे अकृतपुण्य उसकी शरण में भी जाने के योग्य कैसे हो सकते हैं, प्रार्थना अथवा स्तुति करना तो दूर की बात है? इसलिये मुमुक्षुओं को भगवती की शरण में रहकर आराधना करना आवश्यक है।

ब्रह्म कारणवाद

सृष्टि की रचना ब्रह्मा (विरंचि) करते हैं और शिव (हर) संहार करते हैं,परन्तु यहां पर 'सृष्टि का प्रभव शिवजी से होता है', ऐसा कहने से शिव या हर शब्द को परमशिव अर्थात् ब्रह्मवाचक समझना चाहिये।

१-अथातो ब्रह्मजिज्ञासा २-जन्माद्यस्य यत:

ब्रह्मसूत्र के उपरोक्त प्रथम सूत्र में यह कहकर कि अब यहां से ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ होती है, दूसरे सूत्र में ब्रह्म को इस जगत् का जन्मादि अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार का कारण बताया गया है। कारण दो प्रकार का होता है-प्रथम निमित्त और दूसरा उपादान। जैसे घड़े को कुम्हार बनाता है, वह घड़े का निमित्त कारण है और उसके बनाने में जिन यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है वे भी निमित्त कारण ही हैं; परन्तु मिट्टी जिससे घड़ा बनता है वह उसका उपादान कारण है। सामान्य दृष्टि से इस जगत् के उपादान कारण जड़ प्रकृति के भौतिक तत्त्व (Physical Elements) हैं और वैज्ञानिक दृष्टि से भी कोई जड़ शक्ति(Cosmic energy)जगत् का उपादान कारण है; परन्तु केवल जड़ तत्त्व, विना चेतन सत्ता का आश्रय लिये, कार्य नहीं कर सकता। इसलिये ईश्वर जगत् का निमित्त कारण होना चाहिये जो चेतन है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से शंकर भगवत्पाद के अद्वैत मतानुसार ब्रह्म ही उसका अभिन्न निमित्तो-

पादान कारण है अर्थात् वही निमित्त कारण है और उपादान कारण भी वही है। कुम्हार भी वही है और स्वयं मिट्टी भी।

ऋग्वेद में ब्रह्म का स्वरूप और सृष्टिक्रम

ऋग्वेदीय नासदासीय* सूक्त में कहा है-'उस समय न असत् था न सत् था, उसके सिवाय निश्चयपूर्वक अन्य कुछ भी नहीं था। पहिले तम हुआ, तम से छिपा हुआ वह सब लिंग रहित था, परन्तु जल न था। तमरूपी तुच्छ माया से जो था वह ढक गया। उसके महिमा रूप तप से एक पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसने सृष्टि रूप में वर्तमान होने की इच्छा की। उसके मन से पहिले शक्ति उत्पन्न हुई। बुद्धिमान् ऋषियों ने हृदय की जिज्ञासा से जाना कि उस असत् में सत् का बन्धु था। मन की शक्ति को यहां असत् और उस एक पुरुष को सत् कहा गया है। अर्थात् ऋषियों ने जब सृष्टि के क्रम को जानने की इच्छा की तो ऐसा समझा कि पहले सत् और असत् का जोड़ा उत्पन्न हुआ। सृष्टि के पूर्व न सत् था, न असत् था। जो था, वह ब्रह्म था। गीता में भी ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही बताया गया है—

'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥'—गीता १२, १३

अर्थात् अनादि परब्रह्म न सत् कहलाता है, न असत्। सत् और असत् दोनों परस्पर विरोधी सापेक्षिक शब्द हैं। परब्रह्म निरपेक्ष, अक्षर, अव्यय, सत्-असत् से परे है। सृष्टि के पूर्व उसके अतिरिक्त कुछ भी न था। वह अकेला था। कोई

---

* देखें परिशिष्ट (१)

जड़ प्रकृति या भौतिक तत्त्व न थे। अर्थात् अव्यक्त अथवा प्रधान वाच्य जगत् का कारण, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं, न था। सब से पहिले तम (अन्धकार) सा छा गया, यद्यपि उस समय न दिन का प्रकाश था, न रात्रि का अन्धकार। अर्थात् वह महामाया का प्रादुर्भाव था। उस मायाविशिष्ट ब्रह्म ने अपनी महिमा से ही तप किया। उसका तप ज्ञानमय था।

"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः"—मु० १, ६

अर्थ—जो सर्वज्ञ सर्ववित् है, उसका तप ज्ञानमय है।

फिर उसका ज्ञान, तमोगुण की शक्ति से आच्छादित होकर जगत् की सृष्टि की कामना करने लगा। इसी स्वरूप को हिरण्यगर्भ कहते हैं। आदि इच्छा-शक्ति महात्रिपुरसुन्दरी कहलाती है। इच्छा का संकल्पात्मक कार्य ही मन है। कहा है-"संकल्पात्मकं मनः।" उस मन के तेजोमय संकल्प से असत् का जन्म होता है। संकल्प के साथ अहं (मैं) का स्फुरण सत् है और संकल्प का कार्य नामरूपात्मिका सृष्टि असत् है। इनको सद्विद्या और असद्विद्या भी कहते हैं। इच्छा के पश्चात् ज्ञान, तदनंतर क्रिया-शक्ति सारे विश्व की रचना करती है। सद्विद्या को ज्ञान और असद्विद्या को क्रिया कहा जा सकता है, जो सत्वगुण और रजोगुण की प्रारंभिक शक्तियां हैं। यहां उपनिषदों के भी कुछ प्रमाण देने संगत हैं—

"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"—छां० ६. २, १,

'हे सौम्य! सत् ही यह पहिले था—अकेला अद्वितीय।'

"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति"—छां० ६,२,३

'उसने इच्छा की कि सृष्टि बनाने के लिये मैं बहुधा अर्थात् एक से अनेक हो जाऊं।'

'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति, स इमान् लोकानसृजत'–ऐत० १,१,१

'उसने इच्छा की कि लोकों की सृष्टि करूं, उसने लोकों की सृष्टि की।'

"स ईक्षां चक्रे, स प्राणमसृत"– प्रश्न० ६,३

'उसने इच्छा की, उसने प्राण की सृष्टि की।'

शैव-शाक्त दर्शन के अनुसार सृष्टिक्रम और स्पंदवाद

निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरंजन, अव्यय, अक्षर, परब्रह्म स्पंदरहित है। उसी को परशिव, महानारायण अथवा महाविष्णु भी कहते हैं। उसको शुद्ध निर्मल वायुमंडल से उपमित किया जाय, तो जैसे निर्मल वायुमण्डल कभी-कभी धुंध अथवा कोहरे से आच्छादित होकर मलीन दीखने लगता है, तद्वत् निर्गुण ब्रह्म में भी सृष्टि के आदि में माया की तमोमयी मलीनता का प्रादुर्भाव होता है। माया को शक्ति अथवा प्रकृति भी कहते हैं। उसका वर्णन शंकर भगवत्पाद ब्रह्मसूत्र (१-४-३) के भाष्य में इन शब्दों में करते हैं–"अविद्यात्मिका ही बीज शक्ति है, जो अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट की जाती है। यह मायामयी महासुप्ति परमेश्वर के आश्रित रहती है, जिसमें स्वरूप के ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते रहते हैं।"

कहीं-कहीं इसी को प्रकृति शब्द से भी सूचित किया जाता

है, जैसे 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'—श्वे० ४-१०। परब्रह्म का माया की तुच्छ तमोमयी मलीनता से आच्छादित हो जाना ही उसका प्रथम स्पंद है। इस प्रथम स्तर पर माया के प्रादुर्भाव के साथ मायाशबल ब्रह्म में शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्व दोनों की व्यक्तता दीखने लगती है।

अहं-प्रत्यक्ष (मैं के ज्ञान) को शिव-तत्त्व कहते हैं, परन्तु शिव-तत्त्व में अहं-प्रत्यय अनन्यमुख अहंविमर्ष* युक्त होता है। उस अहं अर्थात् मैं की स्फुरणा में अपने से अन्य भिन्न वस्तु का ज्ञान नहीं होता। इस समय शक्ति की सत्ता अव्यक्त-स्वरूपा है और शिव-तत्त्व पर उसका आवरण मात्र छा सा गया है। अहं अर्थात् 'मैं' के उदय के साथ युगपद् इदं भाव अर्थात् 'यह' का भाव भी उदय हो जाता है। 'मैं' और 'यह' दोनों भाव युगपद् ही उदय और अस्त हुआ करते हैं, दोनों का जोड़ा है। इदं भाव ही शक्ति-तत्त्व है। मानों शुद्ध ब्रह्मस्वरूप आकाश में स्पन्द होने से कुछ आवरण सा छा गया है और उस आवरण में ब्रह्म का तेजोमय प्रकाश भी चमक रहा है। कहीं-कहीं उस अव्यक्त माया को

---

*नोट:—विमर्षोनाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन ।
विश्व संहारेण वा अकृतिमोऽहमिति स्फुरणम् ॥

विमर्ष का अर्थः—विश्वाकार होने और विश्व को प्रकाशित एवं विश्व का संहार करने वाला जो आदि कारण अकृतिम अहंभाव है, उसके स्फुरण को विमर्ष कहते हैं।

आकाश शब्द से भी निर्दिष्ट किया गया है, जैसे:—

'एतस्मिन्नु खल्वरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'—बृ० ३,८,११

अर्थ:—इस (ब्रह्म) में निश्चय, हे गार्गि! आकाश ओत-प्रोत है।

ब्रह्म देश काल से अतीत है, उसमें आकाश के ओतप्रोत होने की भावना मात्र का होना माया के अस्तित्व का व्यंजक है। आकाश में स्पंद होना संभव है, देश और काल से अतीत ब्रह्म में स्पन्द होना संभव नहीं, क्योंकि स्पंद के प्रसार के लिए देश और उसके क्रम को समय चाहिये और देश तथा काल दोनों माया के अंग हैं। आकाश में स्पन्द, स्पन्द में शक्ति और शक्ति में ब्रह्म के तेज की द्युति,—सब का समन्वय होकर, 'शिवः शक्त्या युक्तो भवति शक्तः प्रभवितुम्'—अर्थात् शक्ति से युक्त शिव प्रभव करने को शक्त होता है। इसी भाव को मंत्र-शास्त्र ने मायाबीज द्वारा व्यक्त किया है—हकार आकाश का द्योतक है, रकार स्पन्द का, ईकार शक्ति का और अनुस्वार ब्रह्म के प्रतिबिंबित तेज का। ब्रह्म में माया का धुँध अथवा अन्धकार यद्यपि तमोमय अवश्य है, परन्तु वह हिरण्यमय कान्तियुक्त होता है, इसलिये उसे हिरण्यगर्भ भी कहते हैं। वेद कहता है कि:—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'

अर्थात् सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। हिरण्मय आवरण में एक कान्ति, प्रभा अथवा श्री होती है मानों आकाश में कान्ति की छाया बस गई है अर्थात् हकार,

शकार में परिणत हो गया है। शकार और हकार दोनों आकाश-तत्त्व के अक्षर हैं। हकार के स्थान पर शकार रख कर मायाबीज ह्रीं लक्ष्मी बीज बन जाता है। रकार अग्नि का बीज भी है। अग्नि स्वयं शक्तिस्वरूप है और उसका वर्ण हिरण्मय श्री (कांति)-युक्त है, परन्तु उसमें जो श्री है, वह उसकी अपनी नहीं है। वह श्री ब्रह्म की ही प्रभा है, जैसा कि कहा है—

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

इसी अभिप्राय से शंकर भगवत्पाद कहते हैं—

'न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।'

अर्थात् यदि वह ब्रह्मदेव शक्ति से युक्त नहीं होता तो वह स्पन्दित होने में भी कुशल नहीं हो सकता था। ऋग्वेदीय उपरोक्त नासदासीय मंत्र में कहा है कि फिर उसकी महिमा के तप से एक (पुरुष) उत्पन्न होता है। हम कह आये हैं कि ब्रह्म का तप उसके ज्ञान का उन्मेष है अर्थात् ज्ञान के उद्भव अथवा व्यक्त होने को ही तप कहा गया है, मानो शिवजी के अर्धोन्मीलित नेत्र खुल जाते हैं। इस स्तर पर अहम् और इदम् दोनों का युगपद् ज्ञान उदय होता है। यह ज्ञानमय तप दूसरा स्पन्द है जिसको सदाख्य अथवा सदाशिव तत्त्व भी कहते हैं। इसे अहम्-इदम् विमर्ष वाले दूसरे स्पन्द को एक बीज के सदृश समझना चाहिये जिसमें दो दल होते हैं परन्तु ऊपर से एक ही प्रतीत होता है। इसी स्वरूप को अर्धनारीश्वर अथवा अर्ध-नारी-नटेश्वर कहते हैं। (देखें

श्लोक २, ३)। इस स्तर पर साधक योगी का तप भी ज्ञान-मय ही होता है अर्थात् उसकी उन्नति साधन-साध्य नहीं रहती, वरन् पांचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाओं वाली ज्ञान-साध्य होती है। ये जीवन्मुक्ति की भूमिकायें कहलाती हैं। यह सदाख्य तत्त्व सृष्टि करने की कामना करता है। कामना से मन और मन में संकल्प❀ शक्ति का उदय होता है, जिस को 'मनसो रेतस्' कहा गया है। (देखें परिशिष्ट नं० १)। संकल्पात्मिका शक्ति का स्थान मन है। रेतस् का अर्थ शक्ति ही समझना चाहिये। इच्छा-शक्ति मन के स्तर पर उतर कर संकल्पात्मिका शक्ति में परिणत हो जाती है अर्थात् संकल्पों की शक्ति कामना अथवा वासना का स्थूल परिणाम है और संकल्पों का ही नाम मन है। कहा है: -

'संकल्पविकल्पात्मकं मनः'

इस स्तर पर मानो बीज अंकुरित होकर दोनों दल पृथक् हो जाते हैं। अहम् अपने को इदम् शक्ति का ईश्वर समझने लगता है। यह तीसरा स्पन्द है। फिर शक्ति का परिणाम निम्न स्तरों पर होने लगता है, वह चौथा स्पन्द है। तीसरे स्पन्द में मानों शिवजी नेत्र खोल देते हैं और उनको शक्ति के स्फुरण का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। अर्थात् शक्ति और शक्ति-

---

❀संकल्प=मैं यह-यह करूंगा (इदंमिदं कुर्याम्), ऐसा मन का व्यापार संकल्प कहलाता है। संकल्प में 'इदम्' का ज्ञान विशेष रूप से रहता है।

मान् दोनों की पृथक् सत्ता का ज्ञान उदय हो जाता है। शिव-रूपी 'अहम्' को महेश्वर-तत्त्व और 'इदम्' को शुद्ध विद्या कहते हैं। शुद्ध विद्या की फिर सत् और असत् दो स्तरों पर अभिव्यक्ति दीखने लगती है। सत् को सद्विद्या और असत् को असद्विद्या भी कहा जा सकता है। शुद्ध विद्या में सामान्य भाव है और सद्विद्या में विशेष भाव निहित है। असद्विद्या को माया अथवा अविद्या भी कहा जाता है। काम मन और संकल्पात्मक रेतस् में काम महेश्वर का रूप है और मन की शक्ति (रेतस्) शुद्ध विद्या और सद्विद्या है और उसका परिणाम असद्विद्या है। शक्ति का परिणाम वर्णात्मक और अर्थात्मक दो स्तरों पर होता है। वर्णात्मिका शक्ति को सरस्वती कहते हैं जिसका उदय कामना के उदय के साथ-साथ ही होता है और अर्थात्मिका शक्ति परिणत होकर समस्त सर्ग का रूप धारण कर लेती है। वर्णात्मिका शक्ति को स्वरात्मिका भी कहते हैं। कहा है—

'त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वंहि वषट्कारः स्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता।
अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः॥'—दु०श० ७३,७४

अर्थः—हे देवि! तू स्वाहा, तू स्वधा और तू ही वषट्कार स्वरात्मिका है अर्थात् सब स्वर तेरे ही रूप हैं, तू स्वधा है। हे नित्ये! हे अक्षरे! अकार, ईकार अथवा उकार और मकार की तीनों मात्राओं के रूप में तू स्थित है और अनुस्वार

स्वरूपी अर्धमात्रा में भी नित्य स्थित है जिसका विशेष रूप से से उच्चारण भी नहीं किया जा सकता। अ+उ=ओ और आ+ए=ऐ से ओम् और ऐं दोनों रूप लिये जा सकते हैं अथवा ईकारस्य भावे ऐ भी लिया जा सकता है। ऐं सरस्वती बीज है, ई शक्तिवाचक है, ऐ उसका स्वरात्मक भाववाचक है और अनुस्वार शिववाचक है। अर्थ स्वरूपा देवी आदि काम से उदय होकर संकल्प रूप धारण करके सृष्टि, स्थिति और प्रलय की कल्पना करती है और ब्रह्मा के दिन में स्थिति करके कल्प का निर्माण करती है। संकल्प, कल्पना और कल्प, तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति क्लृप् (सामर्थ्ये) धातु से होती है अर्थात् भगवती के सामर्थ्य का विकास अथवा प्रदर्शन स्वरूप आद्योपान्त सारा कल्प है, इसलिये उसका रूप क्लृप् धातु से क्लीं बनता है। ब्रह्मा का दिन, जिसको कल्प कहते हैं और जिसकी अवधि १००० चतुर्युगी का समय, १२००० दिव्य वर्ष अथवा १२०००×३६०=४३२००० मानुषी वर्ष हैं, भगवती के क्लीं बीज के सामर्थ्य से कल्पित है, जो महेश्वर की काम अथवा संकल्प-शक्ति का स्वरूप है। इसी अभिप्राय से भगवती को कामेश्वरी भी कहते हैं। सौंदर्यलहरी में सर्वत्र भगवती के स्वरूप को कामदेव से भी उपमित किया गया है। यहां यह भी स्मरण रहे कि कामदेव की उपास्य विद्या मूल कादि विद्या ही है और क्लीं को कामबीज भी कहते हैं।

उपरोक्त शिव, शक्ति, सदाशिव, महेश्वर और शुद्ध विद्या

को शुद्ध तत्त्व कहते हैं। प्रथम दो शांत्यातीता और अन्तिम तीन शान्तिकला के तत्त्व माने जाते हैं।

फिर तीसरा माया कला का स्तर शुद्धाशुद्ध विद्या का स्तर माना जाता है जिसे गीता में भगवान् ने परा प्रकृति कहा है। माया का प्रस्तार देश (कला) और काल में होता है जो नियति अर्थात् प्राकृतिक नियमों के सूत्र में बंधा हुआ है जिनके अविद्यामय ज्ञान का जानकार होकर शिव स्वयं राग के पाश में बंध जाता है और जीव कहलाने लग जाता है। इसलिये माया के सात तत्त्व शुद्धाशुद्ध तत्त्व कहलाते हैं। उनके नाम यह हैं—माया, काल, कला, नियति, अविद्या, राग और पुरुष। इस स्तर को विद्या कला कहते हैं। कला पांच हैं—शान्त्यातीता, शांति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति। काल से राग तक पांच तत्त्व पांच कंचुक कहलाते हैं जो माया के पांच आवरण या पांच केंचुलिया हैं और जो शिवकी चितिशक्ति को काल से, क्रिया-शक्ति को कला से, ज्ञान-शक्ति को विद्या से, इच्छाशक्ति को राग से और आनन्द को नियति से आवृत करके उसे जीव बना देते हैं। अशुद्ध २४ तत्त्व हैं—(१) अव्यक्त प्रकृति, (२) महत्, (३) अहंकार, (४) मन, (५–९) ५ ज्ञानेन्द्रियां, (१०–१४) ५ कर्मेन्द्रियां, (१५–१९) ५ तन्मात्राएं, (२०–२४) ५ महाभूत। प्रथम २३ तत्त्व प्रतिष्ठा कला के अन्तर्गत हैं और अन्तिम पृथिवी तत्त्व निवृत्ति कला कहलाता है। सब तत्त्वों का योग ३६ है और कला पांच हैं।

बीजमंत्र द्वारा ब्रह्मोपासना

ह्रीं का उदय आकाश से होता है, इसकी पीठ विशुद्ध चक्र में है और इसका आयतन सहस्रार तक है। श्रीं का उदय-स्थान भी आकाश है, इसलिये उसकी पीठ विशुद्ध और आयतन आज्ञाचक्र तक है। ऐं का उदय अग्नि से है, इसलिये उसकी पीठ मणिपूर है और आयतन वाक्-शक्ति का स्थान विशुद्धचक्र है और विकास-स्थान जिह्वाग्र भाग है। इन तीनों में अग्नि ही प्रमुख है। क्लीं में लकार से पृथिवी-तत्त्व की प्रधानता लिये हुए वायु तत्त्व है। कं से जल भी लिया जाता है। इसकी पीठ मूलाधार है और आयतन काम, संकल्प और कामना तीनों में होने के कारण स्वाधिष्ठान और अनाहत एवं आज्ञाचक्र तक है। वाक्शक्ति का सम्बन्ध संकल्पों से है, इसलिये ऐं का साथ क्लीं से है और शक्ति का प्रकाश कांति में होता है, इसलिये ह्रीं का साथ श्रीं से है। ऐं क्लीं वाला मंत्र के अंग हैं जो सब कामनाओं का देने वाला है। उसका दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है—ह्रीं श्रीं को प्रथम रख कर अथवा उसे गर्भ में लेकर। इसलिये ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं और ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं दो रूप बन जाते हैं। यहां यह स्मरण रहे कि प्रत्येक मंत्र का आदि अक्षर अथवा बीजमंत्र सारे मंत्र का मुख होकर उस मंत्र का संचालन करता है। मंत्र-विज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान है जो पुस्तकों के आधार पर नहीं जाना जा सकता। जो लोग केवल पुस्तकों को पढ़कर किसी मंत्र का अनुष्ठान करते हैं, वे उस खिलाड़ी के

सदृश हानि उठा सकते हैं जो तलवार चलाना न जानने के कारण अपना ही अंग काट लेता है। सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुकों को प्रत्येक मंत्र के उपदेश की दीक्षा किसी जानकार देशक (दीक्षा देने वाले) से मन्त्र-रहस्य समझ कर लेनी चाहिये क्योंकि मंत्रों का अनुष्ठान अग्नि के साथ खेल खेलने के सदृश है। यहां पर केवल मंत्र बीजों की भावना करने की विधि पर प्रकाश डाला गया है जिससे साधक विज्ञान को समझकर तद्रूप भावना सहित अभ्यास बढ़ावें क्योंकि कहा है कि विज्ञान को समझ कर अनुष्ठान करने से विद्या वीर्यवती होती है। यथा—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० १, १, १०)।

क्लीं बीज मकारयुक्त ककार से बनता है। ककार से काम, जल, प्राण एवं सुख का अर्थ लिया जाता है। कं जल को कहते हैं और प्राण को भी। कं का अर्थ सुख भी होता है। जल के वेध से प्राण का विकास होता है और प्राण का स्थूल रूप वायु है। वायु का कारण आकाश है और आकाश का कारण सूक्ष्म प्राण है, प्राण स्वयं ब्रह्म का तेज है। इसलिये कहा है कि—"प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति।..."यद्वाव कं तदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः" (छा० ४, १०, ५) । अर्थात् प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है अथवा जो कं है वही खं है, जो खं है वही कं है और वही प्राण है। खं का अर्थ आकाश भी होता है, इसलिये कं, खं और प्राण तीनों

ब्रह्मवाचक हैं। ऐसा भी कहा है कि—"अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" (छा० ६, ७, ६)।

क्लीं में ककार के साथ लकार भी है जो पृथिवी का अक्षर है। पृथिवी के वेध से अन्न होता है और अन्न से मन। मूलाधार क्लीं बीज की पीठ है जहां पर पृथिवी और जल दोनों का वेध होकर मन और प्राण के विकास में सहायता मिलती है। मन का वेध आज्ञाचक्र में होता है। मन आनन्द का स्थान है और आनन्द ब्रह्म है। इस प्रकार क्लीं की सहायता से प्राण और मन दोनों के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार ऐं अग्नि बीज है। अग्नि से वाक् और वाक् से ज्ञान की प्राप्ति होती है; और ज्ञान स्वयं ब्रह्म है। सूर्य भी अग्नि ही है। सूर्य से दृष्टि का उदय होता है और दृष्टि सत्य की पीठ है। सत्य स्वयं ब्रह्म है। स्थूल प्राण का स्थान हृदय है और प्राण सबको प्रिय होते हैं। इसलिये प्राण प्रेम-भक्ति की पीठ है अर्थात् हृदय में प्रेम-भक्ति का उदय होता है और प्रेम का भाव स्वयं ब्रह्म है। प्राण की सूक्ष्म गति द्वारा वायु का वेध होकर आकाश का वेध होता है। आकाश से श्रवणेन्द्रिय की उत्पत्ति है जो अनन्त की पीठ है। अनन्त स्वयं ब्रह्म है। हृदय से अहं भाव की भी स्फुरणा होती है। अहं में सत् की पीठ है और सत् स्वयं ब्रह्म है। इस प्रकार ऐं और क्लीं दोनों से सब चक्रों का वेध होकर ब्रह्म की प्राप्ति की जाती है। यह विज्ञान बृहदारण्यक उपनिषत् के चतुर्थ अध्यायोक्त याज्ञवल्क्य-जनक-संवाद

के आधार पर बताया गया है (देखें प्रथम ब्राह्मण)। इसी प्रकार वाग्भव कूट को समझना चाहिये। वाग्भव, कामकला और शक्ति कूट जो ह्रीं युक्त हैं और लक्ष्मी बीज जिसकी सोलहवीं कला है, पूरा मन्त्रराज बनता है।

स्पन्द ही शक्ति है

श्लोक की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि शिव शक्ति से युक्त होकर प्रभव करता है।—'नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्ध्यति'' (शंकर भाष्य, ब्र० सू० १, ४, ३)। उसके विना परमेश्वर का स्रष्टृत्व सिद्ध नहीं होता। दूसरी पंक्ति में कहा है कि शिव शक्ति से युक्त न हो तो वह स्पंदित भी नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह है कि शक्ति से युक्त ब्रह्म स्पंदित होता है। "तदेजति तन्नेजति" (ईश० ५)। वह स्पंदित होता है और वह स्पन्दित नहीं होता, ऐसा श्रुति कहती है। अब यह बात विचारणीय है कि स्पन्द शक्ति का धर्म है या शिव का, अथवा दोनों का। स्वभाव से निष्क्रिय, शांत और निरंजन पद में स्पन्द का सर्वथा अभाव है। शक्ति से युक्त होकर भी उसका स्वभाव नहीं बदल सकता। शक्ति त्रिगुणात्मिका है। उसका स्वभाव सक्रिय है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया में उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसलिये स्पन्द शक्ति में ही हो सकता है, शिव में नहीं। परन्तु शक्ति, शक्तिमान् के सामर्थ्य की अभिव्यक्ति है। शिव अहंभाव है और शक्ति इदं का भाव है। अहंभाव अपरिणामी है और इदंभाव

परिणामी है। अहंवृत्ति के उदय के साथ-साथ युगपद इदं-भाव का भी उदय हो उठता है। अहंभाव के लीन होने पर इदंभाव भी लीन हो जाता है, यह प्रत्येक मनुष्य का अनुभव है। सुषुप्ति और समाधि में दोनों नहीं रहते। जागरण के समय दोनों का व्युत्थान युगपद हो जाता है। इसलिए इस श्रुति में ईश्वर में ही स्पन्द का होना, न होना कहा गया है। ऐसे ही श्लोक में भी कहा है कि बिना शक्ति से युक्त हुए शिव स्पंदित नहीं हो सकता। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति स्वयं शक्तिमान् है। इदं का भाव अहं की ही एक वृत्ति है। अहं के बिना इदं की सत्ता नहीं, परन्तु अहं का उदय निरपेक्ष आत्मा से ही है, क्योंकि अहं के अभाव में उस आत्मतत्व का अभाव नहीं होता। वह सुषुप्ति या समाधि के समय भी रहता है। अहं और इदं दोनों के प्रभव से ही सृष्टि की अभिव्यक्ति है जिसको स्पन्द कहा जाता है, चाहे वह समष्टि में हो या व्यष्टि में—दोनों एक समान हैं।

प्रभव और अप्यय अर्थात् अहं और इदं के उदय और अस्त का सामर्थ्य योग कहलाता है। कहा है—'योगो हि प्रभवाप्ययौ' (कठ० ६, ११)। अर्थात् समाधि और व्युत्थान को योग कहते हैं।

'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥' –क० ६,१०-११

अर्थः—जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन सहित स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परम-गति कहते हैं। तब मनुष्य अप्रमत्त हो जाता अर्थात् शांति प्राप्त करता है। इसलिये प्रभव और अप्यय ही योग है।

इन्द्रियां और मन प्रकृतिरूपा शक्ति के विकार हैं और बुद्धि महत् तत्त्व रूपी सिन्धु की एक तरंग है। महत् तत्त्व समष्टि हैरण्यगर्भ बुद्धि ही है। इसलिये बुद्धि को, तीनों गुणों की विषमता होने पर, शक्ति की अभिव्यक्ति की एक तरंग कहा जा सकता है। कहा भी है:—

'या देवि सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥' —दु० श०

अहंवृत्ति का कारण आत्मा है और इदं का रूप बुद्धि है। दोनों का इतरेतर अध्यास बन्धन का कारण है। एक द्वारा दूसरे के गुणों को अपने ऊपर आरोप कर लेने को अध्यास कहते हैं। अर्थात् आत्मा अपने ऊपर बुद्धि के विकारों का आरोप करके स्वयं को विकारी मानने लगता है और बुद्धि अपने को आत्म-तत्व समझने लगती है। अनात्मनि आत्म-ख्याति रूपी यह अविद्या है। परन्तु शिवतत्व में अविद्या का अभाव होने से अध्यास नहीं होता। आत्मा में अहं-इदं का कभी उदय होना कभी अस्त होना यह प्रकट करता है कि नित्य निर्विकार शुद्ध-स्वरूप आत्मा दोनों से पृथक् है। इदं सत्य है अथवा असत्य? सत्यवत् दीखता है, परन्तु अहं के

आधार पर उसका उदय-अस्त होने से उसकी असत्यता सिद्ध होती है। इसलिये इसको शंकर भगवत्पाद ने अनिर्वचनीय ख्याति कहा है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि शक्ति की शक्तिमान् से अभिन्न सत्ता रहते हुए भी वह विपरीत-धर्मा कैसे उदय-अस्त हुआ करती है। इसी अभिन्नता को लेकर श्रुति कहती है—'तदेजति तन्नेजति' —ईश०।

प्राणतत्व और अध्यात्म-अधिभूत भाव

'यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥' — कठो० ६. २

अर्थः—यह जो समस्त जगत् है, वह प्राण के स्पन्दित होने पर निकलता है। वह प्राण वज्र के सदृश बड़ा भय वाला है अर्थात् उसके भय से अग्नि तपता है और सूर्य उदय-अस्त होता है। जो उसको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।' — क० ६, ३

प्राण यहां ब्रह्म-वाचक है और वही जीवनीशक्ति है। कहा है—'ब्रह्म प्राण का भी प्राण है।' उपरोक्त श्रुति में कहा गया है कि सारा जगत् प्राण के स्पन्द से बना है। जिस प्राण में स्पन्द कहा गया है उसे आत्मा की रश्मिवत् समझना चाहिये, जैसे चुम्बक से उसकी किरणें निकला करती हैं। स्पन्द चुम्बक में नहीं होता, वरन् उसकी किरणों में होता है।

वह समष्टि प्राण सृष्टि का आदि कारण है और शक्ति का ही रूप है। नीचे के स्तरों पर यह प्राणशक्ति दो रूप धारण कर लेती है। एक अध्यात्म और दूसरा अधिभूत। अधिभूता शक्ति का परिणाम सारा जगत् है जो उसके अध्यात्म रूप के प्रकाश से सर्वत्र प्रतिभासित हो रहा है। इस विषय का भगवान् ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है:—

'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥' —गी० ८, ३

अर्थः — ब्रह्म अक्षर है, उसमें दो भावों का उदय होता है—एक अध्यात्म और दूसरा अधिभूत। अध्यात्म भाव ब्रह्म का स्वभाव है अर्थात् उसका अपना ही भाव होने के कारण वह अहं चेतन भाव है और दूसरा अधिभूत भाव उद्भव करने वाला है, यह भी ब्रह्म का ही भाव है। इस दूसरे भाव का कार्य सारा जगत् है। यह अधिभूत भाव क्षर अथवा नाशवान् है।

सच्चिदानन्द ब्रह्म अक्षर है अर्थात् उसकी सत्ता ज्ञान-स्वरूप और आनन्दमयी है, परन्तु अहं और इदं दोनों भावों से अतीत होने के कारण वह परमभाव कहलाता है। उससे अहम् और इदम् दोनों भावों का उदय होने पर एक को अध्यात्म और दूसरे को अधिभूत भाव कहते हैं। अध्यात्म भाव उसी के स्वभाव वाला अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप है और अविनाशी, अपरिणामी भी है। अधिभूत भाव क्षर

और परिणामी है जिसके परिणाम से सारा जगत् बनता-बिगड़ता है। अक्षर निस्पन्द परम शिव है और अध्यात्मपक्ष में, अहंता होने के कारण, सस्पन्द शिव, ईश्वरभाव और जीवभाव का समावेश है। उद्भव करने वाले अधिभूत भाव को ही आदि शक्ति कहा है जो ब्रह्म का ही एक भाव है। परमभाव को प्राप्त करने के लिये सब स्पन्दों का निरोध करके अहं भाव में स्थिति करनी पड़ती है। कहा है—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्' —गी० ६,२५ अर्थात् आत्मभाव में मन को स्थिर करके इदम् जगत् का कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। यह योग का सबसे उत्कृष्ट साधन है। यही अहंग्रह उपासना का अन्तिम स्वरूप है और इसी को निदिध्यासन भी कहते हैं।

हिरण्यगर्भ

समष्टि प्राण को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं जिसको सांख्य महत् तत्त्व कहता है और वही प्राणिमात्र की बुद्धियों का आदिकारण-स्वरूप समष्टि बुद्धि है।

प्राणतत्त्व और हिरण्यगर्भ

'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥२॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥—मु० २,१

अर्थः – वह ब्रह्म पुरुष दिव्य और अमूर्त है, अजन्मा बाह्य

अभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक है, वह प्राण और मन रहित शुभ्र है और अक्षर (प्रकृति, अव्यक्त) से अति सूक्ष्म है। उससे प्राण उत्पन्न होता है और फिर मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, आप: और विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होते हैं।

यहां पर महत् के स्थान पर प्राण की उत्पत्ति कही गई है, इसलिये समष्टि प्राण, जिसको हिरण्यगर्भ भी कहते हैं, महत् तत्व से भिन्न कोई अन्य तत्त्व नहीं है। शंकर भगवत्पाद ने ब्रह्म सूत्र (२, ४, १३) 'अणुश्च' के भाष्य में समष्टि व्यष्टथात्मक विभु प्राणों को अधिदैविक हैरण्यगर्भ प्राण कहा है और ब्रह्म सूत्र (१, ४, २) के भाष्य में महत् को हैरण्यगर्भी बुद्धि बताया है। शुद्ध ब्रह्म की तेजोमयी रश्मियां ही जीवन-शक्ति रूपी प्राण की किरणें हैं और इस प्रथमज विभु प्राण को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं, जैसा कि नीचे दिये मंत्र से भी विदित होता है—

'हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

हिरण्यगर्भ की बुद्धि और चित्त दोनों महत् तत्व के ही रूप हैं। महत् से अहंकार की उत्पत्ति होती है। चित्तस्वरूप महत् वासुदेव भगवान् विष्णु हैं, बुद्धिस्वरूप महत् ब्रह्मा और अहंकार रुद्र शिव अथवा हर है। इसलिये आदि शक्ति तीनों की जननी सदृश आराध्या है।

अकृतपुण्य भजन नहीं कर सकते

श्लोक की तीसरी पंक्ति में देवी को हरि, हर और ब्रह्मा की आराध्य देवता कहा गया है क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार असद् विद्या में ही होते हैं। शुद्ध विद्या इनकी भी आराध्या है। फिर अकृतपुण्य पापी जीवों की तो वहां गति ही कैसे हो सकती है? वे तो स्तुति और प्रणाम भी नहीं कर सकते। भगवान् ने भी गीता में कहा है:—

'न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ – गी० ७-१५
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥—गी० ७-२८
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥' – गी० ६-१३

हरि भी रजोगुण की शक्ति लक्ष्मी के बिना पालन नहीं कर सकते, हर भी सत्त्व गुण की शक्ति उमा की सहायता से संहार करते हैं, तमोगुण के वशीभूत होकर बिना सोचे समझे संहार करना तो विश्व के कल्याणार्थ नहीं हो सकता, इसलिये उनकी संहार-शक्ति सात्त्विक ज्ञानमयी है। ब्रह्मा की स्रष्टृत्व शक्ति, तामसी मोहासक्ति है। वह बिना ज्ञान-वैराग्य पर आवरण डाले उन्हें सृष्टि-कार्य में कैसे प्रवृत्त कर सकती थी? इसलिये ब्रह्मा तमोगुण की शक्ति से युक्त सृष्टि करते हैं। प्रथम मानसिक सृष्टि के सनकादि पुत्रों में ज्ञान-वैराग्य देखकर तो उन्हें मैथुनिक सृष्टि का आश्रय लेना पड़ा। इसी-

लिये श्लोक में कहा गया है कि हे मा ! तू ही तीनों की आराध्या है।

दीक्षा का शक्ति से सम्बन्ध

गुरु को शिवस्वरूप कहते हैं। जब गुरु शक्ति से युक्त होता है, तभी वह दीक्षा देकर शिष्य की प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर सकता है, अन्यथा नहीं। जब तक शक्तिसंपन्न गुरु का अनुग्रह नहीं होता, तब तक शिष्य चाहे कितना भी विद्वान् क्यों न हो, पुस्तकों से पढ़े हुए मन्त्र से सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् राम और कृष्ण को भी गुरु करना पड़ा था, फिर अन्य साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या है? अकृतपुण्य पापी जन तो गुरु की शरण में जा ही नहीं सकते। जब अनेक जन्मों के पुण्यों का उदय होता है, तभी सद्गुरु का समागम मिलता है। शक्ति के बिना जैसे, 'शिव स्पन्दितुमपि न कुशलः' तद्वत शक्ति के बिना शिवस्वरूप गुरु भी शिष्य में शक्ति-जागरण करने की कुशलता नहीं रखते और शिष्य में भी मन्त्र-चैतन्य का प्रकाश नहीं होता। मन्त्र-चैतन्य के बिना मन्त्र-सिद्धि की बात करना तो बालू से तेल निकालने के बराबर है। शिष्य में भी उसका अन्तरात्मा शिव है, परन्तु वह शिव उसको माया की भ्रांति में डालता रहता है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥' —गी० १८-६१

उसकी शरण में अकृतपुण्य नहीं जा सकते। पुण्यप्रभाव

से जब सद्गुरु की प्राप्ति होती है, तब गुरु शिष्य की शक्ति का जागरण करके उसे शक्ति से युक्त कर देता है। शक्ति से युक्त होकर शिष्य का अन्तरात्मा स्पंदित होता है और मोक्ष का पथप्रदर्शन करता है। इसलिये जब तक शक्ति का जागरण नहीं होता, शिष्य भी गुरु का अनुगृहीत नहीं होता अर्थात् शिष्यस्थ शिव स्पंदित नहीं होता।

श्रीविद्या

श्रीविद्या आदि ब्रह्मविद्या है। उसके कादि और हादि मन्त्रों के अनुसार दो अंग होते हैं जिनके दो प्रथम अक्षर शिव और शक्ति के द्योतक हैं और उन्हीं के आधार पर पूर्ण विद्याएं सिद्ध होती हैं। अर्थात् शक्ति के योग के बिना शिव का अक्षर अकेला मन्त्र नहीं बना सकता। तीसरा अक्षर सदाख्य तत्त्व, चौथा महेश्वर और पांचवाँ शुद्ध विद्या का द्योतक है। दोनों अक्षरों के पश्चात् तीसरा काम का द्योतक है। चौथा फिर शिववाचक है जिसके काम अर्थात् ईक्षण (इच्छा) से पृथ्वी तक व्याप्त है। पांचवां अक्षर पृथ्वी का अक्षर है। इस प्रकार ईश्वर, जीव और विश्व का भेद दिखाने वाला दूसरा कूट विद्या-कला का संकेत करता है। तीसरा कूट शक्ति-कूट है जो प्रतिष्ठा और निवृत्ति का संकेत करता है। इस प्रकार कादि विद्या प्रभव-मन्त्र है। इसीलिये इस श्लोक में यह पद कि शक्ति के योग से ही शिव प्रभव करता है, श्रीविद्या के प्रतिपादन करने वाले इस ग्रंथ के प्रथम श्लोक में मंगलाचरणार्थ लिखा है।

श्रीविद्या का आधार वेद-वेदांत

जब तक किसी विद्या के आधार वेद सिद्ध नहीं होते, तब तक वह विद्या ऋषियों को मान्य नहीं होती, परन्तु श्रीविद्या तांत्रिक है और वह श्री गौड़पादाचार्य, शंकराचार्य प्रभृति की इष्ट थी, इसलिये उसे श्रुतियों का आधार है, यह बात निश्चित् ही है। परन्तु हम यहां विशेष रूप से इस विषय पर विचार करने का यत्न करते हैं। वेदों के मत से ईश्वर ही सृष्टि का कारण है। यह बात 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० १, १, २) में कही गई है। सब शास्त्र ऐसा ही सिद्ध करते हैं और जहां कहीं उनके सृष्टिक्रम में भिन्नता दिखाई देती है, उन सबका समन्वय किया जा सकता है, यह बात 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० १, १, ३) और 'तत्तुसमन्वयात्' (ब्र० १, १, ४) इन दो सूत्रों में सिद्ध की गई है। जो लोग सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से स्वतंत्र किसी अन्य प्रकृति तत्त्व से सिद्ध करते हैं, उनके वादों का खण्डन ग्रंथ के उत्तर भाग में किया गया है। कोई-कोई वाद ईश्वर को मानकर भी प्रकृति की सत्ता स्वतन्त्र अथवा अंग-अंगी भाव से बताकर ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानते हैं। वे वाद भी श्रौत नहीं हैं; जैसा कि श्रुतियों के पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है क्योंकि कहीं तो सृष्टि का उदय ईश्वर के ईक्षण या कामना से वर्णित है, कहीं एजत्व अर्थात् स्पन्दन से वर्णित है, कहीं माया से, कहीं शक्ति से और कहीं प्रकृति से। उस परमात्म शक्ति को ही कहीं आकाश, कहीं अग्नि, कहीं माया, कहीं प्राण,

कहीं वायु, कहीं प्रकृति प्रभृति शब्दों से व्यक्त किया है। इसका कारण यह है कि उस आदि शक्ति का स्वरूप किसी की समझ में नहीं आ सकता, इसलिये श्रुतियों में उसे समझाने के लिये अनेक प्रकार से चेष्टा की गई है। परन्तु सब श्रुतियों का अभिप्राय एक ही है। वह ईश्वर में उसके अधीन अव्यक्त अथवा व्यक्त दशा में सदा रहती है। शंकर भगवत्पाद 'तदधीनत्वादर्थवत्' (ब्र० १, ४, ३) और 'ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके' (ब्र० १, ४, ६) के भाष्य में इस बात को स्पष्ट करते हैं और उस शक्ति को दैवी शक्ति कहते हैं।

'यथा प्रकरणात्तु सैव दैवी शक्तिरव्याकृतनामरूपा।
नामरूपयोः प्रागवस्थानेनापि मंत्रेणाम्नायत ॥'

अर्थः—प्रकरण के अनुसार तो वही दैवी शक्ति जो नाम-रूप से विकृत नहीं है, नाम-रूपों की पूर्व अवस्था के रूप में वेदोक्त मंत्र में कही गई है।

माया की अभिव्यक्ति, ईश्वर का ईक्षण अथवा संकल्प, ईश्वर का एजत्व (एज् कंपने) अर्थात् स्पन्द सब सृष्टि के पूर्व में शक्ति के आन्दोलन के सूचकार्थ पद हैं। यह कहना कठिन है कि पहिले इच्छा अर्थात् ईक्षण हुआ अथवा पहिले संकल्प हुआ, अथवा पहिले स्पन्द हुआ। जिसने जैसा समझा वैसा ही वर्णन भिन्न-भिन प्रकार से उसने किया है। उपरोक्त नासदासीय सूक्त में पहिले तम (माया), फिर काम (संकल्प), फिर रेतस् (स्पंद) का क्रम मिलता है। परन्तु सर्वत्र यही

क्रम नहीं दीखता। पर इस बात में सब श्रुतियों का एक मत है कि चाहे वह माया हो, चाहे इच्छा, चाहे स्पन्द—सब हैं एक ब्रह्म सम्बन्धी व्यापार ही। ब्रह्म की उस अवस्था को कहीं ईश्वर कहा है, कहीं उसकी शक्ति,—केवल नाम की भिन्नता है। शक्तिवादी उसको ईश्वर की दैवी शक्ति कहकर उपासना करते हैं, अन्य लोग उसे ईश्वर ही कहते हैं। वेदों में दोनों प्रकार का उपासना-क्रम मिलता है। कहा है—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' इत्यादि।

मन्त्रशास्त्र के विद्वानों ने सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से ही मानी है और वे शब्द को अनादि शब्द-ब्रह्म कहते हैं। शब्द भी स्पन्द का ही रूप है। प्रथम शब्द ॐ है जो अ, उ, म के योग से बनता है। अकार सारी वैखरी वाणी की भूमि है जिस पर अन्य वर्णों के नाम-रूप रचे जाते हैं। ॐ भी अकार का ध्वन्यात्मसानुनासिक शब्द है। ऐतरेय आरण्यक में कहा है कि अकार ही समस्त वाणी है।

अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शान्तस्थोष्माभिर्व्यज्यमाना
बह्वी नानारूपा भवति। —ऐ० आ० २, ३, ७, १३

अर्थात् अकार ही सारी वाणी है। वही स्पर्श, अन्तस्थ और ऊष्मा से युक्त होकर व्यक्त होती है और नाना रूपों वाली हो जाती है।

ऊपर हम बता आये हैं कि ऐं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं भी ॐ के ही रूप हैं और शक्ति-प्रणव कहलाते हैं। उनका

शक्ति और स्पन्द तथा संकल्प से सम्बन्ध भी वहां दिखाया जा चुका है। परन्तु सृष्टि के पूर्व चारों में से पहिले कौनसा हुआ और पीछे कौनसा, यह कहना असम्भव है। जिस ऋषि ने जो क्रम समझा, उसने अपनी उपासना उसी क्रम से की और अपना मन्त्र भी उसी क्रम से बनाया। इसलिये प्रत्येक मन्त्र का ऋषि, देवता और विनियोग जानना आवश्यक है। इसी प्रकार श्रीविद्या के अवान्तर भेदों को समझना चाहिये। सबके मूल में दो ही विद्या हैं जो कादि और हादि के नाम से प्रसिद्ध हैं। कादि विद्या में सृष्टि का उदय काम (संकल्प) से माना गया है और हादि में आकाशवत् अव्यक्त शिव की माया-शक्ति से। दोनों के प्रथम कूट में ही अन्तर है और वह भी प्रथम तीन अक्षरों में, कादि में काम से शक्ति, शक्ति में तुरियावस्था और उससे पृथ्वी तक सारी सृष्टि कही गई है जो माया शक्ति का ही रूप है। हादि में अव्यक्त आकाशरूपी ब्रह्म से स्पन्दशक्ति, उससे कामपूर्वक पृथ्वी तक सारी सृष्टि का उदय दिखाया गया है। दूसरे कामकला कूट में ईश्वर से शक्ति की जीवरूपी पराप्रकृति का उदय बताकर फिर संकल्पपूर्वक पृथ्वी तक की शारीरिक सृष्टि दिखाई गई है, जिसमें ईश्वर की व्यापकता का ओतप्रोत रहना भी स्पष्ट है। कहा है–'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० १,३, १२) अर्थात् वह ईश्वर इस (शरीर) में ही सीमा (कपाल के ऊपर के जोड़) को विदार कर उस (छिद्र) के द्वारा प्रवेश कर गया अर्थात् जीव बन गया।

तीसरे कूट का भाव स्पष्ट है कि समस्त कलाओं सहित सब कुछ माया शक्ति का ही दिखावा है। तीनों कूटों के अंतिम माया-बीज से यही बात झलकती है कि तीनों स्तर शक्ति अथवा माया के ही रूप हैं, जो ईश्वर के आश्रय से उदय-अस्त होती रहती है। आदिशक्ति को वेदों में श्री संज्ञा दी गई है। इसलिए इस विद्या का नाम श्रीविद्या (अर्थात् ब्रह्म की श्री की विद्या) प्रसिद्ध है, जो ब्रह्मविद्या ही है। (देखें श्रीसूक्त के १५ मन्त्र)। पंचदशी में भी १५ ही अक्षर हैं। यजुर्वेद में कहा है:—'श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्याऽहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौव्यात्तम'.........इत्यादि।

अर्थात् हे ईश्वर! यह श्री लक्ष्मी तेरी पत्नि है, जिसके दिन-रात्रि पार्श्व हैं, नक्षत्र रूप हैं और अश्विनीकुमार तेरे विस्तार की ऊपर नीचे की दोनों सीमायें हैं।

श्रीविद्या का एक रूप षोडशी विद्या भी प्रसिद्ध है। उसके भी कामादि षोडशी, रमादि षोडशी, मायादि षोडशी, वागादि षोडशी, तारादि षोडशी अवान्तर भेद हैं। ये भेद उसी दृष्टि से समझे जाने चाहियें। जिसने काम से सृष्टि मानी, उसने कामादि की उपासना की। जिसने श्री से सृष्टि मानी, उसने रमादि की, जिसने माया से सृष्टि मानी उसने मायादि की और जिसने शब्द से सृष्टि मानी उसने वागादि की उपासना की। तदनुसार उनके मन्त्रों में बीजों का क्रम भी भिन्न-

भिन्न होता गया। ये सब मंत्र लोम-विलोम क्रम से प्रभव और अप्यय उभयपरक हैं।

श्रीविद्या की उपासना अति प्राचीन है। शंकर भगवत्पाद भी श्रीविद्या के उपासक थे, यह बात असंदिग्ध है।

हकार से शिव और सकार से शक्ति का ग्रहण किया जाता है जो महावाक्यों का मन्त्रात्म स्वरूप है। सः जीव शक्ति है और अहं का स्फुरण ब्रह्म की तेजोमयी अध्यात्म किरण है। हं शिव वाचक है, उसके पूर्व निषेधात्मक अकार लगा देने से उसकी जीव संज्ञा हो जाती है। इसलिये सःहं अथवा सोहं का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि सः जीव शक्ति, हं शिव स्वरूप है। ह, स अथवा हंसः का अर्थ इस प्रकार यह होता है कि शिव ही जीव बन गया है। इस प्रकार शिव-तत्त्व का अहं वृत्ति के आधार पर तत्त्वानुसन्धान करते-करते निषेधात्मक अकार का त्याग करके ब्रह्मलीनता प्राप्त करने के इस साधन-क्रम को अहंग्रह उपासना कहते हैं।

श्रीविद्या को गायत्री का ही तांत्रिक रूप समझा जाता है। वह निर्गुण ब्रह्म जगत् का आदिकारण सविता अर्थात् प्रसूता, जन्मदाता, वरण करने के योग्य है, यह बात गायत्री के प्रथम पाद में कही गई है। वह ध्यान का विषय न होने के कारण वरेण्यम् है, ध्येयं नहीं, इसलिये उसकी तजोमयी सत्ता 'भर्गस्' का ही ध्यान सम्भव है। यह बात दूसरे पाद में कही गई है। बुद्धि ध्यान का यन्त्र है, वह ध्यान द्वारा ब्रह्म में

तल्लीन होने को प्रवृत्त होनी चाहिये। इसलिए प्राणस्वरूप रुद्र की सहायता से उस पद की उपलब्धि की जिज्ञासा तीसरे पद में दिखाई गई है। इसी विचारधारा से गायत्री मन्त्र का श्रीविद्या से सम्बन्ध सिद्ध होता है। (देखें त्रिपुरातापिन्युपनिषद्)।

ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी ने भी श्रीविद्या की उपासना की थी और उनके उपास्य मन्त्र क्रमशः ब्राह्मी, वैष्णवी और शांकरी विद्याओं के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्रीचक्र

श्रीविद्या का स्थूल शरीर श्रीचक्र है जिसमें महात्रिपुरसुन्दरी का निवास स्थान है। इसलिये श्रीचक्र ब्रह्माण्ड का प्रतीक है और मनुष्यदेह भी श्रीचक्र ही है। श्रीचक्र में चार शिव-कोण और पांच शक्तिकोण होते हैं (देखें श्लोक ११)। दोनों के योग से ही सम्पूर्ण चक्र बनता है। इनके योग के अभाव में केवल केन्द्रीय विन्दु मात्र रह जाता है जो परशिव का प्रतीक है।

दूसरे श्लोक में सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की अनन्त शक्ति की महानता दिखाते हैं।

(२)

तनीयांसं पांसुं तव चरणपंकेरुहभवं
विरिञ्चिः संचिन्वन्विरचयति लोकानविकलम्।

वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरः संक्षुद्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम् ॥

तनीयांसं=छोटा। पांसुं=कण

अर्थः—तेरे चरणकमल से उत्पन्न होने वाले छोटे से एक रजकण को चुनकर ब्रह्मा बिना विकलता के लोक-लोकांतरों की रचना करता रहता है, शेषनाग उसको जैसे-तैसे अर्थात् बड़े परिश्रम से सहस्र शिरों पर उठाकर धारण कर रहा है और हर उसको भस्म बनाकर अपने अंग पर लगाते हैं ॥२॥

[शक्ति की अनन्तता इस श्लोक में दिखाई गई है। उसकी सापेक्षता से ब्रह्मा, शौरि (शेष) और हर की शक्तियाँ तुच्छ हैं, क्योंकि वह अनन्त ब्रह्माण्डों की स्वामिनी है और ये एक ब्रह्माण्ड के ही अधिदेव हैं।]

विरिञ्चिः या विरिञ्चः ब्रह्मा को कहते हैं और शौरिः विष्णु का नाम है। शेषशायी नारायण की शय्या बनाने वाला शेष नाग भी नारायण की ही शक्ति का एक रूप है। विष्णु के साथ राम, कृष्ण दोनों अवतारों में लक्ष्मण और बलभद्र शेष के अवतार माने जाते हैं। योग दर्शन के सूत्रकार ऋषि पतञ्जलि को भी शेष का ही अवतार कहा जाता है, जिन्होंने शरीर के स्वास्थ्य के लिए चरक-संहिता, व्याकरण की शुद्धि के लिये पाणिनि सूत्रों पर महाभाष्य और मनो-

निरोध के लिए योग-दर्शन की रचना की है। यहाँ उन शेष को विष्णु का ही एक नाम देकर नामांकित किया गया है।

अणुकारण, प्रधानकारण और विवर्तवाद

कणाद के वैशेपिक दर्शन और गौतम के न्याय दर्शन के मतानुसार सृष्टि का उपादान कारण परमाणु है, इसीलिये वे अणुवाद के समर्थक हैं। सांख्य और योग दर्शन सृष्टि का उपादान कारण मूल प्रकृति को मानते हैं। मूल प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं, इसलिये सांख्य और योग दोनों प्रधान कारणवादी हैं। वे अणुवाद का खंडन करते हैं। प्रधान में तीनों गुणों की साम्यावस्था रहती है। विषमावस्था में वही महत् तत्त्व कहलाता है, परन्तु वह आधुनिक वैज्ञानिकों को सृजनशक्ति (Cosmic Energy) से सूक्ष्म तत्त्व है, क्योंकि मन और इन्द्रियां भी उसी के विकार हैं। (Psychic Forces) अर्थात् मानसिक शक्तियाँ भौतिक सृजनशक्ति (Cosmic-Energy) के विकार नहीं समझे जाते। वेदान्त सृष्टि का आदि कारण ईश्वर की इच्छाशक्ति को मानता है और जड़-प्रधानकारणवाद तथा अणुवाद दोनों का खंडन करता है, परन्तु इस श्लोक में शंकर भगवत्पाद ने तीनों वादों का समन्वय करते हुए वेदान्त के इच्छाशक्तिवाद का ही समर्थन किया है।

'पांसु' अणुवाद की ओर संकेत करता है, 'चरण पंकेरुह'

जड़ प्रधानकारणवाद की ओर और 'तव' पद महात्रिपुर-सुन्दरी इच्छाशक्ति की ओर संकेत करता है। भगवती के चरणों को कमलों की उपमा दी गई है, कमल कीचड़ में उत्पन्न होता है, इसलिये उसको 'पंकेरुह' अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न हुआ कहा गया है। यहाँ इच्छाशक्ति के, तमोगुण की शक्ति होने के कारण, घनीभूत होने पर जड़ावस्था में परिणित होने को पंक से उपमित किया है और उस घनीभूत तमोगुणी इच्छाशक्ति की स्थूल कीचड़ से जो कमल खिलते हैं, वे ही सद् और असद् विद्या रूपीं दो चरण हैं। उनकी धूल कमलों की रज है। रज तो वाहर से चरणों पर जम जाती है, परन्तु जैसे कमलों की पराग रूपी रज कमल से ही उत्पन्न होती है, वैसे ही यह पांसु-कण भगवती के चरणों से उद्भूत हैं। अर्थात् इच्छाशक्ति की स्थूल घनीभूत अवस्था प्रधान-कारणव!दिय का प्रधान है और वही परिणित होकर अणुओं का रूप धारण कर लेती है। आधुनिक विज्ञानवादियों के विद्यदाणुओं (Electrons) को सृष्टि का कारण मानें तो उनके केन्द्रीय (Protons) अणुओं को किसी जड़शक्ति (Cosmic Energy) का अणुपरिणाम (granulation) मानना पड़ेगा और उस सृजनशक्ति (Cosmic energy) को परमात्मा की आदि इच्छाशक्ति का परिणाम समझना चाहिये।

ऋग्वेद के मं० १०, अ० ६, सूक्त ७२ में सृष्टिक्रम का

उल्लेख है। कहा है—'असंतः सद् अजायत' अर्थात् असत् (अव्यक्त) से सत् (व्यक्त) हुआ। इसका क्रम ऋचा ६ में इस प्रकार है—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत् ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रोरेणुरपायत् ॥६॥

जब सृष्टि की शक्तियां सलिलाकार अर्थात् घनीभूत हुईं, तब वे क्षुब्ध हुई और नृत्य-सा करने लगीं, और उस से तीव्र रेणु की सृष्टि हुई। अर्थात् रेणु अथवा अणु रूप धारण करने से पूर्व शक्तियां सलिलवत् घनीभूत हुईं और उनके तीव्र संवेग-रूप नृत्य से परमाणुओं का निर्माण हुआ।

शेष और कुण्डलिनी

सर्वशक्तिमान् की शक्ति का माप नहीं किया जा सकता। वह अनन्त है और उसकी रचना में अनेक ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड के पृथक्-पृथक् हरि, हर और ब्रह्मा हैं। प्रत्येक ब्रह्मा जितनी शक्ति अपने ब्रह्माण्ड को बनाने में खर्च करता है, वह सब अनन्त शक्ति का अति स्वल्प भाग है, अर्थात् दो-एक कण के ही तुल्य है क्योंकि अनन्त वस्तु कभी सान्त (Limited) नहीं होती, यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है। एक वट के बीज में कितना बड़ा वृक्ष निहित है, इतना ही नहीं, प्रत्येक बीज में अपने जैसे असंख्यों बीजों को बनाने की शक्ति रहती है। अर्थात् प्रत्येक बीज में अनन्त शक्ति भरी हुई है। अणुबम का चमत्कारी प्रभाव अब सबको

विदित है। न जाने एक-एक अणु से क्या-क्या हो सकता है? परमात्मा की अनन्त शक्ति, अणु-अणु में अनन्त ही परिपूर्ण है। अनन्त भण्डार से प्रवाहित शक्ति सक्रिय (Dynamic) होकर अनन्त कार्य करके भी समाप्त हो जाय, तो वह अनन्त पदवाच्य नहीं। ब्रह्माण्ड की रचना करके जो अनन्त शक्ति बच रहती है, वह आणविक रूप धारण करने के लिए मानो कुण्डलों में घूमने लगती है और उसके कुण्डलाकृति रूपों के कारण उसकी सर्प से उपमा दी जाती है। उसे अथर्व वेद में उच्छिष्ट ब्रह्म कहा है (देखें—अथर्ववेदीय उच्छिष्ट सूक्त) और पुराणों में उसे ही नारायण की सेज बनाने वाला शेष (बचा हुआ) कहा है। उसीको अनन्त भी कहते हैं। उस शेष या उच्छिष्ट शक्ति का ब्रह्माण्ड के धारण करने में उपयोग होता है मानों वह ब्रह्माण्ड को अपने हजार फणों पर धारण किए हुए है। शेष शक्ति विश्व को धारण करती है, इसलिये उसकी संरक्षक और आधार होने के नाते विष्णु नारायण का ही रूप है।

'सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारोहि कुण्डली ॥

अर्थः—जैसे सब पर्वत, वनों को धारण करने वाले लोकों का आधार अहिराट् शेषनाग है, वैसे ही सब योगतन्त्रों का आधार कुण्डली (कुण्डलिनी शक्ति) है। पिण्ड शरीर की रचना के उपरान्त जो शक्ति बच रहती है, वह मूलाधार

में शरीर को धारण किये हुए प्रसुप्तवत् पड़ी रहती है; इसलिये उसको आधार शक्ति भी कहते हैं, उसी को कुण्डलिनी कहते हैं। यही शक्ति जागकर प्रतिप्रसव क्रम का आरम्भ करती है और सब तत्त्वों को लयाभिमुख करती हुई शिव में लीन होने को सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार में चढ़ने लगती है,—मानों सब तत्त्वों को भस्म करके, शिवजी के अंग की विभूति बना देती है। यह लय-क्रम मोक्ष मार्ग है, जैसा कि भस्म लगाने के मन्त्र में कहा जाता है—

"अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म, देवा भस्म, ऋषयो भस्म, सर्वं ह वा एतदिदं भस्म, पूतं पावनं नमामि सद्यः समस्ताध शासकम्।"

श्लोक में 'पांसु' 'एनं' शब्दों में एकवचन का प्रयोग किया गया है, न कि बहुवचन का। इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि प्रत्येक अणु में भगवती के चरण हैं। वह है—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात्"

अर्थात् प्रत्येक परमाणु अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है।

तीसरे श्लोक में यह बताया गया है कि भगवती की उपासना मुमुक्षुओं के अज्ञान का नाश करती है और सकाम उपासकों की सब कामनायें पूर्ण करती है। अर्थात् भगवती भुक्ति और मुक्ति दोनों प्रदान करती हैं।

[३]

अविद्यानामन्तस्तिमिरमिहिरोद्दीपनकरी (द्वीपनगरी)
जडानां चैतन्यस्तबकमकरन्दस्रुतिझरी।
दरिद्राणां चिन्तामणिगुणनिका जन्मजलधौ
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवती ॥

कठिन शब्दों के अर्थः—अन्तस्तिमिर=हृदय अथवा अन्तःकरण का अंधकार। मिहिर=सूर्य। चैतन्यस्तबक=ज्ञानरूपी चेतन गुलदस्ता। स्रुतिं=स्रोत, प्रवाह। झरी=झरना। गुणनिका=माला। मुररिपुवराह=विष्णु का वराहावतार।

अर्थः—तू अविद्या में पड़े हुओं के हृदयान्धकार को हटाने के लिये (ज्ञानरूपी) सूर्य का उद्दीपन करने वाली है, जड़ मनुष्यों के लिये चैतन्यस्तबक से निकलने वाले मकरन्द के स्रोतों का झरना है, दरिद्रियों के लिये चिन्तामणियों की माला है और जन्म-मरणरूपी संसार-सागर में डूबे हुओं को विष्णु भगवान् के वराहावतार के दांत के सदृश उद्धार करने वाली है।

सं० टि० - शक्ति की उपासना से अज्ञान का नाश होता है, दरिद्रियों को धन मिलता है, जड़ता का नाश होता है और वह संसार-सागर में डूबते हुओं का सहारा है।

विद्या और अविद्या

मुण्डकोपनिषद् में परा और अपरा नाम की दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व-

वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष सबको अपरा विद्या के अन्तर्गत माना गया है और जिस विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उसे परा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या के जानने वालों को विद्वान् नहीं कहा जाता, क्योंकि वे अविद्या में ही पड़े रहते हैं। कर्मकांड और उसका सब विस्तार अविद्यामय ही है, उससे ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। ब्रह्मप्राप्ति के जिज्ञासु मुमुक्षु उसका परित्याग करके परा विद्या की शरण ग्रहण करते हैं और वे परा विद्या के अन्वेषक ही विद्वान् कहलाने के योग्य हैं।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥–मु. २,७
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥८
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०
तपः श्रद्धे ये ह्युपवसंत्यरण्ये शांता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११

अर्थः—ये १८ प्रकार के यज्ञयागादि अनुष्ठान अदृढ़ और अस्थिर हैं और उनमें जो कर्म किये जाते हैं, वे श्रेयः नहीं हैं। जो मूढ़ इनको श्रेयः समझ कर इनमें आनंदित होते हैं, वे

जरा-मृत्यु में वार-वार आते हैं। अविद्या में पड़े हुए, अपने को बुद्धिमान् और पंडित मानने वाले, अन्धों से ले जाये जाने वाले अन्धों के सदृश वे मूढ़ जघन्य हैं। अनेक प्रकार से अविद्या में पड़े हुए वे वाल-सदृश ऐसा कहते हैं कि हम कृतार्थ हैं, क्योंकि उनको कर्मों में राग रहने के कारण वैराग्य नहीं होता। राग से आतुर वे लोग क्षीणपुण्य होने पर स्वर्ग से गिरा दिये जाते हैं। इष्टापूर्त कर्मों को श्रेष्ठ मानने वाले वे मूढ़ यह समझते हैं कि उससे अन्य कोई श्रेयः का मार्ग नहीं है। वे स्वर्ग में अपने पुण्यों को भोगकर इस लोक में अथवा इससे भी हीनतर लोकों में प्रवेश करते हैं। परन्तु जो तप और श्रद्धा से युक्त होकर वनों में रहते हैं, शांत हैं, विद्वान् हैं और भिक्षा से जीवन-निर्वाह करते हैं, वे निष्पाप होकर सूर्यद्वार (सुषुम्ना मार्ग) अथवा देवयान मार्ग से वहां जाते हैं, जहां वह अमर अविनाशी परम पुरुष है।

यज्ञयागादि कर्मों के अनुष्ठान और कूप, तड़ाग, धर्मशाला इत्यादि का वनवाना, ऐसे इष्टापूर्त कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, मोक्ष नहीं मिलती। स्वर्ग में अपने-अपने पुण्यार्जित भोगों के समाप्त होने पर वहां से उनको इस मर्त्यलोक में गिरा दिया जाता है। इसलिये सब सकाम अनुष्ठान और यज्ञों के कर्मकांड का विस्तार अविद्या कहलाता है। कर्मनिष्ठी मनुष्य कर्म को ही मोक्ष का साधन जानते हैं और उनके अनुष्ठानों में आसक्ति के साथ लगे रहते हैं। उनके हृदयों में

अनेक कामनायें उठा करती हैं और भगवान् के भजन और अनेक प्रकार के अनुष्ठानों के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति माँगा करते हैं। इस प्रकार मोहांधकार से उनका अन्तःकरण अन्धकारमय रहता है। यद्यपि वे शास्त्रीय ज्ञान के धुरन्धर पंडित क्यों न हों, जब तक मन की वृत्तियां बहिर्मुखी रहती हैं, आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं दीखता।

कुण्डलिनी शक्ति जागकर जब सुषुम्ना-पथ में छओं चक्रों का वेधन करती हुई सहस्रार में शिवसायुज्य पद पर आरूढ़ होने जाती है, तब प्रतिप्रसव-क्रम द्वारा वह सब इन्द्रियों को अन्तर्मुखी कर देती है, मन के परों को काट डालती है, बुद्धि को जगत् के बहिर्चिन्तन से विश्रांति देने लगती है और अन्तरात्मा रूपी सूर्य पर छाए हुये बादल एक-एक करके विलीन होने लगते हैं। हृदयाकाश निर्मल और स्वच्छ हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश अन्तराकाश में पूर्ण तेज से युक्त होकर चमकने लगता है। अविद्या का गाढ़ अन्धकार फट जाता है और अन्धेरे में बसेरा करने वाली वासना रूपी चमगीदड़ों अथवा काम, क्रोधादि उलूकों के ठहरने को कहीं स्थान नहीं रहता और वे वहीं बैठे-बैठे ज्ञान रूपी सूर्य के तेज से समाप्त हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि भगवती अविद्यान्धकार को नष्ट करने के लिये ज्ञानरूपी सूर्य का उद्दीपन करती है। दूसरा भाव यह भी है कि सूर्य-मण्डल में अधोमुखी सूर्यशक्ति जागरण के पश्चात्

उन्मुख होकर अमृत का स्राव कराने लगती है और परिणाम-स्वरूप बहिर्विषयों की वासनायें स्वयं शांत हो जाती हैं। उसका फल यह होता है कि कर्मानुष्ठानों में रत, अविद्या के अन्धकार में पड़े हुए कर्मकांडी बहिरनुष्ठानों का तिरस्कार करके अन्तर्याग में लग जाते हैं, क्योंकि भगवती की चिन्मयी वाटिका के पुष्पों से प्रवाहित मधुर मकरन्द के स्रोतों के झरने जड़ लोगों की जड़ता को भी द्रवीभूत करने की सामर्थ्य रखते हैं। भगवती की चिन्मयी सत्ता ही तो नाना भेद रूपा सृष्टि के प्रभवकाल में स्थूल-सूक्ष्म जगत् का स्वांग भर लेती है और प्रतिप्रसव क्रम के आरम्भ होने पर सब नाम-रूपों को अपने में विलीन करती हुई वह शिव के निष्कल रूप से सायुज्यता का आलिंगन करके स्वयं शिव-स्वरूप हो जाती है। जीव की जड़ता पानी होकर बह जाती है और वह चैतन्य-गंगा में स्नान करने लगता है।

आत्मा असंग है, जड़ प्रकृति अथवा उसके विकारों से उसका तादात्म्य नहीं होता। स्थूल-सूक्ष्म शरीर पर आत्मा की चेतना का प्रकाश अवश्य दृष्टिगोचर होता है, परन्तु आत्मा कभी शरीर नहीं बनता, वह सदा असंग है। देहाभिमान द्वारा केवल भ्रान्ति मात्र का स्फुरण हो उठा है कि मैं देह हूँ। क्या चेतनस्वरूप आत्मदेव कभी जड़ देह बन सकता है? यदि वह देह बन गया होता तो जागरण में अनुभव में आने वाला शारीरिक कष्ट स्वप्न में भी बना

रहना चाहिये था, परन्तु वही एक आत्मा जाग्रत और स्वप्नावस्था के सुख-दुःख अलग-अलग भोगता है और गाढ़ निद्रा में वे सब छूट जाते हैं। तीनों अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् योग होने से उनके भोगों की अनुभूति भी पृथक्-पृथक् होती है। स्वभाव से असंग आत्मा में कष्ट, पीड़ा, वेदनादि का सर्वथा अभाव है, परन्तु जब वह देह से संगी होता है तो उसको देह के धर्मों का भी भोग अनुभवगम्य होने लगता है। देहाध्यास ने मानो उसे अपने स्वरूप से गिराकर उसमें शरीर की जड़ता के अध्यारोपण की भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। देहाध्यास जितना दृढ़ होता जाता है, उतनी जड़ता की भी वृद्धि होती जाती है। मनुष्यों से पशुओं और पशुओं से उद्भिजों में अधिक जड़ता देखने में आती है। मनुष्यों में भी अन्तर होता है, कोई-कोई थोड़े से कष्ट से विह्वल हो उठते हैं, उनमें जड़ता अधिक है और कोई-कोई इतने तितिक्षु होते हैं कि महान् कष्टों की भी परवाह नहीं करते, उनमें जड़ता कम समझनी चाहिये। शरीर के योग से ही आत्मा का स्वाभाविक आनन्दस्वरूप तिरोहित हो गया है। जितना मनुष्य देहवृत्ति का त्याग करके आत्मस्थिति में ऊँचा उठ जाता है, उसे शारीरिक कष्ट उतना ही कम सन्ताप पहुंचाते हैं और उसके आनन्दानुभव की वृद्धि होती है। कुण्डलिनी शक्ति जागकर पांचों तत्त्वों और मन का वेध करके जड़-चेतन की ग्रंथियों को खोल देती है। तब साधक का देहाध्यास शिथिल हो

जाने पर वह आत्म-स्थिति की उच्च भूमिकाओं का अनुभव करने लगता है और आनन्द की लहरें उसकी प्रत्येक नाड़ी में प्रवाहित होने लगती हैं।

चैतन्यस्तम्बक मकरन्दस्रुतिझरी का संकेत मधुप्रतीका भूमिका के लिये भी हो सकता है, जो ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होने पर आती है। चैतन्य का अर्थ मन्त्र-चैतन्य भी ग्रहण किया जा सकता है, उस पक्ष में श्रीविद्या के मन्त्र को स्तवक और मन्त्र के अनुष्ठान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से प्राप्त होने वाले दिव्यानन्दावेश का प्रवाह मकरन्द के स्रोत की झरी से उपमित किया जा सकता है। मन्त्र-चैतन्य का लक्षण योगशिखोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है—

यदानुध्यायते मंत्रं गात्रकंपोऽथ जायते ॥७०॥

अर्थात् जब मन्त्र का ध्यान किया जाता है, तब गात्रों में कम्प का अनुभव होना चाहिये। कम्प शक्ति के सक्रिय होने पर हुआ करते हैं और उस कम्प में दिव्यानन्द की लहरें प्रवाहित होती हुई अनुभव में आती हैं, जिससे शिर में आत्मानन्द की मस्ती प्रदान करने वाला नशा सा चढ़ जाता है। मंत्र-चैतन्य का अर्थ मन्त्रयोग द्वारा शक्ति का जागरण ही समझना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर शरीर की जड़ता, आलस्य, भारीपन इत्यादि दोष तत्क्षण दूर हो

जाते हैं। श्रीविद्या के अक्षरों की चिन्तामणियों से और मन्त्र की चिन्तामणियों की माला से भी उपमा दी जा सकती है। भगवती का अनुग्रह मुमुक्षुओं को मोक्ष देता है और सकाम उपासना करने वालों की अभीप्सित् कामनाओं को पूर्ण करता है, इसलिये कहा है कि भगवती दरिद्रियों के लिये चिन्तामणियों की माला के सदृश है। इन्द्रलोक में एक चिन्तामणि है जो कल्पवृक्ष के सदृश सभी कामनाओं को पूर्ण करती है, परन्तु पंचदशी मंत्र में १५ और षोडशी में १६ अक्षर उतनी ही चिन्तामणियों के तुल्य हैं, जो उपासकों की सभी कामनाएँ पूर्ण करते हैं।

इस श्लोक से हादिविद्या का प्रथम कूट इस प्रकार उद्धृत किया जा सकता है। मिहिर से हकार, मकरंद की सोमसदृश उपमा से सकार, चिन्तामणि से सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला ककार और वराहावतार के महीउद्धार सदृश पृथिवी बीज का लकार और 'भगवती' पद से भगवती का साक्षात् हृल्लेखा अक्षर समझना चाहिये। एक कूट सिद्ध होने से पूरा मंत्र ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि इस विद्या के तीनों कूट इन्हीं अक्षरों से बनते हैं। आगे चलकर श्लोक ३२ के नीचे यह दिखायेंगे कि शंकर भगवत्पाद की इष्ट विद्या हादि विद्या ही थी। इसलिये इस श्लोक में भगवती के गुणानुवाद के साथ-साथ उस विद्या का रूप भी बता दिया गया है। हादि विद्या से ही चतुष्कूटी शांकरी विद्या का भी

निर्माण होता है और त्रैलोक्यमोहन कवच में उससे पाताल लोक से रक्षा होने का उल्लेख मिलता है, इसलिये यहां 'मुररिपुवराहस्य दंष्ट्रा' कहने से स्पष्ट हादि विद्या की ओर संकेत दीख पड़ता है।

भगवान् ने मुर राक्षस का वध किया था, इसलिये उनका एक नाम मुरारी भी प्रसिद्ध है। इसीलिये मुररिपुवराह का अर्थ वराह अवतार है। भगवान् ने वराह का रूप धारण कर के पाताल से भूमि को दाँतों पर उठाकर ऊपर निकाला था और उसे अपनी आधारशक्ति प्रदान करके उसके स्थान पर स्थापित किया था। उसी प्रकार कुण्डलिनी रूपी आधारशक्ति के जागने पर भगवती जन्म-मरणरूपी संसार-सागर में डूबे हुओं का उद्धार करती है। वराह भगवान् का बीज मंत्र 'हूँ' है, अर्थात् 'हूँ' बीज का प्रयोग करने से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह वराह भगवान् के दाँत के सदृश जीवों को संसार-सागर से बाहर निकाल लेती है।

मुररिपुवराहस्य दंष्ट्रा

मुरारि विष्णु भगवान् ने वराह अवतार धारण करके पाताल में धँसती हुई पृथिवी को उभारा था। मूलाधार पृथिवी तत्त्व का स्थान है और चरण पाताल के स्थान माने जाते हैं। जीव ने पार्थिव शरीर में अध्यस्त होकर अपने को अन्धकार में डाल रखा है। जितना-जितना वह मूलाधार से ऊपर उठता जाता है, उसका अध्यास सूक्ष्म होता जाता है

और सहस्रार में पहुँचकर सर्वथा मुक्त हो जाता है। इसलिये जन्म-मरण रूपी संसार की पाताल रूपी दलदल से निकलने के लिये उसे भगवती की वैष्णवी वाराही शक्ति का आश्रय लेना चाहिये। वाराही शक्ति अथवा वाराही विद्या का वर्णन वराहोपनिषत् में मिलता है। वहां ब्रह्मविद्या को ही वाराही कहा है। (देखें—वाराहोपनिषत्—'अतस्त्वद्रूपप्रतिपादितां ब्रह्मविद्यां ब्रुहीति हो वाच' १,१) अर्थात् ऋभु ऋषि वराह भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि आप अपने रूप से प्रतिपादित ब्रह्मविद्या कहिये। भावनोपनिषत् में वाराही शक्ति को पिता समान दिखाया है। (देखें—परिशिष्ट १)। मूलाधार से भी नीचे अधिक अन्धकार के स्थान हैं। मूलाधार और स्वाधिष्ठान को अन्धकारमय आग्नेय मंडल माना जाता है। यदि शरीराध्यास की वृद्धि होती जाय तो जीव अधिकाधिक जड़ता में उतरता जाता है। पातालादि निम्न लोकों को घनान्धकारमय माना जाता है। ईशावास्योपनिषत् में यह बात यजुर्वेदीय निम्नोद्धृत मंत्र द्वारा इन शब्दों में कही गई है—

असुर्या नाम ते लोका अंधेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

अर्थः—अन्धकार से आवृत जो आसुरी लोक हैं, आत्महनन करने वाला मनुष्य मरकर उनमें जाता है।

जड़ पार्थिव शरीर में आत्म-भावना के दृढ़ अध्यास को ही यहां आत्म-हनन कहा गया है। आत्म-स्वरूप को जानने

के लिये इस अभ्यास से उबरना अनिवार्य है और वाराही शक्ति का आश्रय लेकर उससे ऊपर उठा जा सकता है, यह भाव इस श्लोक की अन्तिम पंक्ति में दिखाया गया है ।

[४]

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदो दैवतगण-
स्त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया ।
भयात्त्रातुं दातुं फलमपि च वाञ्छासमधिकं
शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ ॥

अर्थः—तेरे सिवाय अन्य सब देवतागण दोनों हाथों के अभिनय से अभयदान और वरदान देते हैं। तू ही एक ऐसी है जो अभयदान अथवा वरदान देते समय हाथों से अभिनय नहीं करती। भय से त्राण करने में और वांछा के अनुकूल वर प्रदान करने में, हे लोकों की शरण्ये! तेरे दोनों चरण ही निपुण हैं।

सं० टि०—इस श्लोक में भगवती की उपासना के लिए 'ऐं क्लीं सौः' इस बाला मंत्र का संकेत है, जो भुक्ति-मुक्ति दोनों देता है।

वर-अभिनय

देवता दो प्रकार से अनुग्रह करते हैं—१. अभयदान देकर और २. वर प्रदान करके। वरदान से मनोवाञ्छित कामना की सिद्धि होती है। दोनों प्रकार के अनुग्रहों को

हाथों के अभिनय से प्रकट किया जाता है। दक्षिण हाथ उठाकर अभयद अभिनय किया जाता है। और बायें हाथ को, जैसे शिर पर रखते हैं, नीचे झुकाकर कामना सिद्धयर्थ वरद अभिनय किया जाता है। सब देवता और सब गुरुजन इस प्रकार ही अनुग्रह करने की इच्छा से दोनों हाथों के अभिनयों द्वारा अपनी इच्छा प्रकट किया करते हैं। परन्तु भगवती की शरण में सब लोक हैं। भक्त में शरणागति का भाव उदय होते ही उसकी कामना पूर्ण होती है। भगवती चारों हाथों में इक्षुधनुः, ५ बाण और अंकुश एवं पाश धारण किये हुए हैं, इसलिए वह हाथों का अभिनय नहीं करती। उसके दोनों चरण ही भय से रक्षा करने में और सब कामनाओं के लिए सिद्ध वरदान देने में निपुण हैं। कराभिनय द्वारा वर देने की इच्छा को किसी प्रकार प्रकट करने की क्या आवश्यकता है? जो मनुष्य अनन्यभाव से शरण में आता है, उसकी सब कामनाऐं स्वयं पूर्ण हो जाती हैं और सब प्रकार के भयों से उसकी रक्षा हो जाती है।

दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या,
सर्वोपकार करणाय सदार्द्रचित्ता।

शास्त्रों में भगवती को अग्नि के रूप से हवन द्वारा प्रसन्न करने का विधान देखने में आता है। जंगलों में हिंसक पशुओं के भय से रक्षा के लिए प्रज्वलित अग्नि रखी जाती है। अग्नि की सक्षमता से मनुष्य में अभय की भावना स्वतः जाग उठती

है, यह सब का अनुभव है। अंधकार में भय लगता है, दीपक रहने पर भय नहीं लगता। रक्षार्थ दिग्बंधन के मन्त्र द्वारा भी प्रज्वलित अग्नि के परिकोट की भावना की जाती है। यथा:—

नमो भगवति ज्वाला मालिनि देवदेवि सर्व भूत संहार कारिके जातवेदसे ज्वलंति ज्वल-ज्वल प्रज्वल-प्रज्वल ह्लां ह्लीं ह्लूं र र र र र र र हूं फट् स्वाहा, इति परितो वह्निः परिकारं ध्यायेत्।

भय का मूल कारण

सब भयों का एकमात्र कारण यह दुःखालय संसार ही है। यद्यपि विश्व में प्रकृति की रचना सौन्दर्य का घर है। ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति देवी ने अपने स्वाभाविक सौंदर्य का प्रदर्शन करने के लिये ही इस विश्व की रचना की है। तारागण रूपी हीरे-माणिक्यों से जटित आकाश जिसका मुकुट है, तेजपुंज सूर्य, चन्द्र और अग्नि जिसके तीन नेत्र हैं, अन्तरिक्ष जिसका वक्षस्थल और विश्व की चित्र-विचित्र विविध रचनायें जिसके शृङ्गार हैं और जिसके रूप-लावण्य की छाया सर्वत्र बसी हुई है, जिसकी अंगप्रभा सर्वत्र चमक रही है, ऐसा यह विश्व उस भगवती की समस्त सौंदर्यराशि का विकास ही तो है। विश्व की एक-एक गौणाकृति की चमक-दमक पर पतंगवत् मनुष्य मोहित हो जाता है। क्यों न हो? सौंदर्य का भूखा, आनन्द का प्यासा यह जीव एक-एक अणु की प्रभा में इतना आसक्त हो जाता है कि उसकी दृष्टि प्रकृति देवी के समष्टि सौंदर्य तक पहुँच ही नहीं पाती। उसकी एकदेशीय

मोहासक्ति ही उसके दुःख का कारण बन जाती है। दीपक ही पतंग की मृत्यु का कारण बन जाता है।

बाला मन्त्र

अग्नि भगवती का साक्षात् स्थूल स्वरूप है। भगवती के प्रणव का एक रूप 'ऐं' भी है। 'ऐं' अग्नि-तत्त्व का अक्षर है और सुषुम्ना नाड़ी से संबन्धित है, सुषुम्ना को भी आग्नेय माना जाता है। ऐं बीज को वाक् बीज भी कहते हैं, वाक्-शक्ति को भी अग्निमयी कहते हैं। 'तेजोमयी वाक्' ऐसी श्रुति है। ऐं का त्रिकोणाकृति भाग शक्ति का द्योतक है। भगवती का तीसरा नेत्र जो भ्रकुटि के ऊपर स्थित है, वह भी आग्नेय है, जिसके एक कटाक्ष से संसाररूपी भवसागर के भय से मुक्ति मिलती है। इसलिये ब्रह्माजी ने मधु-कैटभ से भयभीत होकर इसी बीज द्वारा भगवती की आराधना की थी। कामनाओं की सिद्धि के लिए काम-बीज का प्रयोग किया जाता है, जिसके गर्भ में आद्योपान्त सारा विश्व है। (देखें श्लोक १९)।

भगवती के दोनों चरण सर्वशक्तिसामर्थ्ययुक्त हैं, उनका प्रतीक सौः बीज समझा जाना चाहिये। 'स' अक्षर शक्ति-वाचक माना जाता है। दो सकारों के लिये द्विवचनान्त 'सौ' पद दोनों चरणों का संकेत करता है। विसर्ग भी शक्ति का ही द्योतक है। इस प्रकार सौः बीज से भगवती के दोनों

चरणों की सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है और तीनों बीजों से सब भयों से मुक्ति और मनोवांछित कामनाओं की सिद्धि देने वाला बाला का मन्त्र सिद्ध होता है। ऐसे ही नवार्ण मंत्र को भी जानना चाहिये।

मोहिनी रूप

कामदेव सब प्रकार के मोहों का राजा है जो तपस्वी-ज्ञानियों के चित्त पर भी प्रहार किये बिना नहीं रहता। मुमुक्षुओं को उससे अपनी रक्षा करने के लिये सब भयों से त्राण करने वाले भगवती के चरणों की ही शरण में जाना चाहिये, बचने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है। यह बात आगे के तीन श्लोकों द्वारा कही गई है।

[५]

हरिस्त्वामाराध्य प्रणतजनसौभाग्यजननीं
पुरा नारी भूत्वा पुररिपुमपि क्षोभमनयत्।
स्मरोऽपि त्वां नत्वा रतिनयनलेह्येन वपुषा
मुनीनामप्यन्तः प्रभवति हि मोहाय महताम्॥

अर्थः—हरि (विष्णु भगवान्) ने पूर्वकाल में, प्रणत-जनों को सौभाग्य प्रदान करने वाली, तेरी आराधना कर के नारी का मोहिनी रूप धारण कर, त्रिपुरारि महादेव के भी चित्त में काम का क्षोभ उत्पन्न कर दिया था। और कामदेव

स्मर भी तुझ को नमन करने के कारण ही अपनी पत्नी रति के नयनों द्वारा चुम्बन किये जाने वाले शरीर से बड़े-बड़े मुनियों के भी अन्तःकरण में मोह उत्पन्न कर देता है।

सं० टि०– श्री अच्युतानन्द जी 'प्रणतजनसौभाग्यजननीं' को 'प्रणतजनसौभाग्यजननि ईं' पढ़कर श्लोक का अर्थ इस प्रकार करते हैं:—हे प्रणतजनसौभाग्यजननि ! हरि तेरी ईं रूप से आराधना कर के मोहिनी का रूप ग्रहण करते हैं। ईं काम-कला है और कादि विद्या का तीसरा अक्षर है और अनुस्वार (शिव) सहित माया, लक्ष्मी और काम-बीजों में रहता है। इस श्लोक से साध्य-सिद्धासन-विद्या (ह्रीं क्लीं ब्लें) का उद्धरण किया जाता है।

पुराणों की गाथा के अनुसार देवता और असुरों ने मिलकर समुद्र का मंथन किया था। मंथन करने पर समुद्र से अनेक पदार्थ निकले, जिनके साथ अमृत और हलाहल विष भी निकले थे। अमृत के बटवारे के लिये दोनों में विवाद उपस्थित हुआ। इस पर विष्णु भगवान् ने मोहिनी रूप धारण किया और अमृत का कलश लेकर उसके बाँटने का काम करने लगे। देव और असुरों को अलग-अलग दो पंक्तियों में बिठा दिया गया। मोहिनी के नेत्रों के कटाक्षों और अंगों के हावभावों से सब असुर मोहित हो गये और सारा अमृत देवताओं को बाँट दिया गया। वे अमृत पीकर अमर हो गये और असुर मर्त्य रह गये। अमृत के पूर्व जो हलाहल निकला था, उसके प्रभाव से जब सारा विश्व जलने

लगा, तब देव और असुर दोनों ही घबरा गये। उस समय करुणासागर शंकर भगवान् ने उसे पान करके सबकी रक्षा की थी। इसके पश्चात् शंकर एकान्त में जाकर समाधिस्थ होकर बैठ गये। उठने पर उन्होंने जब मोहिनी रूप द्वारा असुरों के ठगे जाने की बात सुनी, तब विष्णु भगवान् से उस मोहिनी रूप को देखने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने वह रूप फिर शंकर को भी दिखाया। उसे देखकर शंकर इतने मोहातुर हुए कि काम के क्षोभ से अपने को भूलकर मोहिनी के पीछे दौड़ने लगे।

अमृत और विष

पुराकाल में कश्यप नाम के एक प्रजापति थे। वे कश्यप सागर के तट पर रहा करते थे। शायद वह कश्यप सागर योरोप और एशिया के मध्यवर्ती मधुर जलयुक्त महान् सरोवर आधुनिक 'कैस्पियन सी' ही हो। इसलिये इस पौराणिक गाथा को उस युग का स्मारक कहा जा सकता है जब कि आर्य जाति मध्य एशिया में निवास करती थी। कश्यपदेव की दो स्त्रियां थीं—दिति और अदिति। दिति की सन्तान दैत्य अर्थात् असुर हुए और अदिति की देव। पश्चिम में रहने वाली अनार्य जातियां दैत्य कहलाती थीं और आर्य जाति के लोग देव कहलाते थे। दैत्यों को संस्कृत में दानव भी कहते हैं। फारसी का दाना (बुद्धिमान्) शब्द दानव का ही अपभ्रंश दिख पड़ता है और फारसी में देव शब्द विशाल,

भयंकर व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जिसे अंग्रेजी में जायंट giant कहते हैं। परन्तु योरोप की भाषाओं में देव शब्द ने अपना स्वरूप तद्रूप ही रखा है, जैसे डिवाइन, डियू (Divine, dieu)। संस्कृत के इन दोनों शब्दों के विपरीत और विरोधी मनोवृत्तियों और संस्कृतियों पर प्रकाश डालते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस गाथा का महत्व समझने योग्य है, इसलिये उसे समझाना हम उचित समझते हैं। यह संसार एक महासागर है, जो अनेक रत्नों की खान है। प्राकृतिक विज्ञान के विषय ही वे रत्न हैं जिनको प्राप्त करने के लिये ध्यान रूपी मथानी से उसका मन्थन किया जाता है। मथानी को घुमाने के लिए उस पर एक रस्सी लपेटी जाती है, वहां वासुकी नाग से यह काम लिया गया था। मन ही वह वासुकी नाग है जिसने सारे जगत् को डस रखा है। उसका मुख बहिर्मुखी और पूंछ अन्तर्मुखी है। मुख की ओर से असुर बाह्य विषयों की ओर खींचते हैं और पूंछ की ओर से देवगण अन्तरात्मा की ओर खींचते हैं। वृत्तियां भी आसुरी और दैवी विख्यात हैं। तब उस मन रूपी रस्सी को तानकर खींचने से ध्यानरूपी मन्थन आरम्भ होता है।

आसुरी प्रवृत्ति वाले मनुष्य बहिर्विषयों पर ध्यान जमाकर भौतिक विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करते हैं और देवता अन्तरात्मा की आध्यात्मिक खोज के लिये चिंतन करते हैं।

आत्मज्ञान अमृत है और भौतिक विज्ञान में विष रहता है। आधुनिक वैज्ञानिक रहस्योद्‌घाटनों का फल नश्वर है और उनका प्रयोग जगत् के विनाश के लिये ही अधिक किया जाता है। जहाँ तक उनका सम्बन्ध सांसारिक वैभव से है, वह भी यद्यपि मानव-जाति के सुख की मात्रा बढ़ाने की इच्छा से किया जाता है, परन्तु सुख की वृद्धि के साथ दुःखों की भी वृद्धि करता है। सुख-दुःख दोनों बराबरी के साथी हैं, दोनों एक ही सिक्के (मुद्रा) के दो पार्श्व हैं और दोनों का मूल्य उस सिक्के के बराबर है। अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर दोनों से मुक्ति पाना ही अध्यात्म मार्ग का ध्येय है।

भगवान् की मोहिनी माया बहिर्मुखी वृत्ति वालों को सदा अमृत-पान से वंचित करती रहती है, यहाँ तक कि शंकर भगवान् की भी समाधि कभी-कभी भंग हो जाती है। शंकर भगवान् ने अमृत-पान की इच्छा नहीं की, वे तो पूर्व से ही अमर थे और विष को पीकर भी नहीं मरे, तो भी मोहिनी शक्ति की भ्रांति में वे भी कुछ समय के लिये आ ही तो गये! यह मोहिनी माया इतनी प्रबल है। इसलिये मुमुक्षुओं को संसार-सागर के रत्नों की प्रेयासक्ति छोड़कर, तितिक्षा सहित दुःखों को सहन करते रहना चाहिये। आत्मा अमर है, उसे कोई हलाहल मार नहीं सकता।

दुःखों से उद्विग्न न होना और सुखों की स्पृहा का त्याग करना ही स्थितप्रज्ञता का लक्षण है।

भगवान् का भगवती की आराधना करके मोहिनी रूप से भगवती के नारी-सौन्दर्य का आश्रय लेना ही उसकी आराधना है।

हादि विद्या मोक्ष देती है, उसका प्रथम अक्षर 'ह' कार शिववाचक है। वैष्णवी विद्या में छः कूट होते हैं, प्रथम तीन कूटों में हादि विद्या ज्यों की त्यों है और अन्य तीन कूटों के प्रथम दो कूटों में ह स के स्थान पर स ह और अन्तिम कूट में स ह पूर्व में जोड़कर षडाक्षरी कूट मंत्र बनाया गया है। इस प्रकार आधा मंत्र शिव-प्रधान है और आधा शक्ति-प्रधान कर दिया गया है।

भगवान् का एक नाम हरि है—ह+अ+र्+इ। इनमें हकार शिव-वाचक है, अकार भी ब्रह्मपद वाचक है—'अक्षराणामकारोऽस्मि' (गीता)। अकार को हटाकर, र में जो ह्रस्व इकार है, उसे दीर्घ कर देने से ह्रीं पद बनता है। रकार अग्नि का अक्षर होने से शक्ति-वाचक है और दीर्घ इकार भी। इस प्रकार ह्रीं (लज्जा) पद बनता है। उस पर अनुस्वार रूपी प्राणप्रतिष्ठा करने से मोहिनी माया का रूप बन जाता है। इस प्रक्रिया में पुरुषवाचक अकार को हटाकर और इकार को दीर्घ करके स्त्रीलिंग बनाया गया है। ह्रीं का अर्थ लज्जा होने के कारण ह्रीं को मोहिनी रूप कहना यथार्थ ही है।

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

साध्य सिद्ध विद्या

कामदेव ने कादि विद्या मूलमंत्र की ही उपासना की थी। कामदेव प्रजनन शक्ति का देवता है और ईश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से ही उसका उदय होता है। भगवान् ने भी कहा है कि धर्म के अविरुद्ध काम मेरा ही रूप है। परन्तु रजोगुण से उत्पन्न होने के कारण वह सत्त्वगुण का बाधक भी है। रति उसकी पत्नि है। दोनों का रूप अति सुन्दर है, परन्तु कामदेव का शरीर तो इतना सुन्दर है कि रति भी उसके रूप का अपने नेत्रों से सदा चुम्बन किया करती है अथवा दृष्टि रूपी जिह्वा से उसके रूप का रसास्वाद किया करती है। कामदेव का सामर्थ्य भी इतना अधिक है कि बड़े-बड़े मुनियों के चित्त को भी क्षुब्ध कर देता है। यह सब भगवती की उपासना का ही फल है, क्योंकि कादि विद्या की उपासना से रूपलावण्य सहित सब ही सिद्धियों की प्राप्ति होती है। व्लें रति का मंत्र है, व् और ल् उसके नेत्र हैं और ए शक्ति रूप है। उपरोक्त 'वपुषा' पद से व्, 'लेह्यंत' पद से ले और 'महतां मुनिनाम्' पद से अनुस्वार लेकर उक्त बीज का उद्धरण किया जाता है। माया बीज और काम बीज के योग से अच्युतानन्द स्वामी ने इस श्लोक से 'ह्रीं क्लीं व्लें' इस साध्यसिद्ध मंत्र का उद्धार किया है। इस मन्त्र से हृदय चक्र और महानाद के ऊपर शक्ति का न्यास किया जाता है। इसका फल सर्व सौभाग्य की प्राप्ति

है जैसा कि 'प्रणतजन सौभाग्यजननीं' पद से स्पष्ट है।

अगले श्लोक में कामदेव के सामर्थ्य का वर्णन है।

[६]

धनुः पौष्प मौर्वी मधुकरमयी पंचविशिखा
वसंतः सामन्तो मलयमरुदायोधनरथः।
तथा ऽप्येकः सर्वं हिमगिरिसुते ! कामपि कृपा—
मपांगात्ते लब्ध्वा जगदिद (न) मनंगो विजयते ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—विशिख=बाण। मौर्वी=रस्सी। अपांग=कटाक्ष।

अर्थः—धनुष पुष्पों का बना है, उसकी रस्सी (ज्या) भौरों की बनी है, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध—पांच विषय उसके बाण हैं, वसन्त ऋतु उसका योद्धा सामन्त है, मलयागिरि का शीतल, मंद, सुगन्धित पवन उसका युद्ध में बैठने का रथ है और वह स्वयं अनंग (शरीर रहित) है,—ऐसा कामदेव ऐसे शस्त्रों को लेकर सारे जगत् को अकेला जीत लेता है। हे हिमगिरिसुते ! यह सामर्थ्य केवल तेरे कटाक्ष से कुछ थोड़ी-सी ही कृपा प्राप्त करने का फल है।

सं० टि०—इस श्लोक से काम बीज क्लीं का उद्धरण किया जाता है। काम से क कार, मलय से ल कार, मौर्वी से ई और पौष्पं से अनुस्वार लेना चाहिये।

काम-दहन आख्यान

कामदेव अनंग है, शंकर ने उसका देह भस्म कर दिया था। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में अपने पति का अपमान न सहन करने के कारण सती ने योगाग्नि से अपना देह भस्म कर दिया था। ठीक ही तो है, शिव-द्रोही, मोहासक्त, प्रजा उत्पन्न करने में दक्ष, प्रजापतियों के देह से पैदा होने वाली वह सती शक्ति उनके सकाम यज्ञों में अपने ईश्वर का निरादर कैसे सहन कर सकती है ? प्रजापति से यहाँ हमारा अभिप्राय राजे-महाराजाओं से नहीं है, हमारे विचार से तो प्रत्येक गृहस्थ, जो बच्चे पैदा करने में ही कुशल है, अपनी प्रजा का छोटा-मोटा प्रजापति ही है। अस्तु ! दक्ष प्रजापति के यज्ञ में सती के देह-त्याग के पश्चात् शंकर दीर्घकालीन समाधि लगाकर बैठ गये और सती ने पर्वतराज हिमालय के घर जन्म ग्रहण किया। पार्वती ने शिवजी के साथ विवाह करने का हठ किया और उग्र तप करने लगीं। तब देवताओं ने कामदेव को शिवजी की समाधि खोलने के लिये भेजा। कामदेव सशस्त्र उपरोक्त सेना लेकर शिवजी के स्थान पर पहुँचा। वहाँ वसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव हुआ, मलयागिरि की शीतल मंद सुगन्धित वायु चलने लगी, पुष्प खिल गये जिन पर भौंरे गूंजने लगे और कामदेव ने अपने पाँचों बाणों का शिवजी पर प्रहार किया। बस, शिवजी की समाधि खुल गई। उन्होंने सामने कामदेव को एक झाड़ के पीछे खड़ा

देखा। उसको अपनी समाधि में विघ्नरूप देखकर शिवजी ने तीसरा ज्ञान-नेत्र खोला और ज्ञानाग्नि से उसे भस्म कर दिया। तब से काम अनंग हो गया है। उसकी पत्नी रति ने पार्वती से अपना शोक सुनाया। भवानी ने कृपा करके उसे फिर जीवित कर दिया। अब वह अनंग होने पर भी कामियों को अपने प्रभाव से पराजित करके सारे जगत् का विजेता कहलाता है। प्रभव के लिये मैथुनिक सृष्टि की आवश्यकता है और काम के बिना सृष्टि-प्रभव संभव नहीं है। भगवान् ने भी कहा है - 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

परन्तु काम समाधि के लिये बहुत बड़ा विघ्न है, बड़े-बड़े योगियों को भी पथभ्रष्ट कर देता है। जो शंकर की भी समाधि खोल सकता है, उसकी दुर्जयता प्रत्यक्ष ही है। काम-वासना का क्षय ज्ञान के उदय होने पर ही होता है, इससे पूर्व नहीं। यही इस आख्यायिका का अभिप्राय है। श्लोक में काम को सारे जगत् का विजेता कहने से, साधकों का लक्ष्य काम-वासना के प्रभाव की ओर आकर्षित करना है, जिसे भगीरथ प्रयत्नों से भी शमन किया जाना कठिन है। परन्तु कामदेव का सारा सामर्थ्य भगवती के अति स्वल्प कृपा-कटाक्ष का ही तो फल है! इसलिये मुमुक्षु साधकों को इस दुर्जय शत्रु से बचने के लिये भगवती की ही शरण में जाना चाहिये। भगवती के ध्यान-मात्र से ही काम से रक्षा हो सकती है।

अगले श्लोक में भगवती का ध्यान बताया जाता है:—

[७]

क्वणत्कांचीदामा करिकलभकुम्भस्तनभरा (भता)
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना ।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलै:
पुरस्तादास्तां न: पुरमथितुराहो पुरुषिका ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ:—कांची=मेखला जो स्त्रियां कटि पर पहनती हैं। दाम=बन्धनी, तगड़ी । कलभ=बच्चा । सृणि=अंकुश ।

अर्थ:—कटि पर कण-कण शब्द करने वाले घूंघुरुओं युक्त मेखला बांधे हुए, हाथी के बच्चे के मस्तक पर निकले हुए कुंभ सदृश स्तनों के भार से झुकी हुई, मध्य भाग में पतली, शरद् ऋतु की पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे मुख वाली, चारों हाथों में धनुष, ५ बाण, पाश और अंकुश धारण किये पुरारि की आहो पुरुषिका हमारे सामने (ध्यान में) रहें।

सं० टि०:—आहो पुरुषिका=पुरमथितु: शिवस्य अहंकार रूपा। त्रिपुरारि अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति- तीनों से अतीत ब्रह्मस्वरूप में अहम् विमर्ष का व्युत्थान होना यहां अभिप्रेत है। इस श्लोक से ब्लूं बीज ग्रहण किया जाता है, बाण से ब्, करतल से लू, मथितु: से उ और आस्तां से अनुस्वार।

देवताओं का ध्यान खड़ी हुई स्थिति में किया जाता है,

इसलिये सनातन धर्मावलंबियों के मंदिरों में खड़ी मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि खड़ी स्थिति में उपासक की दृष्टि चरणों पर पड़ती है और बैठी हुई मूर्ति के मुख पर। ध्यान चरणों का ही अभीष्ट है, पूजन भी चरणों का ही करना चाहिये।

पुरारि या त्रिपुरारि शंकर को कहते हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन पुर हैं, शंकर इन तीनों अवस्थाओं के वैरी हैं, क्योंकि वे सदा समाधिस्थ रहते हैं। मोक्ष ब्रह्मलीनता का नाम है। ब्राह्मी अवस्था में तीनों लोकों का एवं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का समस्त लय हो जाता है। श्रीमद्भागवत् में कहा है:—

न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो नो महदादयोऽमी
न प्राणबुद्धीन्द्रिय देवता वा न सन्निवेशः खलुलोक कल्पः।
न स्वप्न जागर्न हि तत्सुषुप्तं न खंजलंभूऽनिलोऽग्निरर्कः
संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति ॥

अर्थः—जहां न वाक्-शक्ति है, न मन, न सत्त्व, तमोगुण, रजोगुण, न ये महदादि हैं। न कर्मेन्द्रियों अथवा ज्ञानेन्द्रियों के देवता हैं और निश्चय ही न लोकों की कल्पना रूपी प्रतीति है। न वह स्वप्न है न जाग्रत और सुषुप्ति, न वहां आकाश, जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि या सूर्य है। सुषुप्तिवत्, शून्यवत् अप्रतर्क्य ही वह मूल-भूत पद है।

माया का बन्धन

आहो पुरुषिका पद भगवती के लिए प्रयुक्त किया गया है। आहो आश्चर्यसूचक पद है और पुरुषिका पुरुष का स्त्रीलिंग भाव-वाचक पद है। अर्थात् भगवती का रूप आश्चर्यमय है। आत्मा प्रकृति से असंग है। 'असंगोऽयमात्मा'—यह सांख्य-वेदान्त का मूल सिद्धान्त है। परन्तु उपाधि से उसी में संसारी जीवात्मशक्ति का भी भाव है। भगवान् ने उसे इसी नाते परा प्रकृति कहा है –

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥—गी० ७,५

जैसे स्फटिक के ऊपर, सन्निधि में आये हुए पदार्थों के रंग की छाया पड़कर उसे अपने रंग से रंजित कर देती है, वैसे ही आत्मा भी प्रकृति के संसर्ग से संसारी पुरुष दिखने लगता है। पुरुषिका पद में यही भाव निहित है। माया कला के स्तर पर काल, कला, नियति, विद्या और राग—इन पांच कंचुकों के आवरणों से स्फटिक-सदृश आत्मतत्त्व सोपाधिक होने पर प्रकृति के रंग में रंगा हुआ दिखने लगता है। और भगवती महामाया मनरूपी इक्षु धनुष पर, जिस पर संकल्प रूपी भौरों की प्रत्यंचा चढ़ी है, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक पांच विषयरूपी बाणों को चढ़ाकर पुरुष का आखेट करती है। राग रूपी पाश से बांधती है और क्रोध रूपी अंकुश से ताड़न करती है। परन्तु उसका अंकुश भी, मां का क्रोध होने

के कारण, खांड का बना हुआ है। इस प्रकार वह पुरुष को अपरा प्रकृति के स्तर पर बांध देती है। इक्षु मधुर रस से भरा रहता है, इसलिये आनन्द रस के भोगी मन को इक्षु धनुष से उपमित किया गया है। मन में सदा संकल्प-विकल्प रूपी भौंरे उड़ते रहते हैं, उनको धनुष की प्रत्यंचा से उपमा दी गई है। जैसे वे पुष्पों के मकरन्द की कामना से आकाश में गुंजारते रहते हैं, वैसे ही मन की संकल्पात्मिका वृत्तियां विषयों की वासना से चित्ताकाश को प्रतिध्वनित करती हुई उड़ती रहती हैं। पांचों ज्ञानेन्द्रियों से संबन्धित ५ प्रकार के विषय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक पांच पुष्प-बाण हैं। राग अर्थात् आसक्ति ही वह पाश है जिससे सारा जगत् बंधा पड़ा है। क्रोध अथवा द्वेष प्रकृति का अंकुश है, जिससे विद्ध मनुष्य कौन-सा पाप-कर्म करने को बाध्य नहीं हो जाता ? इस प्रकार पुरुष को पशु के सदृश वश में रखकर प्रकृति उससे अपने सृष्टिक्रम का कार्य कराती है। भौरों की प्रत्यंचा पर चढ़े हुए उपरोक्त पांच पुष्प-बाण वाला इक्षु-धनुष कामदेव का भी अस्त्र है, और कामिनी स्त्री स्वयं शक्ति का ही रूप है। इसलिये कामी मनुष्यों को भोगासक्ति में फंसाने के लिये मानो महामाया ने अपना ही धनुष कामदेव को दे दिया है, क्योंकि बिना ऐसे अस्त्र के भगवान् का सनातन अंश बंधन में नहीं आ सकता था।

भगवान् की लीला विचित्र है, अपनी ही शक्ति से वह

स्वयं ही बंध जाता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह स्वयं स्त्री है और स्वयं पुमान्। आत्मतत्त्व में लिंगभेद का भाव नहीं। वह स्वयं माया है और स्वयं मायावी, स्वयं नट है और स्वयं दर्शक, स्वयं ईश्वर है और स्वयं दास। कृष्ण राधा है और राधा कृष्ण, राम सीता है और सीता राम, शिव शक्ति है और शक्ति स्वयं शिव। इसी प्रकार वह आप ही रति है और आप ही काम।

सब प्राणिमात्र का अन्तरात्मा स्वयं एक ईश्वर ही है जो एक रूप से अनेक हो रहा है, जैसा कि उसका आदि संकल्प था—'एकोऽहम् बहुस्यां प्रजायेयेति।'

इसलिए साधकजनों को महामाया के आखेट से बचने के लिये कामिनी के काम-बाणों से बचना चाहिये और भगवती के चरणों का हृदय में ध्यान करना चाहिये।

'सो परनारि लिलार गुसाईं। तजहु चौथ चन्दा की नाईं॥'

—रामायण

क्योंकि—'विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः,
स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु।'

भगवती के नीचे के वाम हस्त में पाश और ऊपर के वाम हाथ में धनुष, दक्षिण हाथों में नीचे अंकुश और ऊपर ५ बाण हैं। अगले श्लोक में भगवती के ध्यान के लिए पीठ का वर्णन किया गया है।

[८]

सुधासिंधोर्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते
मणिद्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणिगृहे।
शिवाऽऽकारे मंचे परमशिवपर्यङ्क निलयां
भजन्ति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्दलहरीम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—शिवाकारे=त्रिकोणाकृति। निलय=आलय।

अर्थः—सुधा के समुद्र के मध्य, कल्पवृक्षों की वाटिका से घिरे हुए मणि द्वीप में, नीप वृक्षों के उपवन के बीच चिन्तामणियों के बने घर में, त्रिकोणाकृति मच पर, परमशिव के पलंग पर विराजमान चिदानन्दलहरी स्वरूप तेरा कोई विरले ही मनुष्य भजन करते हैं, वे धन्य हैं।

सं० टी०—शिवाकारे=शिव+आकारे अथवा शिवा+आकारे। यहां हृदय में आनन्दावेश की अनुभूति की ओर लक्ष्य कराया गया है। ॐकार में अ+उ+म्+नाद+बिन्दु+शान्ति (कला)+शान्त्यातीता-सात मात्रा मानी जाती हैं। अ ब्रह्मा, उ विष्णु, म् रुद्र, नाद ईश्वर, बिन्दु सदाशिव, शान्ति शक्ति और शान्त्यातीत शिव हैं। प्रथम चार मंत्र के चार पाये, बिन्दु चादर और शिवाकार मंच पर विराजने वाली चिदानन्दलहरी अथवा परमशिव-पर्यंकनिलया चिदानन्दलहरी है।

भगवती के भजन से प्राप्त चिदानन्द के आवेशों का अनुभव करने वाले साधक थोड़े ही होते हैं। वे वास्तव में

धन्य हैं जिन पर भगवती की ऐसी कृपा होती है। भगवती का ध्यान परम शिव के साथ करना चाहिये, यह बात पूर्व श्लोकोक्त 'पुरमथितुराहो-पुरुषिका' पद से भी प्रकट होती है। सत्य बात तो यही है कि सच्चिदानन्द के आनन्दावेशों की अनुभूति में स्वयं भगवती की ही कृपा की अनुभूति है, अर्थात् परब्रह्म के शून्य अव्यक्त सत्स्वरूप आकाश में शून्य रूपी पलंग पर चिदानन्द की लहरी विराजती हैं। पलंग एक त्रिकोण मंच पर बिछा हुआ है, मंच चिन्तामणियों के बने हुए घर में स्थित है, घर के चारों ओर नीप वृक्षों का उपवन है, वह उपवन एक मणियों के द्वीप पर लगाया गया है। द्वीप के चारों किनारों पर कल्पवृक्षों का घेरा है और वह द्वीप अमृत के समुद्र में स्थित है। ऐसा भगवती के रहने का स्थान है।

निःस्पन्द परमशिव आनन्दब्रह्म परमपद सुधासिंधु है और चिदानन्दलहरी स्वयं चितिशक्ति है, जिसका स्थान सहस्रार पद्म में है। सहस्रार ही वह मणिजटित द्वीप है, जिसके चारों ओर कल्पवृक्षों का घेरा है और मध्य में नीप वृक्षों का उपवन है, जिसमें चिन्तामणियों से घर बनाया गया है, उसमें ▽ त्रिकोणाकृति अकथ अथवा गुरु-चक्ररूपी मंच पर बिन्दु रूपी पलंग बिछा हुआ है। वहां सच्चिदानन्द की प्रथम स्पन्दस्वरूपा चिदानन्दलहरी शिव के साथ विहार करती है, जिसका उल्लेख अगले श्लोक में आयेगा। अकथ त्रिकोण चक्र की तीनों भुजाओं के बाहर क्रमशः १६ स्वर,

क से त तक १६ व्यंजन तथा थ से स तक १६ अक्षर विराजते हैं और तीनों कोणों में ह क्ष ल तीन अक्षर हैं। अ, क, थ से युक्त अन्य १५ अक्षरों के कारण, तीनों भुजाएँ इन अक्षरों से नामांकित की जाती हैं और चक्र का नाम अकथ कहा जाता है। अकथ का अर्थ अकथनीय अथवा अनिर्वचनीय होता है। सब वर्ण चिन्तामणियों के सदृश हैं जिनसे यह घर बना है। इसके चारों ओर सहस्र अरे (radii) नीप वृक्ष हैं और उनसे उदय होने वाले संकल्प कल्पवृक्ष हैं। भगवती के पलंग का वर्णन ६२वें श्लोक में देखें। वहां हरि, रुद्र, ब्रह्मा और महेश्वर को पलंग के चार पाये बताया गया है और सदाशिव को पलंग पर बिछाने की चद्दर से उपमा दी गई है। अथवा ॐ पलंग है तथा अ, उ, म् और अनुस्वार उसके चार पाये हैं। अथवा मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत चक्र चार पाये हैं और विशुद्ध चक्र उस पर बिछी चादर है। देह श्रीचक्र है। श्रीचक्र भगवती का निवासस्थान माना जाता है (देखें श्लोक ११)। श्रीचक्र में बिन्दु को पलंग का स्थान, त्रिकोण को अकथ चक्र, ४३ त्रिकोणों को नीप वृक्ष और ४ श्रीकंठ तथा ५ शिवयुवतियों को कल्पवृक्ष समझना चाहिये। अ से स तक वर्ण वामावर्त लिखे जाने चाहियें—'वामावर्त्तेन विलिखेदकथादि त्रिकोणकम्' —(शाक्तानन्द तरंगिणी)।

इस श्लोकोक्त 'चिदानन्दलहरी' पद के कारण प्रथम ४१

श्लोकों के ग्रन्थ के पूर्व भाग को आनन्दलहरी कहते हैं। आनन्द से 'क' और लहरी से 'ल ह्रीं' लेकर हादि विद्या के तीनों कूटों को ग्रहण किया जा सकता है। कं* सुख-वाचक शब्द है—कं ब्रह्म, और प्राण-वाचक भी है। देखें छान्दोग्य ४, १०, ५)। इस श्लोक की अघले श्लोक से संगति करने से हादि विद्या को षट्चक्र-वेध विद्या समझना चाहिये।

षट्चक्र-वेध अर्थात् उन्नेय भूमिका

[९]

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥

अर्थः—पृथिवी तत्त्व को मूलाधार में और जल को भी (मूलाधार में ही), मणिपूर में अग्नितत्त्व को जिसकी स्थिति स्वाधिष्ठान में है, हृदय में वायु तत्त्व को और ऊपर विशुद्ध (चक्र) में आकाशतत्त्व को और मन को भी भ्रूमध्य में—इस प्रकार सकल कुल-पथ (शक्ति के मार्ग) का वेध करके तू सहस्रार पद्म में अपने पति के साथ एकान्त में विहार करती है।

---

*नोटः—कं शिरः सुख वारिषु-विश्वः, सुखशीर्ष जलेषु कं इति मेदिनी।

सं० टि०:—यहां अन्तर्याग का वर्णन है। कुण्डलिनी शक्ति का षट्चक्र-वेध पूर्वक आरोहण बताया गया है।

व्याख्या:—षट्चक्र-निरूपण, शिव संहिता और अन्य ग्रन्थों में बिना मतभेद षट्चक्रों का क्रम इस प्रकार देखने में आता है कि गुदा के पास पृथ्वीतत्त्व का मूलाधार चक्र है, उपस्थ के निकट जलतत्त्व का स्वाधिष्ठान चक्र, नाभि के पास अग्नितत्त्व का मणिपूर चक्र, हृदय के पास वायुतत्त्व का अनाहत चक्र, कंठ में आकाशतत्त्व का विशुद्ध चक्र और भ्रूमध्य के पास मनश्चक्र है जिसको आज्ञा चक्र कहते हैं। परन्तु सौन्दर्यलहरी में इस क्रम में अन्तर दिखता है जिसके अनुसार उपस्थ के पास जलतत्त्व का मणिपूर और नाभि में आग्नेय स्वाधिष्ठान चक्र होना चाहिये। तत्त्वों का क्रम तो वही है, परन्तु चक्रों के नामों के क्रम से उपस्थ के चक्र का नाम मणिपूर और नाभिचक्र का नाम स्वाधिष्ठान प्रतीत होता है।

शंकर भगवत्पाद ने यद्यपि इन दो चक्रों के स्थानों का संकेत नहीं किया है, परन्तु नामक्रम से यही प्रतीत होता है कि उनको उपस्थ वाले चक्र का नाम मणिपूर और नाभि के चक्र का नाम स्वाधिष्ठान अभिमत था। परन्तु हमारी राय में ऐसा नहीं है, केवल तत्त्वों के वेध-क्रम में अन्तर है। समयाचार के मतानुसार उपस्थ वाले चक्र का वेध करना उचित नहीं समझा गया, क्योंकि इस चक्र के वेध से काम-वासना की वृद्धि होकर बज्रौली इत्यादि क्रियाओं द्वारा

The different yogic plexuses योगिक चक्र



ऊर्ध्वरेता होने की सिद्धि प्राप्त की जाती है, जो कौलाचार को अभीष्ट है, समयाचार को नहीं। इसलिये यहां समयाचार के अनुसार वेध-क्रम दिया गया है। वह इस प्रकार है कि मूलाधार के वेध द्वारा पृथिवी तत्त्व का और साथ ही वहीं जलतत्त्व का भी वेध किया जाना चाहिये। 'अपि' शब्द का 'कं' के साथ प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है, नहीं तो अपि शब्द वृथा-सा दिखता है। फिर स्वाधिष्ठान को छोड़-कर नाभि वाले मणिपूर में अग्नि का वेध किया जाता है; परन्तु अग्नितत्त्व की स्थिति योनि-स्थान में होने के कारण स्वाधिष्ठान में दिखाई गई है अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र में नीचे अग्नि, ऊपर जल दोनों का संधि-स्थान है क्योंकि योनि-स्थान मूलाधार और स्वाधिष्ठान के मध्य भाग में स्थित है। इसलिये अग्नि के प्रदीप्त होने पर मूलाधारस्थ पृथिवी और स्वाधिष्ठा-नस्थ जल दोनों का वेध मूलाधार के वेध के साथ हो जायगा।

हमारे इस मत को हंसोपनिषत् से पुष्टि मिलती है। वहां गुदा चक्र से वायु का उत्थान करके मणिपूर चक्र में ले जाने का विधान किया गया है, बीच में स्वाधिष्ठान चक्र का वेध न करके उसकी तीन बार प्रदक्षिणा करने की आज्ञा है—

'गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं च गत्वाऽनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान् निरुध्याज्ञा-मनुध्यायन् ब्रह्मरंध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा ध्यायेत्।'

अर्थ:—गुदा-द्वार को रोककर, आधारचक्र से वायु को उठाकर, स्वाधिष्ठान की ३ बार परिक्रमा करके मणिपूर में जाकर, अनाहतचक्र का अतिक्रमण करके विशुद्धचक्र में प्राणों का निरोध करे और अज्ञाचक्र में ध्यान करता हुआ, फिर ब्रह्मरंध्र का ध्यान करता हुआ 'मैं तीन मात्रा से युक्त ॐ हूँ' सदा ऐसा ध्यान करे। अर्थात् 'मैं जाग्रतावस्था में वैश्वानर अकार, स्वप्नावस्था में तैजस उकार और सुषुप्ति में प्राज्ञ मकार हूँ', इस प्रकार सदा ध्यान करता हुआ शुद्ध स्फटिक-सदृश नाद का आधारचक्र से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त ध्यान करना चाहिये।

विन्दु और बीज के योग से नाद की उत्पत्ति होती है। कहा है—'विन्दुः शिवात्मको बीज शक्तिर्नादस्योर्मितः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः॥'

स्थूल रूप में बिंदु शुक्र है और बीज रज है। ऊर्ध्वरेता होने पर दोनों का समवाय अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण नाद कहलाता है। समयाचार की विधि भावना-प्रधान होती है और भावना-युक्त साधन द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की जाती है। कौलाचार में जो ऊर्ध्वरेतस् की सिद्धि स्वाधिष्ठान चक्र के वेध द्वारा की जाती है, उसे समयाचार वाला आज्ञा चक्र में मन का वेध करके करता है। हंसोपनिषत् के उपरोक्त क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र की ३ बार प्रदक्षिणा करके ऊपर उठ जाने के साधन में स्वाधिष्ठान चक्र के वेध

का निषेध किया गया है। उसकी तीन बार प्रदक्षिणा करनी चाहिये, क्योंकि यहां शक्ति की पीठ है, जैसा कि नाम से प्रकट है (स्व+अधि+स्थान=स्वाधिष्ठान)। मूल बंध द्वारा आधार चक्र का वेध होकर पृथ्वी और जल दोनों का एक साथ वेध होगा, क्योंकि मूलबन्ध के अभ्यास से योनिस्थान, जो दोनों चक्रों के मध्य में है और अग्नि का स्थान है, दबता है। योनिस्थान पर दबाव पड़ने से अग्नि प्रदीप्त होकर पृथ्वी और जल दोनों का वेध एक साथ कर देती है। अग्नितत्त्व का वेध मणिपूर अर्थात् नाभिचक्र में होता है और वह वहां विद्युत् का रूप धारण कर लेती है, जैसे ग्रीष्म ऋतु में जल का वेध होकर वर्षा ऋतु में मेघों में विद्युत प्रकट हुआ करती है। योनिस्थान में प्रदीप्त अग्नि नीचे मूलाधार में पृथ्वीतत्त्व को तपाता है और ऊपर स्वाधिष्ठान में जल को। जल वाष्प बनकर मणिपूर (नाभिचक्र) में मेघवत् आच्छादित हो जाता है और वहां अग्नि का वेध होकर वह विद्युत् का रूप धारण कर लेती है (देखें श्लोक ३६, ४०)। ग्रीष्म ऋतु में गरमी से पृथ्वी तप्त होकर जल सूखने लगता है, यह जल वेध है। वर्षा में वही जल मेघों के रूप में परिणित हो जाता है और उनके ताप से विद्युत प्रकट होती है, यह अग्नि का वेध है।

चक्रों का स्थान मेरुदंड (spinal bone) के भीतर नीचे से मस्तिष्क तक उठने वाली सुषुम्ना नाड़ी (spinal

cord) में है। इसके द्वारा शरीर की नाड़ियों का मस्तक से सबन्ध है। गुदा के पीछे एक मांसपेशी है, जिसे कंद कहते हैं। उसकी नाभि अर्थात् केन्द्र में कुण्डलिनी स्वयंभूलिंग पर साढ़े तीन कुण्डल डाले सोती रहती है। जागकर वह स्वाधिष्ठान चक्र में रहने लगती है। उस अवस्था में जीव को बिन्दु रूपी शिव कहते हैं और कुण्डलिनी को जीव रूपा शक्ति।

आज्ञा चक्र में चढ़कर वही परमात्मा रूपी शक्ति त्रिपुरा कहलाती है जो सहस्रार में शिव के साथ सायुज्यता प्राप्त कर लेती है। षट्चक्र वेध के पूर्व शक्ति का रूप जीवात्मिका समझना चाहिये। जीवात्मिका का स्थान स्वाधिष्ठान और शिवात्मिका का स्थान विशुद्ध चक्र है।

मूलाधार और स्वाधिष्ठान को अग्नि खंड, मणिपूर और अनाहत को सूर्य खंड और विशुद्ध एवं आज्ञा चक्र को चन्द्र खंड कहते हैं। योनिस्थान अग्नि को, अनाहत सूर्य की और आज्ञा चन्द्र की पीठ कहलाती हैं। अग्नि खंड में रुद्र ग्रंथी, सूर्य खंड में विष्णु ग्रंथी और सोम खंड में ब्रह्म ग्रन्थी है।

अन्तरिक्षगतो वन्हिर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः ।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्निर्नाभिमंडलमाश्रिताः ॥ —यो० शि० ५, ३२
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥—५, ३३

चक्रों और नाड़ियों की सविस्तर जानकारी के लिये लेखक का अंग्रेजी ग्रंथ Divine Power पढ़ें।

अर्थः—अन्तरिक्ष में उठकर अग्नि विद्युत रूप हो जाती है जो अपना अन्तरात्मा है। आकाश में स्थित अग्नि सूर्य रूप है, यह नाभिमण्डल (मणिपूर और अनाहत) में आश्रित है। नीचे की ओर मुख रहने पर वह विष की वर्षा करता है और ऊपर की ओर मुख होने पर अमृत का स्रवण करने लगता है। तालु के मूलस्थान (आज्ञा) पर चन्द्रमा का स्थान है, उसका मुख नीचे की ओर है और वह अमृत की वर्षा किया करता है। अनाहत चक्र के १२ दल १२ आदित्य कहलाते हैं। ऊर्ध्वमुख सूर्य और अधोमुख चन्द्र के बीच में विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलाओं के सदृश चमकने लगते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जागकर जब सूर्य-मण्डल से ऊपर चढ़ती है, तब सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर देती है। फिर कुण्डलिनी शक्ति उससे भी ऊपर जाकर चन्द्र-मण्डल का वेध करती हुई सहस्रार में उठती है। तब चन्द्रमा भी अमृत की वर्षा करने लगता है और सारे देह की नाड़ियाँ उस अमृत से भर जाती हैं एवं योगी का शरीर दिव्य बन जाता है।

अवसरण अर्थात् अन्वय भूमिका

वेध के समय शक्ति की गति मूलाधार से सहस्रार की ओर होती है, जिसका वर्णन ऊपर के श्लोकों में दिया गया है। सहस्रार से नीचे उतरते समय वह नाड़ियों को अमृत से सींचती हुई मूलाधार की ओर लौटती है। आरोह को

उन्नेय भूमिका और अवरोह को अन्वय भूमिका कहते हैं। प्रत्यावृत्ति भूमिका से कुण्डलिनी का नीचे उतर कर अपने स्थान पर गुहा में लौट आने का अभिप्राय है। गत श्लोक में उन्नेय भूमिका का वर्णन किया गया है और अगले श्लोक में अन्वय और प्रत्यावृत्ति भूमिकाओं का वर्णन है, इनको अप्यय और प्रभव क्रम भी कहते हैं। दोनों के सिद्ध होने पर योग की सिद्धि होती है। कहा है—'योगोहि प्रभवाप्ययौ' (कठोपनिषत्)। यह उभय क्रम कुण्डलिनी-सोपान-रहस्य के नाम से प्रसिद्ध है।

[१०]

*सुधाधाराऽऽसारै श्चरणयुगलान्तर्विगलितैः
प्रपंचं सिञ्चन्ती पुनरपि रसाम्नाय महसा।
अवाप्य स्वां भूमिं भुजगनिभमध्युष्टवलयं
स्वमात्मानं कृत्वा स्वपिषि कुलकुण्डे कुहरिणी॥

अर्थः—अमृत धाराओं की वर्षा से, जो तेरे दोनों चरणों के बीच से टपकती हैं, प्रपंच को सींचती हुई, फिर छओं आम्नाओं से होती हुई अथवा छओं चक्रों द्वारा सींचती हुई, अपनी भूमि पर उतर कर अपने आप को सर्पिणी के

*लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रम्, ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधादोहमानं चरणं नो लोके सुधितान् दधातु॥

सदृश साढ़े तीन कुण्डल डालकर, हे कुहरिणि ! तू कुलकुण्ड में सोती है ।

सं० टि०:—यहां पर कुण्डलिनी का सहस्रार में कुछ समय ठहर कर फिर अपने स्थान में उतर आना दिखाया है । रस=छः चक्र । आम्नाय=विधान । महस्=प्रकाश । प्रपंच=देह, पिण्ड । कुल कुण्ड=कुण्डलिनी के रहने का कुण्ड । कुहरिणि=गुहा में रहने वाली । कुहर=गुहा ।

पूर्व श्लोक की संगति से इस श्लोक का भाव स्पष्ट है कि मूलाधार से जागकर सुषुम्ना मार्ग द्वारा जब कुण्डलिनी हृदयस्थ सूर्य को उन्मुख करती हुई आज्ञा चक्र के ऊपर चन्द्र-मण्डल में प्रवेश करती है, तब उसके चरणद्वय के बीच से अमृत की धारायें नीचे बरसने लगती हैं । यहां भगवती के चरणों का ध्यान आज्ञा चक्र में किया जाना बताया गया है ।

- तै० ब्रा० ३, १२, ३

शक्ति के अवतरण के साथ सब नाड़ियों का भिन्न-भिन्न चक्रों के द्वारा अमृत के प्रवाह से सारे शरीर में आनखशिख सिंचन होता है । जिस मार्ग से शक्ति का आरोहण होता है, उसी मार्ग से अवतरण होकर वह फिर अपने स्थान पर सर्पाकार साढ़े तीन कुण्डल डालकर सो जाती है । इसके दो अर्थ हो सकते हैं । या तो सारी शक्ति ऊपर उठ जाती है और मूलाधार में शक्ति का कुंडलिनी रूप में उसके उठने से अभाव हो जाता है और फिर लौटने पर वह फिर सो जाती है ।

दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि मूलाधार में अनन्त शक्ति है, इसलिये वहां पर रहने वाले भंडार में कभी कमी नहीं होती। जागकर शक्ति ऊपर भी जाती-आती रहती है और नीचे भी बनी रहती है। हमारी समझ में दूसरा विकल्प सत्य जान पड़ता है, क्योंकि यदि सारी शक्ति सहस्रार में उठ जाय तो उत्थान के साथ शरीर का आधार न रहने के कारण उसे तुरन्त प्रतिप्रसव क्रम से लीन हो जाना चाहिये। प्रपंच का अर्थ शरीर अथवा नाड़ी-जाल किया जाता है। दोनों पक्ष में एक ही परिणाम समझना चाहिये, क्योंकि नाड़ियों द्वारा सारा शरीर पुष्ट होता है, केवल नाड़ियां ही नहीं। नाड़ियों की संख्या प्रश्नोपनिषत् में इस प्रकार दी गई है—'अत्रैतदेकशतं नाड़ीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्तति-द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति।'—प्रश्न० ३, ६

रसाम्नाय महसा के स्थान पर रसाम्नाय महसः पाठान्तर भी मिलता है। उसका अर्थ नीचे दिया जाता है। तांत्रिक परिभाषा के अनुसार इस पाठान्तर पद का अर्थ 'अमृत के प्रकाश से चमकने वाला चन्द्रमा' होने के कारण श्लोक का भावार्थ इस प्रकार होगा कि शक्ति चन्द्रमण्डल से नीचे उतर आती है और अपनी भूमि पर आकर ३॥ कुण्डलाकृति-सर्पिणीवत् सो जाती है। कुल का अर्थ शक्ति समझना चाहिये और कुण्ड से उसके रहने का कुंड सदृश स्थान समझना चाहिये। कुहरिणी का अर्थ कुहर अर्थात् बिल में रहने

वाली है। कुहर बिल, छिद्र अथवा रंध्र को कहते हैं। नाड़ियों द्वारा प्रपंच को सींचे जाने का सम्बन्ध छओं चक्रों के द्वारा होने के कारण रसाम्नायमहसा का अर्थ जैसा हमने किया है, उचित प्रतीत होता है। रस पद से छः और आम्नाय पद से 'मार्ग' अर्थ लेने से यह अर्थ किया गया है। आम्नाय का अर्थ मार्ग दिखाने वाले वेद और गुरु-परम्परागत संप्रदायोपदेश हैं। और महस् का अर्थ उत्सव तथा तेज दोनों हैं (महस्तूत्सवतेजसोः इति अमरः)। इसलिये पूरे पद का तृतीयांत अर्थ छः तेजोमय आम्नायों के द्वारा अथवा रस (अमृत) से पूर्ण तेजोमय आम्नाय द्वारा होगा। पंचमी विभक्ति में 'द्वारा' की जगह 'से' लगाना पड़ेगा। आम्नाय से चाहे चन्द्र अथवा चक्र समझा जा सकता है। महस् का अर्थ उत्सव भी किया जा सकता है। उस पर्याय में शक्ति का शिव के योग से अमृत-सिंचन रूपी उत्सव समझना चाहिये। तांत्रिक पद्धति के अनुसार उपासना के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और वाम—छः आम्नाय हैं, उन सबका फल शक्ति का जागरण होकर समाधि प्राप्त करना ही है। उक्त आम्नाय गुरु-परम्परागत उपदेश से जानने चाहियें। अगले श्लोक में श्रीचक्र का निरूपण करके बहिर्याग का संकेत है।

<u>श्रीचक्र</u> [११]

चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पंचभिरपि
प्रभिन्नाभिः शंभोर्नवभिरपि मूलप्रकृतिभिः।

त्रयश्चत्वारिंशद्वसुदलकलाश्र(श्च) त्रिवलय-
त्रिरेखाभिः सार्धं तव शरण (भवन)कोणाः परिणताः ॥

अर्थः—चार श्रीकंठ और पाँच शिवयुवतियां, इन ९ मूल प्रकृतियों से तेरे रहने के ४३ त्रिकोण बनते हैं, जो शंभु के बिन्दुस्थान से भिन्न हैं। वे तीन वृत्तों (circles) और तीन रेखाओं सहित ८ और १६ दलों से युक्त हैं।

सं० टि०:—यहां बहिर्याग का वर्णन है। श्रीचक्र के बनाने के तीन भेद होते हैं—मेरु, कैलाश और भूः। तीन भेदों में शक्तियों के स्थानों और पूजनविधि में अन्तर है। मेरु श्रीचक्र में उसका १६ नित्या कलाओं से, कैलाश प्रतीकस्वरूप श्रीचक्र में उसको ८ मातृका शक्तियों से और भूः के प्रतीकस्वरूप श्रीचक्र में उसे ८ वशिनो देवियों से सम्बन्धित चक्र समझा जाता है। तैत्तिरीयारण्यक में कहा है कि पृश्नि ऋषियों ने श्रीचक्र की पूजा की थी और उसकी सहायता से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करके उसे सहस्रार में उठाया था। इससे यह स्पष्ट है कि यह वैदिक मार्ग है।

श्रीचक्र ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों का प्रतीक होता है। इसकी रचना ४ श्रीकंठ अर्थात् शिव-त्रिकोण और ५ शिवयुवति अर्थात् शक्ति-त्रिकोणों के योग से होती है। शिव और शक्ति-त्रिकोणों का मुख एक दूसरे के विपरीत रहता है, जैसे △▽। सृष्टिक्रम में ५ शक्ति-त्रिकोण ऊर्ध्वमुख होते हैं और ४ शिव-

त्रिकोण अधोमुख और अव्ययक्रम में शक्ति-त्रिकोण अधोमुख और शिव-त्रिकोण ऊर्ध्वमुख रखे जाते हैं। प्रथम केन्द्रीय त्रिकोण को, जिसके केन्द्र में शंभु का स्थान है, छोड़कर शेष त्रिकोणों की संख्या ४२ है। इसलिए त्रयश्चत्वारिंशत् पाठ ठीक है। प्रथम मध्य त्रिकोण के बाहर चारों ओर दूसरे नम्बर पर ८ कोण बनते हैं जिनको अष्टकोण कहते हैं। फिर तीसरे और चौथे स्तर पर दश-दश कोण बनते हैं, उन्हें अन्तर्दशार और बहिर्दशार कहते हैं। उनके ऊपर १४ कोण बनते हैं, उनको चतुर्दशार कहते हैं। सबका योग १+८+१०+१०+१४=४३ होता है। मध्य केन्द्रीय बिन्दु शंभु का स्थान है जो प्रकृति स्वरूप ९ त्रिकोणों के योग से रचित पूरे चक्र से पृथक् अर्थात् असंग है। उक्त ४३ कोणों के चक्र के बाहर प्रथम वृत्त (circle) पर अष्टदलपद्म और उसके बाहर दूसरे वृत्त पर षोडशदलपद्म हैं। षोडशदलपद्म तीन वृत्तों से घिरा है। सबसे बाहर तीन रेखाओं का चतुष्कोण है जिसे भूगृह कहते हैं। भूगृह की चारों भुजाएँ बराबर हैं और चारों दिशाओं में ४ द्वार होते हैं। इस श्लोक में द्वारों का उल्लेख नहीं किया गया है।

३६ तत्व, जिनका वर्णन हम प्रथम श्लोक के नीचे कर आये हैं, सप्त धातुओं सहित ४३ हो जाते हैं। सात धातुओं के नाम यह हैं—रक्त, मांस, मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र।

५ शिवयुवतियां शान्त्यातीतादि पांच कलायें अथवा शक्ति, शुद्ध विद्या, माया, कला और अशुद्ध विद्या हैं और ४ श्रीकंठ सदाख्य, महेश्वर, महत्तत्त्व और पुरुष (जीव) हैं अथवा पुरुष, अव्यक्त, महत् और अहंकार ४ श्रीकंठ हैं जिनके साथ शब्द-स्पर्शादि ५ तन्मात्रायें शिवयुवतियां माननी पड़ेंगी।

गीता में भगवान् ने नवधा प्रकृति का वर्णन किया है; एक जीवभूता परा प्रकृति और अष्टधा अपरा प्रकृति। वहां क्रमशः आकाशादि से ५ तन्मात्रा और मन, बुद्धि, अहंकार से समिष्ट अहंकार, महत् और अव्यक्त समझना चाहिये। (देखें गीता, अध्याय ७ के श्लोक ४, ५ पर शंकर भाष्य)।

श्रीचक्र के उपरोक्त क्रम से ६ विभाग किये जाते हैं जिनमें बिन्दु प्रथम है और मध्यस्थ त्रिकोण दूसरा, इत्यादि। प्रत्येक विभाग को आवरण कहते हैं। श्रीचक्र का विशेष विवरण साथ दिये हुए विवरण-पत्र (chart) पर देखें।

श्रीचक्र-निर्माण की विधि

यह विधि सौन्दर्यलहरी के भाष्यकार कैवल्य शर्मा के मतानुसार है। श्रीचक्र मनुष्यदेह का प्रतीक है और मनुष्यदेह का माप अपनी अंगुलियों के नाप से ९६ अंगुल प्रमाण होता है। इसलिये श्री. चक्र का माप भी ९६ इकाइयों पर रखा जाता है। एक ८ इंच लंबी भुजाओं वाला समचतुष्कोण लो, उसके बीचों-बीच में एक खड़ी रेखा खींचो जो चतुष्कोण को

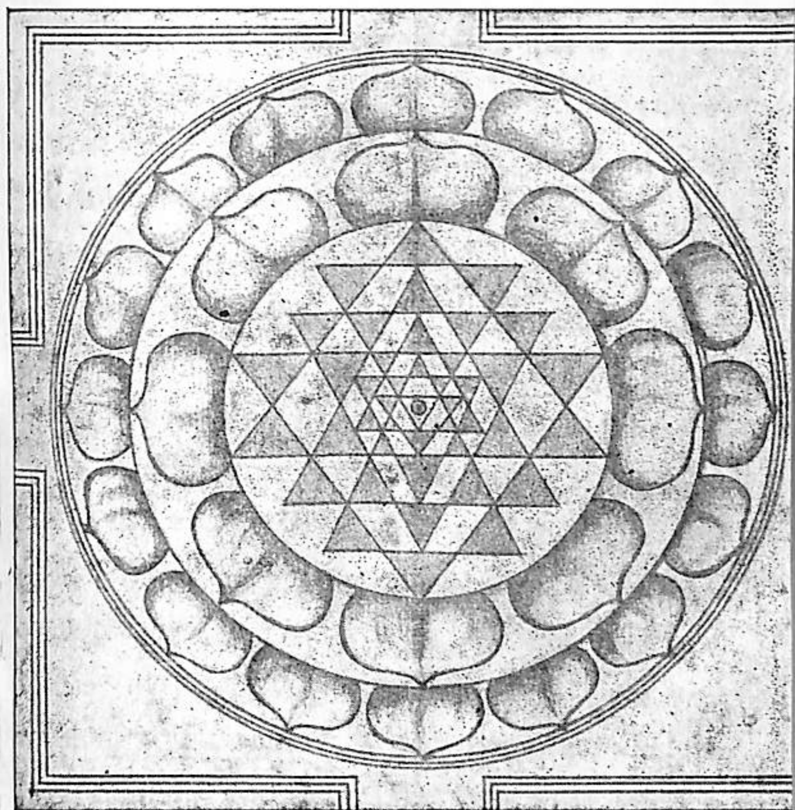
दो सम भागों में विभक्त करती हो। उस रेखा के प्रति इंच के १२ विभाग के अनुपात से ६६ सम विभाग कर लो। इस चतुष्कोण के भीतर एक-एक विभाग छोड़कर दो वैसे ही सम चतुष्कोण और बनाओ। इन तीन चतुष्कोणों का भूगृह नामक त्रैलोक्य-मोहन चक्र कहलाता है। चारों दिशाओं के मध्य में एक-एक द्वार खोल देना चाहिये। अब उस मध्यवर्ती खड़ी रेखा के मध्य-बिन्दु को केन्द्र मानकर ४५, ४४½, ४४, ३५ और २४ विभागों के बराबर अर्धव्यास मानकर पांच वलयाकार वृत्त (circles) खींचो। सब से अन्दर के वृत्त पर अष्टदल पद्म और उसके ऊपर वाले वृत्त पर षोडषदल पद्म बनाओ। बीच के शेष वर्तुलाकार क्षेत्र में ५ ऊर्ध्व त्रिकोण और ४ अधस्त्रिकोण बनाने से पूरा श्री चक्र बन जाता है। इन ९ त्रिकोणों का निर्माण इस प्रकार किया जाता है—मध्य रेखा पर ऊपर से नीचे की ओर ६, ६, ६, ३, ४, ३, ३, ५ और ६ विभागों के अन्तर पर ९ चिन्ह बनालो जिन को हम यहां पर क^{1},ग^{2},च^{3}, ज^{4},ट^{5},ड^{6},त^{7},द^{8}, और प^{9} से नामांकित करते हैं। इन चिन्हों पर ऊर्ध्व रेखा पर समकोण बनाने वाली और अन्तर्वृत्त (innermost circle) के १० खंड करने वाली कोटि रेखायें (chord lines) खींचो। उन के नाम भी क्रमशः क^{1}, ग^{2}, च^{3}, ज^{4}, ट^{5}, ड^{6}, त^{7}, द^{8} और प^{9} वाली रेखायें समझना चाहिये। फिर उन रेखाओं के दोनों सिरों पर से नीचे बताये हिसाब से दोनों ओर सम भाग मिटा दो। क^{1} और प^{9} रेखाओं का

$\frac{1}{16}$ भाग दोनों सिरों पर अर्थात् पूरी रेखा का $\frac{1}{8}$ भाग मिटाना है। ग^2 रेखा के सिरों पर से $\frac{5}{58}$ वां और द^8 रेखा के सिरों से $\frac{1}{12}$ भाग, ज^4 और ड^6 रेखाओं के सिरों पर से $\frac{1}{3}$ भाग और ट^5 रेखा के सिरों पर से $\frac{3}{8}$ भाग मिटा दो। च^3 और त^7 रेखायें पूरी रहेंगी। खड़ी रेखा पर क^5 बिन्दु के ६ विभाग ऊपर वाले अन्तर्वृत्तस्थ बिन्दु को स मानों और प^9 बिन्दु से ६ विभाग नीचे वाले अन्तर्वृत्तस्थ बिन्दु को ह मानों। ह को च^3 वाली रेखा के सिरों से मिलाने से चौथा श्रीकठ (शिव-त्रिकोण) बनता है, प^9 बिन्दु को ग^2 रेखा के मिटाने के पश्चात् नये सिरों को मिलाने से तीसरा, द^8 बिन्दु को ज^4 रेखा के मिटाने के पश्चात् नये सिरों को मिलाने से दूसरा और त^7 बिन्दु को क^1 रेखा के नये सिरों को मिलाने से प्रथम श्रीकंठ बनता है। इसी प्रकार ज^4 बिन्दु को प^9 रेखा के नये सिरों को मिलाने से प्रथम शक्ति-त्रिकोण, च^3 बिन्दु को ट^5 रेखा के सिरों को मिलाने से दूसरा, ग^2 बिन्दु को ड^6 रेखा से मिलाने से तीसरा, क^1 बिन्दु को द^8 रेखा से मिलाने से चौथा और स बिन्दु को त^7 रेखा से मिलाने से पांचवाँ शक्ति-त्रिकोण बनता है।

उक्त ६ त्रिकोणों को बनाने का क्रम इस प्रकार होना चाहिये जिससे मध्य त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार चक्रों का निर्माण क्रमशः सामने आता जाय।

पहिले प्रथम शक्ति-त्रिकोण बनाओ, फिर दूसरा शक्ति-

श्रीचक्रम्



सृष्टियोगेन चक्रमिदम्

त्रिकोण बनाने से मध्य त्रिकोण स्पष्ट दिखने लगता है। वैसे तो वह प्रथम शक्ति-त्रिकोण के बनने से ही ट⁵ रेखा के ऊपर दिखने लगता है, दूसरे शक्ति-त्रिकोण की उसे अपेक्षा नहीं है। फिर प्रथम शिव-त्रिकोण बनाओ, तीनों के योग से अष्टार स्पष्ट बन जाता है। फिर तीसरा शक्ति और दूसरा शिव-त्रिकोण बनाने से अन्तर्दशार बन जाता है। फिर चौथा शक्ति और तीसरा शिव-त्रिकोण बनाने से बहिर्दशार और फिर पांचवां शक्ति और चौथा शिव-त्रिकोण बनाने से चतुर्दशार बन जाता है। यह सृष्टिक्रम है जिसमें शिव के त्रिकोण नीचे को उतरते हैं और शक्ति-त्रिकोण ऊपर को चढ़ते हैं अर्थात् शिव-त्रिकोणों का मुख नीचे की ओर और शक्ति-त्रिकोणों का मुख ऊपर की ओर होता है। इसके विपरीत जब शिव के त्रिकोण ऊपर चढ़ते हैं और शक्ति त्रिकोण नीचे को उतरते हैं तो उसे लयक्रम समझना चाहिये क्योंकि शिव-त्रिकोण उर्ध्वमुख और शक्ति-त्रिकोण अधोमुख हो जाते हैं। यह क्रम बाह्य उपासना में ग्रहण किया जाता है, परन्तु अन्तरुपासना में जब शक्ति मूलाधार से सहस्रार में चढ़ती है तो लयक्रम होता है क्योंकि तब शिवभाव की वृद्धि होती है और जब शक्ति नीचे उतरती है तब जीव भाव की वृद्धि होती है, इसलिये यह प्रभव क्रम है। कौलाचार वालों को लय क्रम और समयाचार वालों को सृष्टिक्रम मान्य है।

भगवती का सौन्दर्य कल्पनातीत है

ऊपर के दो श्लोकों में भगवती का अन्तः और वाह्य ध्यान-पूजन बताया गया है। आज्ञा चक्र के ऊपर अमृत की वर्षा करती हुई ज्योतिर्मयी भगवती का ध्यान करते समय देवी के सौंदर्य की कल्पना का वर्णन इस श्लोक में है। परन्तु वह वैखरी वाणी का विषय नहीं, कवियों की कल्पना के बाहर का विषय है, इस भाव को प्रकट करने के लिए भगवत्पाद कहते हैं कि:—

[१२]

त्वदीयं सौन्दर्यं तुहिनगिरिकन्ये तुलयितुं
कवीन्द्रा कल्पन्ते कथमपि विरिञ्चिप्रभृतयः।
यदालोकौत्सुक्यादमरललना यान्ति मनसा
तपोभिर्दुष्प्रापामपि गिरिशसायुज्यपदवीम् ॥

अर्थः—हे हिमगिरिसुते ! तेरे सौन्दर्य की तुलना करने को ब्रह्मा प्रभृति कवीन्द्र भी कुछ-कुछ कल्पना किया करते हैं। तेरे सौन्दर्य को देखकर स्वर्ग की अप्सरायें ध्यानस्थ हो जाती हैं और अनेक तपश्चर्या से भी कठिनता से प्राप्त होने वाली शिवसायुज्यपदवी को सहज प्राप्त कर लेती हैं।

सं० टि०:—यहां आनन्दलहरी के सौन्दर्य के चिन्तन से शिवसायुज्यपदवी की प्राप्ति कही गई है। साधक को अपने

अधिकारानुसार बहिर्याग और अन्तर्याग द्वारा भगवती को प्रसन्न करना चाहिये। बहिर्याग का फल अन्तर्याग है और अन्तर्याग के द्वारा शिवसायुज्य मुक्ति की प्राप्ति होती है क्योंकि सहस्रार में शिव-शक्ति का ऐक्य होने पर परमपद की उपलब्धि कही गई है।

हिमाचल की कन्या का वर्ण भी हिमवत् स्वच्छ होना चाहिये। हिम में शीतलता रहती है और प्रकाश भी, चन्द्रमा में भी शीतल प्रकाश होने के कारण उसे अमृत बरसाने वाला कहा जाता है। इसी प्रकार भगवती का स्वरूप सुधामयी ज्योति के सदृश है। अमृत को प्रकाशमान् समझना चाहिये।

'यथैव बिम्ब मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातं।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥'

— श्वे० २, १४

अर्थः—मिट्टी से लिपे हुए, तेजोमय अमृत सदृश चमकते हुए शीतल बिंबवत् आत्मतत्त्व को देखकर देहाभिमानी जीव ब्रह्म से एकता प्राप्त करके कृतार्थ और वीतशोक हो जाता है।

ब्रह्मा सृष्टि के कर्ता हैं, इसलिये सर्वप्रथम कवि हैं, चारों मुखों से वेदों का गान करते हैं, इसलिये सब कवियों में श्रेष्ठ हैं, वे भी भगवती के सौंदर्य की उपमा नहीं ढूँढ सके, इसलिये अन्य कवि तो कुछ-कुछ कल्पना ही किया करते हैं।

यदि अप्सराओं की उपमा दी जाय तो वे भी तो भगवती के रूप को उत्सुकता से देखकर ध्यानमग्न होकर समाधिस्थ हो जाती हैं। भाव यह भी है कि भगवती के सौन्दर्य की कल्पना करने से समाधि लग सकती है।

कायसम्पत्-सिद्धि

अगले श्लोक में यह दिखाया गया है कि कुण्डलिनी के जागरणोपरान्त अमृत सिंचन स्वरूप भगवती की कृपा से शारीरिक कल्प हो जाता है अर्थात् वृद्ध मनुष्य भी युवा हो जाता है।

[१३]

नरं वर्षीयांसं नयनविरसं नर्मसु जडं
तवापाङ्गालोके पतितमनुधावन्ति शतशः।
गलद्वेणीबंधाः कुचकलशविस्रस्तसिचया
हठात्त्रुट्यत्काञ्च्या विगलितदुकूला युवतयः॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—नर्मः=क्रीड़ा, विस्रस्त=गलित, कांची=मेखला

अर्थः—वयोवृद्ध, देखने में कुरूप, क्रीड़ा में जड़ मनुष्य भी तेरी दृष्टि के पड़ने मात्र से ऐसा रमणीय हो जाता है कि सैकड़ों युवतियाँ उसके पीछे भागने लगती हैं; जिनकी वेणी के बन्ध खुल गये हैं, कुच कलशों पर से चोली फट गई है, जिनकी मेखला हठात् टूट गई हैं और जिनकी साड़ी शरीर

से उतरी जा रही हैं। (यहाँ काम कला ईं की ओर संकेत है)।

शक्ति-जागरण से काय-विभूति भी प्राप्त हो सकती है, जो षट्चक वेध द्वारा पंचमहाभूत जय होने पर होती है। रूप लावण्य, बल और शरीर का बज्रवत् संगठित होना कायसंपत् कहलाता है। (देखें योगदर्शन ३, ४५-५६)। भूतजय से अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति भी होती है। अणिमादि सिद्धियों का स्थान श्रीचक्र के सब से बाह्य चतुष्कोण पर दिखाया जाता है अर्थात् इन सिद्धियों का फल भी एक गौण सिद्धि है। प्रत्येक नाड़ी में अमृत का संचार होने का फल ही यह कायसंपत् है। श्लोक १० में 'प्रपंचं सिञ्चती' पद में अमृत से प्रत्येक नाड़ी का भर जाना दिखाया गया है जिससे देह दिव्य हो जाता है। वह मनुष्य ऊर्ध्वरेता हो जाता है, उसके शरीर की glands में रसोत्पादन की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि शरीरस्थ निर्माण शक्ति का ह्रास बन्द हो जाता है। उसके स्नायुओं में जीवन-शक्ति संचार करने लगती है और सातों धातुओं का पुनः निर्माण होने लगता है। ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय में कुण्डलिनी जागरण से शारीरिक कल्प होने की बात इन शब्दों में कही गई है—'तब अवयवों की कान्ति की शोभा ऐसी दिखाई देती है कि मानो वह स्फटिक का ही हो अथवा संध्या काल के आकाश के रंग निकालकर उनका ही वह शरीर बनाया गया हो अथवा आत्म ज्योति का लिंग ही

स्वच्छ किया रखा हो, इत्यादि। कुण्डलिनी जब चन्द्रामृत पीती है, तब ऐसा शरीर हो जाता है। कृतान्त भी उस देहाकृति से भय खाता है, वार्धक्य पीछे हटता है, यौवन की गाँठ खुल जाती है और लुप्त हुई बालदशा फिर प्रकट होती है'—इत्यादि।

तत्त्वों की किरणें [१४]

क्षितौ षट्पंचाशद्द्विसमधिकपंचाशदुदके
हुताशे द्वाषष्टिश्चतुरधिकपंचाशदनिले।
दिवि द्विःषट्त्रिंशन्मनसि च चतुःषष्टिरिति ये
मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्॥

अर्थः—पृथिवी में ५६, जल में ५२, अग्नि में ६२, वायु में ५४, आकाश में ७२ और मन में ६४ मयूखा अर्थात् रश्मियों के ऊपर, हे देवि! तेरे दोनों चरणकमल हैं।

सं० टि०: - मातृका न्यास में छओं चक्रों का न्यास हंसः सहित उक्त किरणों से संबंधित अक्षरों से किया जाता है।

उक्त किरणें छः चक्रों से संबंध रखने वाले तत्त्वों की किरणें हैं और भगवती के चरणयुगल सब के ऊपर होने का अभिप्राय यह है कि वे आज्ञा चक्र के ऊपर विराजते हैं। उक्त किरणों में आधी शिवात्मिका और आधी शक्त्यात्मिका हैं अर्थात् दो-दो के जोड़े से पृथिवी में २८, जल में २६,

अग्नि में ३१, वायु में २७, आकाश में ३६ और मन में ३२ किरणों के जोड़े हैं। सब का योग ३६० है जो चान्द्र वर्ष के अनुसार एक वर्ष की ३६० तिथियों से उपमित की जाती हैं। प्रत्येक पक्ष की १५ तिथियों को १५ नित्या कहते हैं। श्रीचक्रस्थ षोडश दल की गुप्ततर योगिनियां नित्या कहलाती हैं।

नवम श्लोक में कहे अनुसार चक्रों के वेध क साथ तत्त्वों का भी वेध होना कहा गया है और तत्त्वों के वेध से उन पर जय प्राप्त की जाती हैं जिसको योगदर्शन में भूतजय, मनोजय और प्रकृतिजय कहा गया है।

भूतजय, इन्द्रियजय और मनोजय के साधन विभूतिपाद के ४४, ४७ और ४८ सूत्रों में बताए गये हैं। स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व पर संयम करने से भूतजय होता है। विशेष धर्मों को प्रथम स्थूल और सामान्य धर्मों को दूसरा स्वरूप, तन्मात्राओं को सूक्ष्म अर्थात् तीसरा रूप और तीनों गुणों का अन्वय उनका कारण रूप और उनके भोग और अपवर्ग के लिये उपयोगिता का ज्ञान, इन ५ स्तरों पर संयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि करने से प्रत्येक भूत का जय प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति, स्वरूप, अस्मिता (अहं की सूक्ष्म कारण वृत्ति), अन्वय (तीनों गुणों से संबंध) अर्थात् अर्थवत्त्व पर संयम करने से इन्द्रियों का जय होता है। इन्द्रियों के जय से मनोजय और

क्रमशः प्रकृतिजय किया जाता है। यह राजयोग का साधन-क्रम है। इस श्लोक में ५ भूतों और मन के स्थूल, सूक्ष्म आदि क्रम से व्यतिरेक स्वरूप पृथक्करण (analysis) को रश्मियों की संख्या द्वारा दिखाया गया है। सब तत्त्वों के द्विविध भेद इडा और पिंगला-गत भेद हैं। इडा से संबंध रखने वाली किरणें चन्द्रमा अथवा शक्ति की किरणें और पिंगला से सम्बन्ध रखने वाली प्राण की किरणें सूर्य अथवा शिव की किरणें हैं। इन को स्त्रीलिंग और पुंलिंगवाचक भी कह सकते हैं। सुषुम्ना में दोनों का योग हो जाता है। सब किरणों को सुषुम्ना-पथ में, कार्य को कारण में, लीन करते हुए भगवती के चरणों तक पहुंचा जाता है अर्थात् आज्ञा चक्र के ऊपर जाया जाता है, जैसा कि श्लोक में कहा है कि भगवती के दोनों चरण सब कारणों का अतिक्रमण कर के सब के ऊपर स्थित हैं।

किरणों का संबंध तत्त्वों से, वर्णमाला से और उनकी अधिष्ठातृ शक्तियों से त्रिविध जानना चाहिये।

किरणों का तत्त्वों से सम्बन्ध

पृथिवी की ५६ किरणें:—५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ४ अन्तःकरणचतुष्टय, कला, प्रकृति, महत् और पुरुष। इनका योग २८ है और शिव-शक्ति भेद से ५६ है।

जल की किरणें:—५ महाभूत, १० इन्द्रियां, १० उनके कार्य और मन। इनका योग २६ है और शिव-शक्ति भेद से ५२ है।

अग्नि की किरणें:—५ महाभूत, ५ तन्मात्रायें, १० इन्द्रियां, १० उनके कार्य और मन, सब का योग ३१ है। शिव-शक्ति भेद से ६२ है।

वायु की किरणें:—५ महाभूत, ५ तन्मात्रा, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ४ अन्त:करणचतुष्टय, कला, प्रकृति और पुरुष। इनका योग २७ है, शिव-शक्ति भेद से ५४ हुईं।

आकाश की किरणें:– सब ३६ तत्त्व. शिव-शक्ति भेद से ७२।

मन की किरणें:—प्रथम ४ शुद्ध तत्त्व अर्थात् शिव, शक्ति, सदाख्य और महेश्वर को छोड़कर शेष ३२। शिव-शक्ति भेद से ६४ हुईं।

किरणों का वर्णमाला से सम्बन्ध

विश्व के प्रसार में नाम और रूप अथवा वाचक और वाच्य अथवा शब्द और अर्थ भेद से दो स्तर हैं। अर्थ-भेद से ५ कलाएं, ३६ तत्त्व और १४ भुवन हैं। कलाओं और तत्त्वों के नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। १४ भुवनों के उपभेद २२४ किये जाते हैं। इन २२४ भुवनों के नाम स्थानाभाव से यहां नहीं दिये जाते। शब्द भेद से ५१ वर्ण, ८१ पद और ११ मंत्र से सारे विश्व का प्रसार है। ३ लिंग (पुं, स्त्री, नपुंसक), ३ पुरुष (उत्तम, मध्यम और अन्य), ३ वचन (एक, द्वि और

बहु) और ३ काल (भूत, वर्तमान और भविष्य) के परस्पर योग से ३×३×३×३=८१ प्रकार के पद होते हैं। और ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां और अन्त:करण के एकादशविध व्यापारों की सिद्धियों के लिये ११ प्रकार के मंत्र हैं। उनके ११ देवता ११ रुद्र हैं। इसलिये उक्त ३६० किरणों का मातृका (वर्णमाला) से संबंध है और प्रत्येक किरण का पृथक्-पृथक् देवता है। उनका संबंध नीचे दिया जाता है।

मातृकाओं का तत्त्वों से सम्बन्ध:—

पृथिवी की ५६ किरणें=५० मातृका +ऐं ह्रीं श्रीं ऐं क्लीं सौः।
जल को ५२ किरणें=५० मातृका +सौं श्रीं।
अग्नि की ६२ किरणें=५० मातृका +औ ४ बार, हं सः ४बार
वायु की ५४ किरणें=५० मातृका +यं रं लं वं।
आकाश की ७२किरणें=अ ५ बार,... औ ५ बार=१४×५
=७०+ऐं ह्रीं।
मन की ६४ किरणें=अ वर्ग ४ बार=१६×४=६४।

एशु स्वराः स्मृताःसौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः।
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोम सूर्याग्नि देवताः॥

तत्वात्मानः स्मृताः स्पर्शाः मकारः पुरुषो मतः।
व्यापका दश ते कामधनधर्मप्रदायिनः॥

बिन्दु पुमान्रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिर्निशाकरः।
स्वराणां मध्यमं यच्च चतुस्त्रं तच्च नपुंसकम्॥

नीचे शारदातिलक के अनुसार वर्णमाला का पांचों तत्त्वों, छओं चक्रों और इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना तीनों नाड़ियों से सम्बन्ध एक नक्शे (chart) द्वारा दिखाया जाता है—

पंच महाभूत	षट् चक्र														
	विशुद्ध			अनाहत			मणिपूर			स्वाधिष्ठान		मूलाधार		आज्ञा	गुरु चक्र
वायु	ह्रस्व अ	दीर्घ आ	ए	क्	च्	ट्	×	त्	प्	×	य्	×	ष्	×	×
अग्नि	इ	ई	ऐ	ख्	छ्	ठ्	×	थ्	फ्	×	र्	×	×	क्ष्	×
पृथिवी	उ	ऊ	ओ	ग्	ज्	×	ड्	द्	×	ब्	ल्	×	×	+	ल्
जल	ऋ	ॠ	औ	घ्	झ्	×	ढ्	ध्	×	भ्	×	व्	स्	×	×
आकाश	ऌ	ॡ	अं	ङ्	ञ्	×	ण्	न्	×	म्	×	श्	×	ह्	×
लिङ्ग	पुमान्	स्त्री	नपुंसक												
नाड़ी	पिंगला	इडा	सुषुम्ना												
	इडा (चन्द्र)			पिङ्गला (सूर्य)							सुषुम्ना (अग्नि)				
वर्णभेद	स्वराः			स्पर्शाः							व्यापकाः				

अनुस्वार=पुमान् । विसर्ग=शक्ति ।

पिंगलायां स्थिता ह्रस्वा ईडायां संगताः परे।
सुषुम्नायां मध्यगाज्ञेया श्चत्वारो ये नपुंसकाः ॥
वाय्वाग्निभूजलाकाशाः पंचाशल्लिपयः क्रमात्।
पंचह्रस्वाः पंचदीर्घाविन्द्वन्ताः संधिसंभवाः।
क्रमादयः पंचशः ष क्ष ल स ह्रान्ताः प्रकीर्तिताः ॥

—शारदातिलक २, २-४-६-७-६

किरणों की अधिष्ठातृ शक्तियां:—

अधिष्ठातृ शक्तियों के नाम शिवशक्ति के जोड़े से नीचे दिये जाते हैं—

पृथिवीः १. उड्डीश्वर उड्डीश्वरी २. जलेश्वर, जलेश्वरी ३. पूर्णेश्वर, पूर्णेश्वरी ४. कामेश्वर, कामेश्वरी ५. श्रीकंठ, गगना ६. अनन्त, स्वरसा ७. शंकर, मति ८. पिंगल, पाताल देवी ९. नारदाख्य. नादा १०. आनन्द, डाकिनी ११. आलस्य, राकिनी १२. महानन्द, लाकिनी १३. योग्य, काकिनी १४. अतीत, साकिनी १५. पाद, हाकिनी १६. आधारेश, रक्ता १७. चक्रीश, चंडा १८. करंगीश, कराला १९. मदध्रीश, महोच्छुष्मा २०. अनादि विमल. मातंगी २१. सर्वज्ञ विमल, पुलिन्दा २२. योग विमल, शंबरी २३. सिद्ध विमल, वाचापरा २४. समय विमल, कुलालिका २५. मित्रेश, कुब्जा २६. उड्डीश, लघ्वा २७. षष्ठीश, कुलेश्वरी २८. चर्याधीश, अजा।

जल देवताः—१. सद्योजात, माया २. वामदेव, श्री ३. अघोर, पद्मा ४. तत्पुरुष, अंबिका ५. अनन्त, निवृत्ति ६. अनाथ, प्रतिष्ठा ७. अनाश्रित, विद्या ८. अचिन्त्य, शान्ता ९. शशिशेखर, उमा १०. तीव्र, गंगा ११. मणिवाह, सरस्वती १२. अंबुवाह, कमला १३. तेजोधीश, पार्वती १४. विद्या-वागीश्वर, चित्रा १५. चतुर्विधेश्वर, सुकमला १६. उमा-गंगेश्वर, मानमथा १७. कृष्णेश्वर, श्रिया १८. श्रीकंठ, लया १९. अनन्त, सती २०. शंकर, रत्नमेखला २१. पिंगल, यशोवती २२. सादारव्य, हंसानन्दा २३. परदिव्यौघ, वामा २४. मारदिव्यौघ, ज्येष्ठा २५. पीठौघ, रौद्री २६. सर्वेश्वर, सर्वमयी ।

आग्नेय—१. परापर, चंडेश्वरी २. परम, चतुष्मती ३. तत्पर, गुह्य काली ४. अपर, संवर्ता ५. चिदानन्द, नीलकुब्जा ६. अघोर, गंधा ७. डामराघोर, समरसा ८. ललित, रूपा ९. स्वच्छ, स्पर्शा १०. भूतेश्वर, शब्दा ११. आनन्द, डाकिनी १२. आलस्य, रत्नडाकिनी १३. प्रभानन्द, चक्रडाकिनी १४. योगानन्द, पद्मडाकिनी १५. अतीत, कुब्जडाकिनी १६. स्वाद, प्रचंड डाकिनी १७. योगेश्वर, चंडा १८. पीठेश्वर, कोशला १९. कुलकौलेश्वर, पावनी २०. कुब्जेश्वर, समया २१. श्रीकंठ, कामा २२. अनन्त, रेवती २३. शंकर, ज्वाला २४. पिंगलाख्य, कराला २५ सदाख्य, कुब्जिका २६. कालरात्रिगुरु, परा २७. सिद्ध

गुरु, शान्त्यातीता २८. रत्न गुरु, शान्ता २९. शिव गुरु, विद्या ३०. मेल गुरु, प्रतिष्ठा ३१. समय गृरु, निवृत्ति।

वायव्य—१. खगेश, भद्रा २. कूर्म, आधारा ३. मेष, कोषा ४. मौन, मल्लिका ५. ज्ञान, विमला ६. महानन्द, शर्वरी ७. तीव्र, लीला ८. प्रिय, कुमुदा ९. कौलिक, मैनकी १०. डामर, डाकिनी ११. रामर, राकिनी १२. लामर, लाकिनी १३. कामर, काकिनी १४. सामर, साकिनी १५. हामर, हाकिनी १६ आधारेश, राका १७. चक्रीश, बिन्दु १८. कुकुर, कुला १९. मयश्रीश, कुब्जिका २०. हृदीश, काम कला २१. शीरस, कुल दीपिका २२. शिखेश, सर्वेशा २३. वर्मन, बहुरूपा २४. अस्त्रेश, महत्तरी २५. परम गुरु, मंगला २६ पराधिकार गुरु, सौकार्या २७. पूज्य गुरु, रामा।

आकाश - १. हृदय. कौलिनी २. घर, कान्ता ३. भोग, विश्वा ४. भय, योगिनी ५. मह, ब्रह्मतारा ६. शव, शवरी ७. द्रव, कालिका ८. सरस, जुष्ट चांडाली ९. मोह, अघोरेशी १० मनोभव, हेला ११. केक, महारक्ता १२. ज्ञानगुह्य, कुब्जिका १३. खर, डाकिनी १४. ज्वल, राकिनी १५. महाकुल लाकिनी १६ भियोज्वल, काकिनी १७. तेज, साकिनी १८. भूति, हाकिनी १९. वासु, पापघ्नी २० कुल, सिंही २१. संहार, कुलांबिका २२. विश्वंभर, कामा २३. कौटिल, कूर्ण माता २४. गालव, कंकाली २५. व्योम, व्योमा २६. श्वसन, नादा २७. खेचर, महादेवी २८. बाहुल,

महत्तरी २६. तात, कुण्डलिनी ३०. कुलातीत कुलेश्वरी ३१. अज, इंधिका ३२. अनन्त, दीपिका ३३. ईश, रेचिका ३४. शिख, मोचिका ३५. परम, परा ३६. पर, चिति।

मन—१. पर, परा २. भव, भवपरा ३. चित्, चित्परा ४. महामाया, महामाया परा ५. इच्छा, इच्छापरा ६. सृष्टि, सृष्टिपरा ७. स्थिति, स्थितिपरा ८. निरोध, निरोधपरा ९. मुक्ति, मुक्तिपरा १०. ज्ञान, ज्ञानपरा ११. सत्, सतिपरा १२. असत्, असतिपरा १३. सदसत्, सदसतिपरा १४. क्रिया, क्रियापरा १५. आत्मा, आत्मपरा १६. इंद्रियाश्रय, इंद्रियाश्रयपरा १७. गोचर, गोचरपरा १८. लोकमुख्य, लोकमुख्यपरा १९. वेदवत्, वेदवतिपरा २०. संवित्, संवितिपरा २१. कुण्डलिनी, कुण्डलिनीपरा २२. सौषुम्णी, सौषुम्णीपरा २३. प्राणसूत्र, प्राणसूत्रपरा २४. स्पन्द, स्पन्दपरा २५. मातृका, मातृकापरा २६. स्वरोद्भव, स्वरोद्भवपरा २७. वर्णज, वर्णजपरा २८. वर्गज, वर्गजपरा २९. शब्दज शब्दजपरा ३०. वर्णज्ञात, वर्णज्ञातपरा ३१. संयोगज, संयोगजपरा ३२. मंत्रविग्रह, मंत्रविग्रहपरा।

पाचों तत्त्वों का संबंध मूलाधार से विशुद्ध चक्र तक क्रमशः ५ चक्रों से है और मन का सम्बन्ध भ्रूमध्य में आज्ञा चक्र है, इसलिये इन किरणों का भी सम्बन्ध छओं चक्रों से है। छः चक्रों से वर्ष की छः ऋतुओं की समानता की जाती है। अर्थात् बसन्त की मूलाधार से समानता है क्योंकि इस

ऋतु में पृथ्वी का वेध होकर पुष्प खिलते हैं और सुगन्ध का विकास होता है। ग्रीष्म ऋतु की स्वाधिष्ठान चक्र से समानता की जाती है. इस ऋतु में जल का वेध होकर सब जल सूखने लगता है। वर्षा की मणिपूर से समानता है, क्योंकि इस ऋतु में अग्नि का वेध होकर विद्युत और पर्जन्य का विकास होता है। शरद् ऋतु की अनाहत चक्र से समानता की जाती है, क्योंकि इसमें वायु का वेध होकर वातावरण शान्त, निर्मल हो जाता है। हेमन्त ऋतु की विशुद्ध चक्र से समानता है, क्योंकि इस ऋतु में आकाश के वेध सूचक शीत की प्रधानता होती है और शिशिर ऋतु की आज्ञा चक्र से समानता की जाती है, क्योंकि इसमें चित्त की प्रसन्नता बढ़ती है। इस प्रकार उक्त ३६० किरणों की वर्ष की ३६० तिथियों से समानता यह बात सिद्ध करती है कि संवत्सर पुरुष पिंड का आधार है। कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की अन्वय और शुक्ल पक्ष में उन्नेय भूमिका समझनी चाहिये। इसी प्रकार उत्तरायण और दक्षिणायन को सूर्य (प्राण) की उन्नेय और अन्वय भूमिकायें समझना चाहिये।

वाक्-सिद्धि

अगले तीन श्लोकों में वाक्-सिद्धि का वर्णन है। १५वें श्लोक में सात्त्विक, १६वें में राजसिक और १७वें में मिश्रित भावों युक्त कविता-शक्ति के विकास का वर्णन है।

[१५]

शरज्ज्योत्स्नाशुभ्रां शशियुतजटाजूटमुकुटां
वरत्रासत्राणस्फटिकघुटि(णि)कापुस्तक कराम्।
सकृन्न त्वां नत्वा कथमिव सतां सन्निदधते
मधुक्षीरद्राक्षामधुरिमधुरिणा भणितयः ॥

अर्थः—शरत् पूर्णिमा की चांदनी के सदृश शुभ्रवर्णा, द्वितीया के चन्द्रमायुक्त जटाजूटरूपी मुकुट धारण किये हुए, दो हाथों से भक्तों को त्रास से त्राणार्थ अभयद और वरद अभिनय किये हुए और दो हाथों में स्फटिक मणियों की माला और पुस्तक धारण किये हुए, तुझको एक बार भी नमन न करने वाला मनुष्य किस प्रकार सत्कवियों की-सी मधु, दूध और द्राक्षा की मधुरता से युक्त मधुर कविता कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता।

सं० टि०:—यह और अगले दो श्लोक मिलकर सारस्वत्त प्रयोग कहलाते हैं। अच्युतानन्द के अनुसार यहां वाग्भव रूप क्रिया शक्ति का ध्यान है अर्थात् वाग्भव कूट की देवी क्रिया शक्ति का ध्यान बताया गया है।

यहां कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर सारस्वत सिद्धि की ओर संकेत है। योगशिखोपनिषद् में कहा है -

सर्वे वाक्यात्मका मंत्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥ ३, ७

सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः ।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया ।। ३, ८
य इमां वैखरीं शक्ति योगी स्वात्मनि पश्यति ।
स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः ।।३, १०

अर्थ:—वाक्यात्मक मंत्र, वेद, शास्त्र, पुराण और काव्य, विविध भाषायें, सातों स्वर और गाथायें सब नाद से उत्पन्न होती हैं। यह नादरूपा सरस्वती देवी सब प्राणियों की बुद्धिरूपी गुहा में रहती है। जो योगी इस वैखरी शक्ति को अपने भीतर देखता है, उसे सरस्वती के प्रसाद से वाक्सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।

कुण्डलिनी शक्ति जागकर चार रूपों में प्रकट होती है। उन रूपों के नाम ये हैं—क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी। शारीरिक कंपादि, हठ योग के आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नृत्यादि क्रियाओं में क्रियावती का रूप है। ३६ तत्त्वों के व्यतिरेक और शुद्धि की क्रियाओं में कलावती का रूप है। वर्णात्मिका सरस्वती मंत्रमयी है और षट् चक्र का वेध वेधमयी करती है। वर्णमयी सरस्वती का रूप है जो समस्त शब्दमय जगत् को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चारों स्तरों पर धारण किये हुए है।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहात्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।
— ऋक्, मं० १, अ० २२, सू० १६४, मं ४५

अर्थात्—वाचा चार पाद वाली होती है, उनको जो बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं, वे ही जानते हैं। उनमें से तीन तो गुहा में निहित (छिपी हुई) हैं, वे अपने स्थानों से नीचे नहीं हिलतीं, चौथी वैखरी को मनुष्य बोलते हैं। इस मंत्र के साथ ऐं बीज की उपासना की जाती है। (देखें सरस्वती रहस्योपनिषद्)। यह वाक्‌बीज वाग्भव कूट का रूप है। इस श्लोक में तथा अगले दो श्लोकों में भी सारस्वत प्रयोग का ध्यान बताया गया है।

[१६]

कवीन्द्राणां चेतः कमलवनबालातपरुचिम्
भजन्ते ये सन्तः कतिचिदरुणामेव भवतीम्।
विरिञ्चिप्रेयस्यास्तरुणतरशृङ्गारलहरी-
गभीराभिर्वाग्भिर्विदधति सतां(भां)रंजनमयी ॥

अर्थः—कवीन्द्रों के चित्त रूपी कमल वन को खिलाने के लिए उदय होते हुए सूर्य के सदृश अरुणा रूपी आप का जो कोई थोड़े महान् पुरुष भजन करते हैं, वे ब्रह्मा की प्रिया (सरस्वती) की तरुणतर शृङ्गारलहरी से निकली गम्भीर कविताओं द्वारा सत्पुरुषों का मनोरंजन किया करते हैं।

सं० टि०:—यहां कामकूट की देवी इच्छा शक्ति का ध्यान बताया है।

१५वें श्लोक में 'शरज्ज्योत्स्ना', 'शशियुत जटाजूट-मुकुटां' पद वरद और अभयद अभिनय, माला और पुस्तक

सहित ध्यान भगवती के सात्विक रूप का ध्यान है और 'मधु-क्षीर मधुरि मधुरीणा युक्त भणितयः' से भी सात्विक कविता की ओर संकेत है। परन्तु इस श्लोक में 'अरुणा', 'प्रेयस्यास्तरुणतर शृंगारलहरी' इत्यादि पदों में भगवती के रजोगुण स्वरूप का ध्यान है और शृंगार रस परिपूर्ण कविता की ओर संकेत है। ऐसी कविता का उपयोग भी मनोरंजन मात्र ही होता है; उससे किसी प्रकार आध्यात्मिकता की उपलब्धि नहीं हो सकती।

'बालातपरुचि' में 'बाला' पद स्पष्ट रूप से बाला मंत्र की ओर ध्यान दिलाता है, जिसकी उपासना रूपी तप से चित्त रूपी कमलवन का विकसित होना भी प्रतिध्वनित होता है, क्योंकि बाला-तप का अर्थ 'बाला एव आतपः' अर्थात् सूर्य सदृश बाला भगवती इत्यादि भी किया जा सकता है। यह अर्थ लेने से श्लोक का भाव यह होगा कि कवीन्द्रों के चित्त रूपी कमलवन को विकसित करने के लिये अरुणा देवी बाला भगवती सूर्य सदृश है।

[१७]

सावित्रिभिर्वाचां शशिमणिशिलाभङ्गरुचिभि-
र्वशिन्याद्याभिस्त्वां सह जननि संचिन्तयति यः।
स कर्ता काव्यानां भवति महतां भङ्गि सुभगै(रुचिभि)-
र्वचोभिर्वाग्देवीवदनकमलामोदमधुरैः ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ- वशिन्याद्याभिः=सर्वरोगहर अष्टार चक्र की आठ वाग्देवता—वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयनी, सर्वेश्वरी और कौलिनी। भगि=व्यंग।

अर्थः—वशिनी आदि सावित्रियों सहित, जो चन्द्रकान्त मणि की शिला की गढ़ी हुई मूर्तियों की शोभा वाली हैं, हे जननि! जो मनुष्य तेरा ऐसा ध्यान करता है, वह उच्च कोटि के काव्यों की रचना करने लगता है। उसकी सुन्दर कविता वाग्देवी के मुखकमल के आमोदपूर्ण माधुर्य से युक्त होती है।

सं० टि०: यहां आठ वशिनी आदि वाग्देवियों सहित भगवती के ध्यान का उपदेश है और वाग्देवियों की शोभा चन्द्रकान्त मणियों की शोभा जैसी बताई गई है। यह शक्तिकूट की देवी ज्ञान शक्ति का ध्यान है।

जैसे चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से चन्द्रकान्त मणि द्रवीभूत होती है, वैसे ही पन्द्रहवें श्लोकोक्त शरद्-ज्योत्स्ना-शुभ्रा भगवती के ध्यान से आठों वाग्देवियां द्रवीभूत होने लगती हैं और उनके मन्त्र स्वरूप अ क च ट त प य श वर्गवाली सम्पूर्ण मातृका शक्तियां चन्द्रक्रान्त मणियों की नाईं, जो समस्त वैखरी वाणी की वर्णात्म आधार हैं, द्रवीभूत होकर उस कवि में वर्णपदमंत्र-विग्रहा नवरसयुक्त वैखरी शक्ति का विकास करने लगती हैं।

यह श्लोक सात्विक और राजसिक दोनों भावों को एक स्थानीय कर देता है। 'महतां काव्यानाम्' पद से ऋषिप्रणीत शास्त्रों से अभिप्राय है।

मधुमती भूमिका की सिद्धि

[१८]

तनूच्छायाभिस्ते तरुणतरणिश्रीध(स)रणिभि-
र्दिवं सर्वामुर्वीमरुणिमनिमग्नां स्मरति यः।
भवन्त्यस्य त्रस्यद्वनहरिणशालीननयना:
सहोर्वश्या वश्या: कतिकतिन गीर्वाणगणिका: ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ:—तरणि=सूर्य। सरणि=किरणें। गीर्वाणगणिका=अप्सराएँ। दिव्यं=आकाश। उर्वी=पृथिवी। छाया=कान्ति।

अर्थ:—तरुण सूर्य की श्री अर्थात् कान्ति को धारण करने वाले शरीर की छाया (कान्ति) से आकाश और सारी पृथिवी को अपनी अरुणिमा (लाल रंग) में निमग्न करती हुई तेरा जो स्मरण करता है, घबराई हुई वन की हरिणियों जैसे चंचल नयनों वाली उर्वशी सहित कितनी ही स्वर्ग की अप्सरायें उसके वश में हो जाती हैं।

सं० टि०:—यहाँ ज्ञानी की दिव्य दृष्टि का, जो सब जगत् को ब्रह्ममय देखने लगती है, वर्णन है। यह मधुमती भूमिका कहलाती है जिसमें देवाङ्गनायें साधक को पथभ्रष्ट करने का यत्न करती हैं।

अप्सराओं से दिव्य शक्तियों का भी अभिप्राय है। उपरोक्त ध्यान करने वाले योगियों को दिव्य शक्तियों का साक्षात् होता है, जिनका वर्णन योगदर्शन के विभूतिपाद के ५१वें सूत्र में मिलता है। उनको वहां स्थानीय देवता कहा गया है। यह अनुभव योगियों को ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय होने पर मधुमती भूमिका में होता है। यह शुद्धसत्वगुणप्रधान भूमिका है। इसमें शक्ति का प्रकाश सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगता है अर्थात् ऐसे योगियों को भूमि और आकाश सर्वत्र भगवती की अरुण कान्ति की छाया से बसा हुआ दीखने लगता है। उक्त सूत्र पर व्यासजी अपने भाष्य में लिखते हैं कि उन स्थानीय देवताओं के प्रलोभनों से योगी को सतर्क रहना चाहिये और संग-दोष से बचने के लिये उसको इस प्रकार सोचना चाहिये कि घोर संसार के अंगारों में जलते हुए और जन्म-मरण के अन्धकार में पड़े हुए मैंने इस क्लेशतिमिर को दूर करने वाले योगप्रदीप का प्रकाश बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है। तृष्णा की कारणभूत विषय-भोगों की आंधी कहीं इस योगरूपी दीपक को कभी बुझा न दे!

कामकला बीज का ध्यान

[१९]

मुखं बिन्दुं कृत्वा कुचयुगमधस्तस्य तदधो
ह(का)रार्धं ध्यायेद्यो हरमहिषि ते मन्मथकलाम् ।
स सद्यः संक्षोभं नयति वनिता इत्यतिलघु
त्रिलोकीमप्याशु भ्रमयति रवीन्दुस्तनयुगाम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः मन्मथ कला=क्लीं अथवा ईं ।

अर्थः—मुख को बिन्दु बनाकर दोनों स्तनों को उसके नीचे दो और बिन्दु बनाना चाहिये । उसके नीचे ह(का)र के अर्धभाग का ध्यान करना चाहिये । हे हरमहिषि ! इस प्रकार जो तेरी कामकला का ध्यान करता है, वह तुरन्त स्त्रियों के चित्त में क्षोभ ले आता है । यह तो अति छोटी बात है, (उसका सामर्थ्य तो इतना अधिक होता है कि) अपितु वह सूर्य और चन्द्र रूपी दो स्तनवाली त्रिलोकी को भ्रमा सकता है ।

सं० टि०:—'हरमहिषि' पद से आदि शक्ति ग्रहण करना चाहिये । 'हरतीति हर' । मन्मथकला, कामकला । कामकला से हमने त्रिपुरोपनिषद् की श्रुति ११ के प्रकाश में काम बीज लिया है । परन्तु ईं को काम कला कहते हैं । ईं में भी तीन बिन्दु माने जा सकते हैं । ईकार का नीचे का भाग हकार का आधा भाग समझा जा सकता है । इसलिये नीचे व्याख्या में क्लीं के स्थान पर

ई भी पढ़ा जा सकता है। बिन्दु तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। उनमें एक मुख है और दो स्तन हैं।

इस श्लोक में कामकला का ध्यान बताया गया है, जो क्लीं में ककार के बिन्दु रूपी मुख के नीचे लकार के दो बिन्दुओं को दोनों स्तनों से उपमित करके ईकार रूपी हरार्धाङ्गिनी के योग से बनती है। इस मंत्र के प्रयोग का फल इह लोक की स्त्रियों को वश करना तो क्या, तीनों लोक वश में किये जा सकते हैं। त्रिलोकी भी एक विराट् स्त्रीवत् ही है, जिसके सूर्य और चन्द्रमा दो स्तन सदृश हैं। (परिशिष्ट नं० २ में त्रिपुरोपनिषद् की श्रुति ११ भी देखें)। इस उपमा से स्त्री मात्र में साधक का पूज्य मातृभाव जागृत किया गया है, क्योंकि सूर्य प्राण रूपी और चन्द्रमा अमृत रूपी दुग्धपान कराकर विश्व का पालन करते हैं। कहा भी है—

'विद्याः समस्तास्तवदेवि भेदाः स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु।'

योगी के रूप, लावण्य और तेजस्विता को देखकर कामिनियों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है, परन्तु योगी की तो इतनी महानता है कि त्रिलोकी भी उस पर अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार रहती है। क्या उसके हृदय में सामान्य रमणियां काम का उद्वेग ला सकती हैं? वह प्रकृति देवी के विराट् देह के सूर्य-चन्द्ररूपी स्तनों के दूध को पीकर दोनों का योग करता है। स्तनपान करने वाला शिशु कितना सुन्दर होता है जिसके रूप-लावण्य पर सभी

मोहित होकर उसका कितने स्नेह से लालन-पालन किया करते हैं। परन्तु क्या उस शिशु में युवतियों को देखने से कभी भी काम की भावना का उदय होना सम्भव है ? प्रकृति देवी के सूर्यचन्द्ररूपी स्तनों के दूध से पुष्ट होने वाला योगी फिर इन सामान्य स्त्रियों की मायामयी मोहिनी से कैसे प्रभावित हो सकता है ? वह प्रकृति-जननी का बालक तो दिव्यामृत पीकर जडोन्मत्त बालवत् क्रीड़ा करता है। कामी पुरुष के चित्त में स्त्री के मुख और कुचयुग पर दृष्टि पड़ने से विकार उत्पन्न होता है, परन्तु जो पुरुष उनको देखकर, स्त्री के रूप में काम-कला की भावना करके, उनमें उपास्य बुद्धि उत्पन्न कर लेते हैं, उनके वश में त्रिलोकी हो जाती है अर्थात् वे काम को जीतकर मन्मथारि हो जाते हैं।

सूर्य जगत् का प्राण और चन्द्रमा जगत् का मन है। श्रुतियां कहती हैं—'प्राणः प्रजानामुदत्येषः सूर्यः' और 'चन्द्रमा मनसो जातः।' दोनों का सम्बन्ध सूर्य और चन्द्रमण्डलों से है। अनाहत चक्र के १२ दल १२ आदित्यों से और विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलाओं से उपमित किये जाते हैं। इसी प्रकार मणिपूर के १० दल अग्नि की १० कलाओं से उपमित किये जाते हैं। इडा को चन्द्र नाड़ी, पिंगला को सूर्य नाड़ी कहते हैं और सुषुम्ना में तीनों का समावेश है। हृदय प्राण का और आज्ञा चक्र मन रूपी चन्द्रमा का स्थान है। जो योगी सूर्य को उन्मुख करके सोमामृत का पान करते

हैं और दिव्यानन्द का आस्वाद लेते हैं, उनको कामाग्नि का संताप संतप्त नहीं करता। ज्ञानी, भक्त, योगी अथवा समयाचार के उपासक किसी को भी काम-प्रयोग इष्ट नहीं होता, इसलिये इन श्लोकों को एक ज्ञानी अथवा योगी के हृदय में वैराग्य उत्पन्न करने के निमित्त ही लिखे गये समझना चाहिये। परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीशंकर भगवत्पाद की लेखनी से निकले हुए श्लोकों का अभिप्राय किसी सांसारिक कामवासना से संतप्त मनुष्य की स्त्री-लोलुपता के सहायतार्थ काम-प्रयोगों के लिये लिखा जाना सर्वथा असंभव है और उनमें काम-सिद्धि के तुच्छ प्रयोगों का विनियोग देखना अथवा करना भगवत्पाद की महानता पर कलंक लगाना मात्र है।

शक्तिपात करने की सिद्धि

[२०]

किरन्तीमंगेभ्यः किरणनिकुरुम्बामृतरसं
हृदि त्वामाधत्ते हिमकरशिलामूर्तिमिव यः।
स सर्पाणां दर्पं शमयति शकुन्ताधिप इव
ज्वरप्लुष्टान् दृष्ट्या सुखयति सुधाऽऽधा(सा)रसिरया॥

क्लिष्ट शब्दार्थ—किरन्तीं=किरणें फैलाती हुई (radiating)। निकुरम्ब=समूह। हिमकर=चन्द्र। शकुन्ताधिप=गरुड़।

सिरा=नाड़ी। सुधाधार सिरा=अमृत नाड़ी, जिससे अमृत का स्राव होता है।

अर्थः—जो मनुष्य अङ्गों से अमृतरस रूपी किरणों के समूह का निकास करती हुई तुझको हृदय में धारण करता है और तेरा चन्द्रकान्तशिला की मूर्तिवत् हृदय में ध्यान करता है, वह गरुड़ के सदृश सर्पों के दर्प का शमन कर देता है और अपनी सुधा की वर्षा करने वाली (आज्ञा चक्रस्थ) नाड़ी के द्वारा दृष्टि मात्र से ज्वरसंतप्त मनुष्यों को सुख पहुंचाता है।

जैसे हिमकर शिला (हिम बनाने वाले चन्द्रमा की चांदनी से द्रवीभूत होने वाली चन्द्रकान्त मणि) चन्द्रमा की किरणों से पिघलने लगती है, वैसे ही चन्द्रमण्डल के आज्ञा चक्रस्थ अधोमुख चन्द्रबिम्ब से हृदय में धारण किये जाने पर भगवती की मूर्ति भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग से अमृतरस की किरणें निकालने लगती है। वह योगी सर्पों के दर्प को भी शान्त कर सकता है, जैसे गरुड़ को देखकर सर्प भयभीत होकर चुप हो जाता है। जिस मनुष्य को कुण्डलिनी रूपी नागिन ने डस रखा है और अपनी कुंकुम सदृश दिव्य अरुण मूर्ति के लिये उसके हृदय को निवास-स्थान बना रखा है, उस योगी पर सामान्य सर्पों के विष का प्रभाव नहीं हो सकता। मानो कुण्डलिनी देवी की चन्द्रकान्त मणितुल्य मूर्ति चन्द्रमा की सोमप्रभा पड़ने पर अमृत का स्राव करने लगती है और हलाहल को भी

शान्त करने का सामर्थ्य रखती है। इतना ही नहीं, उस योगी की शांभवी मुद्रा में स्थिरीभूता दृष्टि, अवलोकन मात्र से, आज्ञा चक्र की नाड़ी द्वारा कुण्डलिनी के उगले हुए गरलामृत को सींचकर मनुष्यों का ज्वर शांत कर देती है। यहां ज्वर से साधारण ज्वरों का भाव मात्र ही नहीं लेना चाहिये, यह संसार-संताप भी एक व्यापक ज्वर है, जिसके त्रिताप से भी वह योगी शक्तिपात दीक्षा द्वारा मुक्त कर देता है, यह प्रसिद्ध ही है।

[२१]

तडिल्लेखातन्वीं तपनशशिवैश्वानरमयीम्

निषण्णां षण्णामप्युपरि कमलानां तव कलाम्।

महापद्माटव्यां मृदितमलमायेन मनसा

महान्तः पश्यन्तो दधति परमाह्लादलहरीम्

(परमानन्दलहरीम्) ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—अटवी=बन। महापद्माटव्यां=सहस्रार में।

अर्थः—महापुरुष तेरी विद्युत-रेखा जैसी पतली सूर्य-चन्द्र और अग्नि की त्रिमयी कला को छः कमलों के भी ऊपर कमलों के महाबन में मलमाया से विशुद्ध मन द्वारा देखते और परमानन्द की लहर को धारण करते हैं।

सं० टि०: - इस श्लोक में अभ्यन्तर आज्ञा चक्र के ऊपर मूर्धगत ज्योतिः दर्शन का स्वरूप दिखाया गया है। इससे पूर्व

जो ध्यान बताये गये हैं, वे सब नीचे के स्तरों के ध्यान हैं। कला से चित्स्वरूपा शक्ति अभिप्रेत है और महापद्माटवी से सहस्रार का अभिप्राय है।

षट्चक्र का वेध कर के कुण्डलिनी शक्ति जब सहस्रार में उठती है, तब उसकी कला 'बिजली के सदृश चमकती हुई रेखा के सदृश दृष्टिगोचर हुआ करती है। वह सोम, सूर्य और अग्नि तीनों के तेज से युक्त होती है। उसके दर्शन वे ही महापुरुष योगी कर सकते हैं जिनके मन माया मल से विशुद्ध हो चुके हैं। उसका दर्शन परम आल्हादकारी होता है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में उक्त कला का वर्णन नीचे उद्धृत श्लोकों में किया गया है:—

सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शंखमध्यगः।
उकारश्चन्द्रसंकाश तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥७॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥८॥
शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥९॥
पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा।

अर्थः—शंख के मध्य भाग में (ध्वनि के सदृश) प्रणव की प्रथम मात्रा अकार सूर्यमण्डल के मध्य है, दूसरी मात्रा उकार चन्द्रमा के सदृश उसके मध्य में स्थित है, तीसरी मात्रा मकार अग्निसदृश, जिसमें धूआं न हो, विद्युद्वत् चमकती हुई

उसके मध्य में है। इस प्रकार तीनों मात्राओं को सोमसूर्याग्निमयी जानना चाहिये। उसके ऊपर दीपशिखा के सदृश लौ है जिसे प्रणव के ऊपर आधी मात्रा समझना चाहिये। वह कमलसूत्र जैसी सूक्ष्म शिखा योगियों को दृष्टिगोचर होती है। उक्त प्रणवकला जो शक्ति की ही कला है, सहस्रार में दीखती है। शुद्ध अन्तःकरण वाले योगी ही उसे देख सकते हैं। उसका दर्शन परम आल्हाद का देने वाला होता है। इसके दर्शन के पश्चात् ज्ञान की भूमिका का उदय होता है। सिद्धियों की भूमिका भी नीचे ही रह जाती है, क्योंकि प्रत्येक चक्र की सिद्धियां भिन्न-भिन्न हैं।

चक्रों और सहस्रार का सविस्तर वर्णन

स्थूल देह सप्त धातुओं का बना है। जो अन्न-जल खाया-पिया जाता है, वह जठराग्नि से पचकर रस बनाता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा, मेदा से स्नायु, स्नायु से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है। रुधिर, मांस, मेदा (चर्बी), स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र (वीर्य) सप्त धातु कहलाती हैं। रक्त को अंग-प्रत्यंग में पहुंचाने के लिये रक्त-वाहिनी (arteries) नलिकाओं सदृश नाड़ियां हैं। जब वह रक्त दूषित होकर नीला हो जाता है, तब उसको स्वच्छ करने के लिये हृदय में खींचकर फुप्फुसों में पहुंचाया जाता है। वहां श्वास द्वारा स्वच्छ हो जाने पर वह फिर हृदय में खींच लिया जाता है और रक्तवाहिनी नाड़ियों में भेज दिया जाता

है। हृदय पंप का कार्य करता रहता है जिसका एक ओर फुफ्फुसों से संबंध है और दूसरी ओर रक्त को लाने-लेजाने वाली नलिकाओं से। नीले रंग के दूषित रक्त को हृदय में खींचने वाली नलिकायें पित्त नाड़ियां (veins) कहलाती हैं।

इसी प्रकार मेद (चर्बी) बनाने वाले द्रव्य की भी नलिकायें होती हैं जिनको कफवाहिनी (Lymphs) नाड़ियां कहते हैं। मेदा से स्नायु की उत्पत्ति बताई जाती है। ये स्नायु वात अर्थात् प्राणवाहिनी नाड़ियाँ (nerves) कहलाती हैं। मज्जा अस्थियों की नलिकाओं में होती है और शुक्र शुक्राशय में अण्डकोषों द्वारा बनता है। यहां हम स्नायुओं को ही नाड़ी नाम से संबोधित करते हैं। ये नाड़ियां सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा आ खशिख देह का मस्तिष्क से संबंध जोड़ती हैं। इनकी संख्या ७२ हजार कही जाती है। सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड के भीतर सुरक्षित है जिसकी आकृति ∞ के सदृश मिलती हुई-सी समझनी चाहिये। किसी पदार्थ के ऐसे पुर्जों को एक दूसरे पर रखकर और दोनों ओर के बड़े छिद्रों में दोनों ओर बारीक तारों के गुच्छों को पिरोकर सब पुर्जों को ग्रथित कर लिया जाय तो वह सर्पाकार सुषुम्ना का ढांचा-सा दीखने लगेगा। सुषुम्ना में तारों के स्थान पर वे स्नायु हैं जो मस्तिष्क को देह में फैले हुए समस्त नाड़ीजाल से सम्बन्धित करते हैं।

बीच के छिद्र से बनी नलिका में एक द्रव पदार्थ भरा रहता है जिसको चन्द्रमण्डल से निकलने वाला अमृत कहते

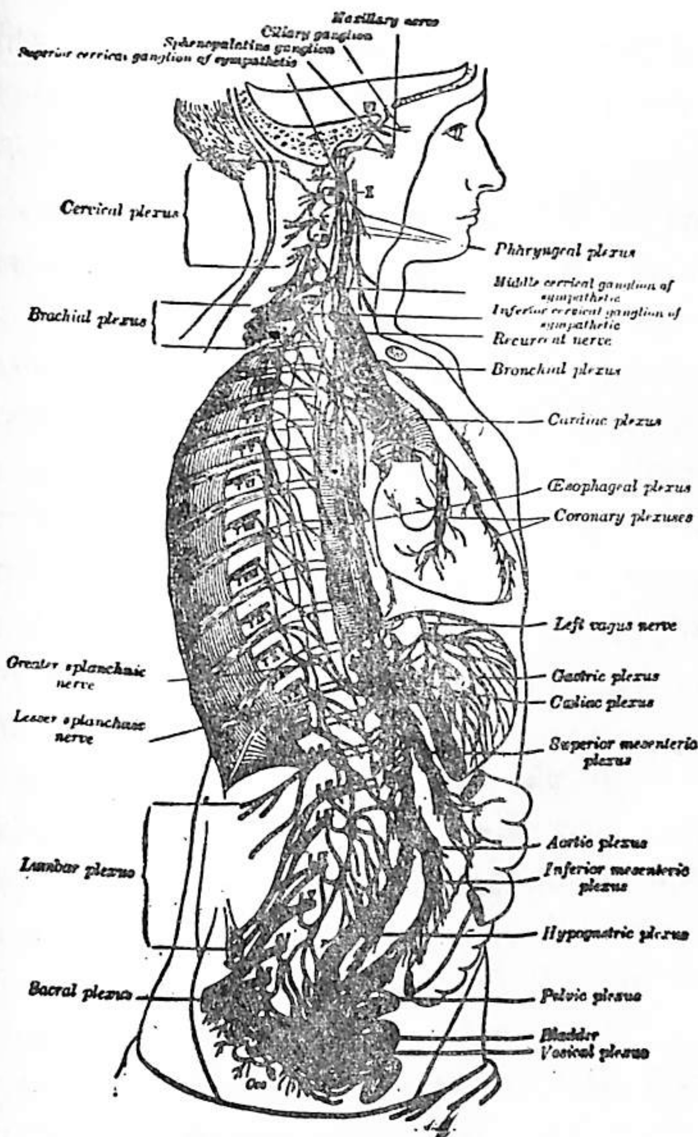
हैं। इसे सुषुम्ना मानों पान कर के पुष्ट होती है। अंग्रेजी में इसे (cerebro spinal fluid) अर्थात् मास्तिष्क सौष्मन द्रव कहते हैं। सुषुम्ना के अन्दर गुदा, उपस्थ, नाभि, वक्षस्, ग्रीवा के ५ प्रदेशों से सम्बन्धित ५ चक्र हैं जिनकी विभिन्न अंगों की नाड़ियों से सुषुम्ना का सम्बन्ध होता है। सुषुम्ना के दोनों तरफ के स्नायु भ्रूमध्य प्रदेश में एक बिन्दु पर मिलकर दक्षिण भाग से वाम ओर और वाम भाग से दक्षिण ओर होकर सहस्रार में चढ़ जाते हैं। इस भ्रूमध्य स्थान को आज्ञा चक्र कहते हैं। ग्रीवा प्रदेश के चक्र को विशुद्ध, वक्षस् के चक्र को अनाहत्, नाभि प्रदेश के चक्र को मणिपूर, उपस्थ प्रदेश के चक्र को स्वाधिष्ठान और गुदा प्रदेश के चक्र को मूलाधार कहते हैं।

भ्रूमध्य से ऊपर कपाल-सम्पुट में सुषुम्ना का ऊर्ध्व भाग चार रूपों में परिणित हो जाता है। सबसे नीचे का भ्रूमध्यस्थ अधोभाग (modula oblangata) कहलाता है। उसके ऊपर छोटा मस्तिष्क (cerebellum or hind brain) कहलाता है, इसको कपाल-कंद कहते हैं। यहां पर पांचों ज्ञानेन्द्रियों और स्वप्न की नाड़ियों का स्थान है, इसी को मनश्चक्र भी कहते हैं। इसके ऊपर एक अति सूक्ष्म नलिका है जो सुषुम्ना के मध्यवर्ती बिल का वह भाग है जो छोटे दिमाग अर्थात् कपालकंद को सहस्रार (cerebrum) के मध्यवर्ती ब्रह्मरन्ध्र (Third ventrical) से

जोड़ता है। इस भाग के नीचे कपालकंद के सामने भी एक त्रिकोणाकृति कपाल रन्ध्र (Fourth ventrical) है।

ब्रह्मरन्ध्र भी त्रिकोणाकृति ही है जो पीछे से सामने की ओर फैला हुआ है। ब्रह्मरन्ध्र पर एक पुल-सा बना हुआ है जिस पर सुषुम्ना-पथ से आने वाले स्नायु-समूह स्पर्श करके फिर सारे मस्तिष्क (cerebrum) के विभिन्न केन्द्रों को फैल जाते हैं। इसलिये इस स्नायु-समूह के प्रसार को सहस्रार कहते हैं। ब्रह्मरन्ध्र (Third ventrical) के पिछले भाग पर एक नेत्राकार ग्रन्थि है जिसे Pineal gland कहते हैं। यही तीसरा नेत्र है। सामने भ्रूमध्य पर एक और ग्रन्थि है जिसे putatric gland कहते हैं। ये दोनों ग्रन्थियां योगसिद्धि देने वाली हैं।

गुदा के पीछे एक मांस पेशी है जिसे कंद कहते हैं। वह ६ अंगुल लम्बी और ४ अंगुल मोटी कही जाती है। इसके मध्यवर्ती नाभिवत् केन्द्र पर कुण्डलिनी के सोने का स्थान है। इस स्थान को विषु चक्र भी कहते हैं, क्योंकि यहां शक्ति निष्क्रिय सुप्तवत् रहती है अथवा इड़ा और पिंगला का एक स्थानीय उद्गम स्थान होने के कारण वहां चन्द्रमा और सूर्य दोनों का अभाव-सा रहता है अर्थात् दिन-रात्रि एक समान गतिरहित रहते हैं। विषु दिन-रात्रि के एक समान होने के समय को कहते हैं। कुण्डलिनी को नाभि में धारण करने वाली मांस-पेशी का कंद अधःसहस्रार कहलाता है



Borrowed from Gray's Anatomy

क्योंकि योगियों के समष्टि प्राण देह की सब नाड़ियों से खिंचकर पहिले यहाँ एकत्रित होते हैं और फिर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं ।

ग्रीवा के ऊपर तालु का अन्तिम भाग नीचे की ओर लटका करता है जिसे लम्बिका (काग) कहते हैं। वह भी एक चक्र माना जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् के छटे अनुवाक् में इसको इन्द्रयोनि नाम दिया गया है जिसका शीर्षकपाल से सम्बन्ध है और नीचे हृदयाकाश से भी सम्बन्ध है। इस प्रकार अहंवृत्ति को हृदयाकाश से ब्रह्मरन्ध्र में लम्बिका द्वारा ले जाने का सुषुम्ना से बाहर भी एक मार्ग है जिसका कपालकंद से सीधा सम्बन्ध है अर्थात् वह हृदय के अष्टदल पद्म का मनश्चक्र से सीधा सम्बन्ध जोड़ता है। इसीलिये हृदय के इस चक्र को सुषुम्नागत षट्चक्रों से पृथक् चक्र माना जाता है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि कपाल कंद से पांचों ज्ञानेन्द्रियों और उनके गोलकों से सम्बन्ध रखने वाली नाड़ियों का निकास है। उनमें से एक नाड़ी ग्रीवा से नीचे उतरकर वक्षस्, उदर, कटि भाग में गुदा तक नीचे उतरती है जिसे अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं। योग के आचार्यों ने उसके विभिन्न स्तरों पर विभिन्न नाम दिये हैं, जैसे कूर्म, विश्वोदरी, कुहू इत्यादि। इस नाड़ी की वाम शाखा निरर्थक-सी है, परन्तु दक्षिण शाखा के तीन विभाग

वक्ष, उदर और कटि प्रदेश के भाग हैं। वक्ष के भाग में प्राण, उदर के भाग में समान और नीचे के भाग में अपान के स्थान हैं। इस नाड़ी का सम्बन्ध इडा और पिंगला की मुख्य नाड़ियों (sympathetic columns) से भी है और उनका सम्बन्ध सुषुम्ना के चक्रों से है। इसलिये यह प्राण, समान, अपान की नाड़ी स्वतन्त्र है और मन के अधीन कार्य नहीं करती। इसको स्वतन्त्र नाड़ी-विभाग autonomous system कहते हैं।

सुषुम्ना के तीन परत होते हैं। ऊपर के परत वाले भाग को वज्रा कहते हैं, उसके नीचे का परत चित्रा कहलाता है जिसके बीच में एक और नलिका है। सुषुम्नागत छः चक्र अथवा कमल चित्रा में ही होते हैं। इसके बीच वाली नलिका को पुष्प के बीच वाली नलिका के सदृश समझना चाहिये जिसे ब्रह्म-नाड़ी या विरजा भी कहते हैं।

इस श्लोक में जिन छः पद्मों के ऊपर महापद्मावटी में भगवती की कला की स्थिति कही गई, वे चित्रास्थित छः चक्र अथवा पद्म हैं। छओं चक्रों के छः अधिदेवता हैं—मूलाधार के ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान के विष्णु, मणिपूर के रुद्र, अनाहत के ईश्वर, विशुद्ध के सदाशिव और आज्ञा के परशिव। इनके अरों अथवा दलों की संख्या तत्त्वों की कला के अनुसार है। अग्नि की १०, सूर्य की १२, चन्द्रमा की १६ कलायें क्रमशः मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध के दलों के बराबर हैं। ब्रह्मा,

विष्णु और रुद्र प्रत्येक की दस-दस कलायें हैं। ईश्वर की चार और सदाशिव की १६ कलायें हैं। मूलाधार की ४, स्वाधिष्ठान की ६ और आज्ञा की दो शिराओं को भी कला कहें तो सब का योग पूरा १०० होता है। आज्ञा में परशिव निष्कल है, जिसकी शक्ति की ही ये सब कलाएँ कही जा सकी हैं अर्थात् सहस्रारस्थित भगवती की कला के ये सब अवान्तर भेद हैं अथवा वे निम्नस्तरों पर चमकने वाले प्रतिबिम्बों के सदृश कही जा सकती हैं। कलाओं के नाम आगे दिये जायेंगे।

चन्द्र-सूर्य

ऊपर कहा जा चुका है कि अनाहत चक्रस्थ सूर्य उन्मुख होकर आज्ञा के ऊपर स्थित अधोमुख चन्द्रमा पर अपना प्रकाश डालता है। तब दोनों के योग से चन्द्रमा से अमृत स्रवने लगता है। अनाहत चक्र के १२ पत्रों पर १२ आदित्य और विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर चन्द्र की १६ कलायें हैं।

चन्द्रमा का सम्बन्ध मन से और सूर्य का सम्बन्ध प्राण से है। कहा है—'चन्द्रमा मनसो जातः', 'आदित्यो वै प्राणः', 'आत्मन एषः प्राणो जायते।' चन्द्रमा ईश्वर के मन से उत्पन्न हुआ है और आदित्य स्वयं समष्टि ब्रह्माण्ड को जीवन प्रदान करने वाला प्राण है। प्राण का उदय सीधे आत्मा से होता है। शरीर में मुख्यतः दो प्रकार की नाड़ियों के विभाग हैं। एक प्रकार की नाड़ियां वे हैं जो मेरुदण्ड के मध्य में स्थित सहस्रार से नीचे उतरने वाली

सुषुम्ना से निकलकर सारे शरीर में फैलती हैं और सुषुम्नागत छओं चक्र उनके निकास के केन्द्र हैं जिनके स्थान ग्रीवा, वक्षस्थल, कटि, उपस्थ और अधोभाग हैं। इन नाड़ियों का मन और प्राण दोनों से सम्बन्ध है। दूसरे प्रकार की वे नाड़ियां हैं जो आज्ञा चक्र के पास के मनश्चक्र (hind brain) से निकल कर श्रोत्र, नेत्र, मुख, जिह्वा में फैल जाती हैं और उनमें से एक कूर्म (विश्वोदरी Vagus nerve) नीचे उतर कर गुदा तक फैली हुई है। इसका वाम भाग छोटा है और कुछ विशेष कार्य नहीं करता, परन्तु दक्षिण भाग फेफड़ों और हृदय में श्वास-प्रश्वास का कार्य, उदर में पाचन और रस-वितरण का कार्य और अधोभाग में मलविसर्जन का कार्य करता है। पांच प्राणों की क्रियायें इसी नाड़ी से सम्बन्ध रखने वाली क्रियायें हैं जो मन के अधीन नहीं हैं और सोते-जागते सदा अपना कार्य किया करती हैं, क्योंकि प्राण कभी सोता नहीं, मन सोता-जागता है। इस दक्षिण 'वैगस' नाड़ी का सम्बन्ध सुषुम्ना के दक्षिण पार्श्व की पिंगला से है; इडा से नहीं है। इसलिये चन्द्रमा का संबंध इडा से, सूर्य का संबंध पिंगला से रहता है और इडा को चन्द्र नाड़ी तथा पिंगला को सूर्य नाड़ी कहते हैं।

सूर्य की किरणों में प्रकाश, उष्णता और प्राणशक्ति अर्थात् जीवनप्रद शक्ति की त्रिधा शक्ति होती है। उनमें उष्णता विष का कार्य करती है। परन्तु विष भी अल्प मात्रा में अमृत

का कार्य करता है, इसलिये सूर्य की उष्णता एक परिमित तापमान की अवधि तक जीवन-रक्षा में सहायक होती है और उस अवधि के बाहर मारक सिद्ध हो जाती है। सूर्य की उष्णता को तो चन्द्रमा स्वयं पान कर लेता है और प्रकाश तथा प्राणशक्ति को अमृत रूप में भूमि पर अपनी कलाओं द्वारा बरसाया करता है। यह बाह्य क्रिया प्राणिमात्र के शरीर पर इडा और पिंगला नाड़ियों द्वारा प्रभाव डालती है।

शुक्ल पक्ष में अमृत की वृद्धि और कृष्ण पक्ष में कमी होती है। साधारण प्राणियों में अमृत का संचय नहीं होने पाता, अधोमुख अनाहत चक्र अपनी उष्णता से सब अमृत को सुखाता रहता है, इसलिये उसको विष की वर्षा करने वाला माना गया है। कुण्डलिनी के जागने से उसके ऊर्ध्व मुख होने पर उसकी क्रिया चन्द्रमण्डल पर होने लगती है और चन्द्रमण्डल से प्रस्रवित अमृत सब नाड़ियों को सींचने लगता है।❀

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्द के १५वें अध्याय में ४१, ४२ श्लोक संपूर्ण योगमार्ग के अनुष्ठान का बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं। जब धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान् के परम धाम चले जाने का समाचार जाना तो उन्होंने जिस क्रम से ब्रह्म-

---

❀ इस विषय पर विशेष जानकारी के लिये लेखक की Divine Power नाम की अंग्रेजी पुस्तक देखें।

समन्वय कर के उत्तराखण्ड की ओर प्रस्थान किया था, वह इस प्रकार है:—

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राणे इतरे च तं।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वेह्यजोहवीत् ॥ ४१

त्रित्वे हुत्वाथ पंचत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ॥ ४२

अर्थः—उस मुनि (युधिष्ठिर) ने वाणी को मन में आहुति दी और मन की प्राण में; प्राण की अपान में और उत्सर्ग सहित अपान की मृत्यु में और मृत्यु की आहुति पञ्चत्व में दी। फिर पञ्चत्व की त्रित्व में आहुति देकर, उस (त्रित्व) की एकत्व में आहुति दी। इस प्रकार सबकी आत्मा में आहुति देकर आत्मा की आहुति अव्यय ब्रह्म में दी। अर्थात् मौन धारण कर के और मन को संकल्प-विकल्प रहित एकाग्र कर के वाणी को मन में लीन कर, फिर मन का प्राण से और प्राण का अपान से योग किया और तीनों को सुषुम्ना-द्वार में प्रविष्ट कर के मृत्यु को जीत लिया, मानों मृत्यु को षट्चक्र वेध द्वारा पांचों तत्त्वों के वेध में लीन कर दिया। फिर पांचों तत्त्वों को तीनों (ब्रह्म, विष्णु और रुद्र) ग्रंथियों के वेध द्वारा तीनों गुणों में लीन कर दिया और तीनों गुणों को उनके कारणभूत एक महत्तत्त्व में लीन कर दिया। इस प्रकार सब को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा अक्षर ब्रह्म में लीन कर दिया।

तत्पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि' के ज्ञान में निदिध्यासन द्वारा स्थिति रखते हुए सायुज्य मोक्ष की प्राप्ति की।

तत्वों और चक्रों के अधिदेवों की कलाओं के नाम

मणिपूर में अग्नि की दस कलाएँ सारे शरीर के व्यापार को धारण किये हुए हैं। अग्नि का स्थान योनि-स्थान में बताया जा चुका है। उसकी दस कलाएँ मणिपूर में उठा करती हैं। मणिपूर के दस दलों का प्रत्येक दल इन कलाओं का एक-एक दल है। अग्नि की कलाओं के नाम ये हैं—

धूम्रार्चि, ऊष्मा, ज्वलिनी, विस्फुलिंगी, सुश्रिया, सुरूपा, कपिला, हव्यवाहिनी और कव्यवाहिनी।

अनाहत चक्र के १२ दल सूर्य की १२ कलायें हैं। उनके नाम ये हैं: तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीची, ज्वालिनी, रुची, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा।

विशुद्ध चक्र के १६ दल चन्द्रमा की १६ कलायें हैं, उनके नाम ये हैं:—अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टी, पुष्टी, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अङ्गदा, पूर्णा और पूर्णामृता।

मणिपूर चक्र के नीचे रुद्र ग्रन्थि है। रुद्र की १० कलायें हैं, जिनके नाम ये हैं: - तीक्ष्णा, रौद्री, भया, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, क्रिया, उद्गारी और मृत्यु।

अनाहत के ऊपर विष्णु ग्रंथि है। विष्णु की भी १० कलायें

हैं, जिनके नाम ये हैं: - जरा, पालिनी, शान्ति, ईश्वरी, रति, कामिका, वरदा, ह्लादिनी, प्रीति और दीर्घा।

आज्ञा चक्र के ऊपर ब्रह्म ग्रन्थि है। ब्रह्मा की १० कलायें ये हैं:—सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिरा, स्थिति और सिद्धि। तीनों के मध्य चार रंग की दीपशिखा-तुल्य ईश्वर कला है, जिसके रंग पीत, श्वेत, अरुण और कृष्ण (असित) हैं। इसका स्थान हृदय में है। शिखा के ऊपर उसी के अग्रभागवत् सदाशिव कला है जो विद्युत सदृश कही है—

तस्य मध्ये वन्हिशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थितः।
नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युल्लेखेव भास्वरा॥
नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः॥
स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥

—नारायणोपनिषद्, खण्ड २, १३-२

अर्थः— उसके मध्य अग्नि की शिखा पतली ऊपर को उठी हुई खड़ी है जो नीले मेघों में विद्युत रेखा के सदृश चमकती है। वह नीवारशूक के सदृश पतलो, पीत वर्णा, अणु के सदृश चमकती है। उसकी शिखा के मध्य में परमात्मा विराजता है, वही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र और परम स्वराट् अक्षर ब्रह्म है।

इसी को सदाख्य कला समझना चाहिये। सदाख्य

गौं आवरण	नामचक्र	योगिनियों सहित अधिष्ठातृ चक्रेश्वरी देवियां	योगि
१ बिन्दु	सर्वानन्दमय	महात्रिपुरसुन्दरी परापरातिरहस्य योगिनी	१. श्री ललिता
२ त्रिकोण	सर्वसिद्धिप्रद	त्रिपुराम्बा परापररहस्य योगिनियां	१. कामेश्वरी २. वज्रेश्वरी ३. भगमालिनी } इक्ष ५ पा वाग्
३ अष्टार	सर्वरोगहर	त्रिपुर सिद्धा अति रहस्य योगिनियां	१. वशिनी २. कामेश्व ५. अरुणा ६. जयनी निग
४ अन्तर्दशार	सर्वरक्षाकर	त्रिपुरमालिनी निगर्भ योगिनियां	१. सर्वज्ञा २. सर्वशक्ति ३ सर्व व्याधिविनाशिनी ६. ८. सर्वानंदमयी ९. सर्वरक्ष
५ बहिर्दशार	सर्वार्थसाधक	त्रिपुराश्री कुलोत्तीर्ण योगिनियां	१. सर्वसिद्धिप्रदा २. सर्वस मंगलकारिणी ५. सर्वका सर्वमृत्युशमनी ८. सर्व १०. सर्वसौभाग्यदायिनी
६ चतुर्दशार	सर्वसौभाग्य दायक	त्रिपुरवासिनी संप्रदाय योगिनियां	१. सर्वसंक्षोभिणी २. सर्व ल्हादिनी ५. सर्वसंमोहिनी ८. सर्ववशंकरी ९. सर्वरं र्थसाधिनी १२. सर्वसंप सर्वद्वंद्वक्षयंकरी
७ अष्टदल	सर्वसंक्षोभण कारक	त्रिपुरसुन्दरी परायोगिनियां	१. अनंग कुसुमादेवी २. देवी ४. अनंग मदनातुर वेगिनीदेवी ७. अनंगांकु

	(श्रीचक्रानुसार संख्या) मण्डलत्रय, ग्रन्थित्रयः	पीठत्रय	भाव व्यष्टिः—
	श्री	पूर्णगिरि पीठ (सहस्रार चल)	शिवभाव
अग्नि ब्रह्मग्रंथि	अग्नि (त्रिकोण)	कुण्डलिनी	जीवभाव
	शिवाकार	कामरूप पीठ (स्थिर मूलाधार)	
	अष्टवसु (अष्टार)	उड्डियान पीठ (चल स्वाधिष्ठाने)	कारण शरीर
सूर्य विष्णुग्रंथि	१० वन्हिकला भूतलस्थ (अन्तर्दशार)		सूक्ष्म शरीर
	(बहिर्दशार) १० वन्हिकला आदित्यस्थ		”
चन्द्र रुद्रग्रंथि	(चतुर्दशार) १४ चन्द्र-कला प्रतिपदा से चतुर्दशी तक घटती बढ़ती हैं। सब कलाओं के प्रकाशयुक्त पूर्णिमा और प्रकाशरहित अमावस्या। आठ दलों में १६ कलाओं का समावेश		स्थूल शरीर वासना

तत्त्व की १६ कलायें हैं:—निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इन्धिका, दीपिका, रेचिका, मोचिका, परा, सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञाना, ज्ञानामृता, आप्यायिनी, व्यापिनी और व्योमरूपा।

सब कलाओं का योग ८८ होता है, इनमें मूलाधारस्थ पृथिवी की ४, जल की छः और आज्ञा चक्र की इडा, पिंगला अथवा सहस्रार की ओर बहने वाली वरणा और असी दो कलायें मिलाने से सब की संख्या पूरी १०० होती है। ये सब भगवती कुण्डलिनी देवी की ही कलायें हैं। मूलाधार से उठ कर सारे कुलपथ में उक्त कलाओं के विविध रूपों में प्रकाशित होती हुई कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में अपने पति शिवजी से जब मिलने जाती है, तब मानों अनेक शृङ्गार करती है।

आज्ञा के ऊपर ६ स्तर

मूलाधार से नीचे विषु और अधःसहस्रार संज्ञक दो चक्र और भी माने जाते हैं और आज्ञा के ऊपर बिन्दु, अर्धेन्दु अथवा अर्धचन्द्रिका, निरोधिका, नाद, महानाद अथवा नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समनी और उन्मनी ६ स्तर हैं। इनमें प्रथम चार स्तरों की पांच-पांच कलायें ५ महाभूतों के अनुसार हैं। नादान्त में वाच्य-वाचक का भेद लीन हो जाता है। नाद को वाचक अर्थात् शब्दात्मक समझना चाहिये। उसके ५ स्तर ५ तत्त्वों के योग से उत्पन्न होने वाले

शब्द कहे जा सकते हैं। नीचे के ३ स्तर रूपात्मक हैं। निरोधिका में रूप का निरोध हो जाता है। शक्ति स्तर पर तीव्र आनन्द लहरी का अनुभव होता है, व्यापिका पर शून्य स्थान है. इसका वेध दिव्यकरण की विशेष क्रिया द्वारा होता है। समनी में सास्मिता समाधि और उन्मनी में उन्मनी अवस्था होती है। इन स्तरों को पातञ्जल योग-दर्शन के अनुसार निरोधिका पर निर्वितर्क, नादान्त पर निर्विचार, व्यापिका पर सानन्द और समनी पर सास्मिता संप्रज्ञात समाधियों का स्तर समझा जा सकता है।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात् ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥३

सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषात्वन्ये निरर्थकाः ।
हृल्लेखे* परमानन्दे तालुमूले व्यवस्थिते ॥१६

अत ऊर्द्ध्वं *निरोधे तु मध्यमं मध्यमध्यमं ।
उच्चारयेत्परां शक्तिं ब्रह्मरन्ध्रनिवासिनीम् ॥१६

गमागमस्थं गगनादि शून्यं चिद्रूपदीपं तिमिरान्धनाशम् ।
पश्यामि तं सर्वजनान्तरस्थं नमामि हंसं परमात्म रूपम् ॥२०

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः ॥२१

---

*नोटः - हृल्लेखा और निरोधिका स्त्रीवाचक पद हैं, परन्तु यहां पुरुषवाचक प्रयुक्त किये गये हैं। ये छान्दस् प्रयोग हैं।

तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत् ॥२२
आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधे तु त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते ॥२३
ब्रह्मरन्ध्रे महास्थाने वर्तते सततं शिवा।
चिच्छक्तिः परमादेवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता ॥४७
मायाशक्तिर्ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा।
नादरूपा पराशक्तिर्ललाटस्यतु मध्यमे ॥४८
भागे बिन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्यापरांशके।
बिन्दुमध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते ॥४६
हृदये स्थूलरूपेण मध्यमेन तु मध्यमे।

—योगशिखोपनिषद्, अध्याय ३

अर्थः—सुषुम्ना, कुण्डलिनी, चन्द्रमण्डल से टपकने वाली सुधा और मनोन्मनी के रूपों में प्रकट होने वाली चिदात्मिका महाशक्ति को नमस्कार है। सुषुम्ना शांभवी शक्ति है और शेष अन्य सब नाड़ियां निरर्थका हैं। तालुमूल अर्थात् छटे लंबिका स्थान पर परमानन्द स्वरूपिणी हृल्लेखा (ह्रीं) शक्ति व्यवस्थित है। वहां पर ब्रह्मरन्ध्र में निवास करने वाली परा शक्ति का उच्चारण करना चाहिये। फिर उसके ऊपर निरोधिका (१०वें स्थान) के मध्य होते हुए मध्य-मध्य जहां गमनागमन की स्थिरता है, गमनादि से

शून्य है और तिमिरांध का नाश करने वाले चिद्रूप दीपक का स्थान है, वहाँ जाना चाहिये। सब मनुष्यों के अन्तर में विराजने वाले उस परमात्मरूप हंस कला को नमस्कार है।

अनाहत (चौथे) चक्र से उदय होने वाले शब्द और उस शब्द में जो ध्वनि (११वें और १२वें स्तर पर) है, उस ध्वनि के अन्तर्गत जो ज्योतिः (१३वां स्तर) है, उस ज्योति में मन लगाकर जहां मन का लय हो जाता है वहाँ (१४वें) से सहस्रार तक का स्तर विष्णु का परमपद है। उसके लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ श्रीगुरु की शरण में जाना चाहिये (क्योंकि १४वें स्तर का वेध विना दिव्यकरण के नहीं होता)। कहा है कि मूलाधार शक्ति के सोते रहने पर सारा विश्व मोह-निद्रा में सोता रहता है और उस शक्ति के प्रबुद्ध होने पर त्रिलोकी की शक्तियाँ जाग उठती हैं। ब्रह्मरन्ध्र रूपी महास्थान (सहस्रार) में शिवा शक्ति सदा रहती है, वहीं परमा चिति शक्ति देवी मध्य में सुप्रतिष्ठित है। विशुद्ध (५वें) व्योमचक्र और ललाट के अग्रभाग में माया शक्ति है। नादरूपा पराशक्ति ललाट के मध्य भाग (११वें) में है और बिन्दुमयी शक्ति (८वें स्तर पर) ललाट के अपरांश भाग में है। बिन्दु में जीवात्मा सूक्ष्म रूप से रहता है, हृदय में स्थूल रूप से रहता है और दोनों के मध्य में मध्यम रूप से रहता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' ज्ञान का उदय

पूर्वोक्त अनुभव प्राप्त योगी को महावाक्यों के ज्ञान का उदय होता है. इसलिये अगले श्लोक में 'भवानि त्वं' पद से ज्ञान की भूमिका का उल्लेख किया गया है।

[२२]

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमुकुटनीराजितपदाम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ:—भवानि=हे भवानि अथवा मैं हो जाऊँ। नीराजितपदां=जिस पद की आरती उतारी जाती है।

अर्थ:— 'हे भवानि ! तू मुझ इस दास पर भी अपनी करुणामयी दृष्टि डाल',—इस प्रकार कोई मुमुक्षु स्तुति करते समय 'भवानि त्वं' (मैं तू हो जाऊँ) इस पद का ही उच्चारण कर पाता है कि उसी समय तू उसे निज सायुज्यपद प्रदान कर देती है, जिस पद की कि ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र भी अपने मुकुटों के प्रकाश से आरती उतारा करते हैं (अर्थात् प्रणाम करते रहते हैं।

सं० टि०:—भाष्यकार डिंडिम का मत है कि बाह्याभ्यन्तर योगों का वर्णन करके शंकर भगवत्पाद इस श्लोक में प्रेमरूपा

भक्ति की उत्कृष्टता दिखाते हैं जिससे भगवती के अनुग्रह मात्र से सायुज्यमोक्ष की प्राप्ति अविलम्ब हो जाती है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥—गी० १८,५५

भाव यह है कि जो ईश्वरी सकाम अनुष्ठान करने वालों को उनके सुकृतों का फल देती है, वह मुमुक्षुओं को ज्ञान के फलस्वरूप सायुज्य पदवी भी देती है।

'प्रज्ञानंब्रह्म', 'अहंब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' और 'अयमात्माब्रह्म'—क्रमशः ऋक्, यजुर्, साम और अथर्ववेदों के ये चार महावाक्य जीवब्रह्मैक्य का लक्ष्य कराते हैं। गुरु शिष्य को पहिले प्रज्ञानात्मा का स्वरूप दिखाता है और फिर उपदेश करता है कि यह आत्मा ब्रह्म है और वह तू है। फिर शिष्य 'मैं ब्रह्म हूँ' का अपरोक्ष अनुभव करके उस पद में अपनी स्थिति रखता है जिसको निदिध्यासन कहते हैं। उपदेश के श्रवण के पश्चात् युक्तियों द्वारा समझने को मनन कहते हैं और तत्पश्चात् नित्य आत्म-स्थिति में रहने को निदिध्यासन कहते हैं।

इंद्रियों द्वारा विषयों के जानने को अज्ञान कहते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थों के ज्ञान को नामरूपात्मक भेद से पहचानने को संज्ञान कहते हैं और ध्यानपूर्वक समझ कर प्राप्त किये जाने वाले विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। परन्तु ये सब ज्ञान जिस एक निरपेक्ष ज्ञान के सापेक्षिक भेद हैं उसको प्रज्ञान

कहते हैं। सबका आधारस्वरूप वह प्रज्ञानात्मा ही ब्रह्म है। ब्रह्मात्मैक्य की उपलब्धि श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा कालान्तर में होती है। परन्तु शंकर भगवत्पाद इस श्लोक में कहते हैं कि जाने अथवा अनजाने भगवती की स्तुति करते समय जो कोई इस श्लोक की प्रथम पंक्ति के 'भवानि त्वं' इतने ही पद का उच्चारण मात्र कर पाता है, तो भगवती उसे सायुज्य मोक्ष दे देती है क्यों कि 'भवानि त्वं' पद का यह भी अर्थ होता है कि 'मैं तू बन जाऊँ।' इसलिए भगवती यह मानकर कि 'यह मेरा भक्त मुझ में लीन होकर मेरे सायुज्य पद की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता है',—'दासे मयि···' इत्यादि उच्चारण करने के पूर्व ही उसे सायुज्य मुक्ति प्रदान कर देती है।

समाधि में समनी स्तर पर पहुँच कर योगी जो इच्छा करता है, उसकी वह कामना पूर्ण हो जाती है, इसलिये अहं-ब्रह्मास्मि का ध्यान करने वाला ज्ञानी भी उस स्तर पर ब्रह्मात्मैक्य की अपरोक्षानुभूति कर सकता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

सायुज्य मोक्ष अन्य सालोक, सामीप्य और सारूप्य मोक्षों से ऊंची है अर्थात् सगुण ब्रह्म के लोकों से ब्रह्मभाव ऊंचा है और इंद्रलोक, ब्रह्मलोक एवं विष्णुलोक उस पद के नीचे ही रह जाते हैं। जैसा कि भगवान् गीता में कहते हैं—

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्ति प्रसृता पुराणी। -१५,४
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्॥ – १८,५५

अर्थात् मानो ब्रह्मा, विष्णु और स्वर्गपति इन्द्र के मुकुटों की ज्योतियां उस परम पद के नीचे आरती उतारने के सदृश निम्नस्तरों पर ही चमका करती हैं। अगले श्लोक में सदाशिव का ध्यान दिया गया है।

अर्धनारीश्वर सदाख्य तत्त्व का ध्यान

[२३]

त्वया हृत्वा वामं वपुरपरितृप्तेन मनसा
शरीरार्द्धं शंभोरपरमपि शङ्के हृतमभूत् ।
यदेत (तथा हि)त्त्वद्रूपं सकलमरुणाभं त्रिनयनं
कुचाभ्यामानम्र कुटिलशशिचूडालमुकुटम् ॥

अर्थः—हे भगवती! शंभु का वामाङ्ग हरण करके भी तेरा मन तृप्त नहीं हुआ। मुझे शंका होती है कि दूसरे आधे शरीर का भी अपहरण कर लिया गया है, क्योंकि वह सारा शरीर अरुणवर्ण की आभा से तेरा ही दीख पड़ता है, उसमें तीन नेत्र हैं, वह कुचों के भार से कुछ झुका हुआ है और द्वितीया का चन्द्र केशों के ऊपर मुकुट पर शोभा दे रहा है।

सं० टि०—यहां अर्धनारीश्वर का ध्यान दिखाया गया है जिसमें शक्ति तत्त्व की इतनी प्रधानता है कि शिवतत्व को जानना कठिन हो गया है। वास्तव में शक्ति तत्व शिव तत्व से भिन्न नहीं है।

अर्धनारीश्वर रूप में आधा शरीर शंकर का है और आधा भगवती का, यह बात हम सदाख्यतत्त्व को समझाते समय बता आये हैं। शंकर का शरीर स्फटिक सदृश स्वच्छ है, जो भगवती का शरीर अरुण होने के कारण, उसकी अरुण आभा से अरुण दीखने लगा है और भगवती के स्तन के भार से वाम भाग के किंचित् झुक जाने से शंकर का दक्षिण भाग भी झुक गया है। तीन नेत्र और दोनों के रूप चन्द्रयुक्त होने से यह पहचानना कठिन है कि दक्षिण भाग शंकर का है अथवा सारा शरीर भगवती का ही है। सदाख्य तत्त्व प्रभवोन्मुख होने के कारण पूर्ण शक्तियुक्त होता है, इसलिए अहम्विमर्ष के अध्यात्म भाव को शक्ति ने मानो दबा रखा है।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव

[२४]

जगत्सूते धाता हरिरवति रुद्रः क्षपयते
तिरस्कुर्वन्नेतत्स्वमपि वपुरीशःस्थगयति(स्थिरयति)।
सदा पूर्वः सर्वं तदिदमनुगृह्णाति च शिव-
स्तवाज्ञामालम्ब्य क्षणचलितयोर्भ्रूलतिकयोः॥

अर्थ—ब्रह्मा जगत् की रचना करते हैं, हरि पालन और रुद्र संहार करते हैं। ईश्वर सबका तिरस्कार करके

अपने को स्थिर रखते हैं और शिव, जिनके नाम के पूर्व 'सदा' लगा हुआ है अर्थात् सदाशिव इस सबको लील जाते हैं अथवा तेरे क्षण-चपल भ्रूलताओं की आज्ञा का आलम्ब लेकर सब पर अनुग्रह करते रहते हैं।

सं० टि०:—अनुग्रह्णाति का अर्थ 'अपने में लीन कर लेता है' भी किया जा सकता है। तब श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा:— 'तेरी आज्ञा को पाकर भ्रूलताओं के इशारेमात्र से ब्रह्मा सृष्टि करता है, हरि पालन करता है, रुद्र संहार करता है, ईश्वर तीनों के तिरस्कार पूर्वक तटस्थ रहता है और सदाशिव सबको अपने में (प्रलय के समय) लीन कर लेता है।'

ब्रह्मा जिस सृष्टि की रचना करते हैं और विष्णु पालन करते हैं, उसका प्रलय के समय रुद्र संहार कर देते हैं। अर्थात् ब्रह्मा और विष्णु के साथ रुद्र भी लयाभिमुख होकर महेश्वरतत्त्व में लीन हो जाते हैं और महेश्वर भी मानो तिरस्कार-पूर्वक अपने नेत्र बन्द कर लेते हैं अर्थात् वे भी बीज रूप सदाशिव में लीन हो जाते हैं। परन्तु विश्व का प्रलय हो जाने पर भी प्रभव की बीजशक्ति सदाशिव में बनी रहती है जिसके कारण प्रलयकाल के समाप्त होने पर सदाशिव फिर नई सृष्टि का प्रभव करते हैं, मानो वे भगवती की आज्ञा के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश्वर सब पर अनुग्रह करके फिर पूर्व कल्प के अनुसार सबको नया जीवन प्रदान करते हैं। अर्थात् भगवती सबकी अधिष्ठात्री है क्योंकि प्रभव

और प्रलय दोनों शक्ति के ही कार्य हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और महेश्वर तो भगवती के कर्मचारी मात्र हैं, इसलिये अगले श्लोक में कहा गया है कि इनकी पृथक् पूजा करने की आवश्यकता नहीं है, भगवती के पूजन से सबकी पूजा हो जाती है। ब्रह्मा रजोगुण, विष्णु सत्त्वगुण और रुद्र तमोगुण के अधिदेव हैं और तीनों गुण प्रकृति के अंग हैं अर्थात् माया की अपेक्षा से तीनों देवताओं का अस्तित्व है। निर्गुण ब्रह्म मायातीत है ईश्वर तत्त्व भी माया शक्ति के अधीन है। सदाशिव यद्यपि माया का स्वामी है, परन्तु शक्ति का प्रभुत्व इतना है कि वह भी विवश होकर सृष्टि करने को बाध्य होता है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥—गी० ९, ८

इसलिये –

[२५]

त्रयाणां देवानां त्रिगुणजनितानां तव शिवे
भवेत्पूजा पूजा तव चरणयोर्या विरचिता।
तथा हि त्वत्पादोद्वहनमणिपीठस्य निकटे
स्थिता ह्येते शश्वन्मुकुलित करोत्तंस मुकुटाः॥

अर्थः—हे शिवे! तेरे चरणों की जो पूजा की जाती है, उससे तेरे तीनों गुणों से उत्पन्न इन तीनों देवों का भी

पूजन हो जाता है। इसलिये यह उचित ही है कि ये तीनों देव तेरे चरणों को धारण करने वाले मणियों के बने आसन के निकट अपने मुकुटों की शोभा बढ़ाने के लिये हाथ जोड़े खड़े रहते हैं।

सं० टि०:—भगवती के पूजने से सब देवों का पूजन हो जाता है।

[२६]

विरिञ्चिः पञ्चत्वं व्रजति हरिराप्नोति विरतिं
विनाशं कीनाशो भजति धनदो याति निधनम्।
वितन्द्राः माहेन्द्री विततिरपि संमीलति दृशां
महासंहारेऽस्मिन्विहरति सति त्वत्पतिरसौ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ—कीनाश=यमराज। दृषां=दृष्टि। पंचत्व=मरण (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरिया से अन्य ५वीं अवस्था)।

अर्थ:—हे सती! इस महाप्रलय के समय ब्रह्मा पांचवीं अवस्था को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मर जाता है। हरि विरति को प्राप्त होते हैं। कीनाश (यमराज) का नाश हो जाता है। धनद (कुबेर) का निधन (मरण) हो जाता है, जिसको कभी तन्द्रा नहीं आती वह हजार नेत्र वाला महेन्द्र भी अपनी फैली हुई दृष्टि वाला नेत्र बन्द कर लेता है। परन्तु तेरा पति सदाशिव तो तब भी विहार ही करता रहता है।

सं० टि०:- महाप्रलय में सब देवों का लय हो जाता है, केवल परब्रह्म ही रहता है और शक्ति भी उसमें अव्यक्त दशा में बनी रहती है।

सतियों के सतीत्व की इतनी महानता है कि उनका सौभाग्य सदा अखंड रहता है। इसलिये, हे सती! तेरा पति महाप्रलय में भी रहता है, जब कि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश, इन्द्र, कुवेर और मृत्यु की भी मृत्यु हो जाती है। यह भगवती के सतीत्व का ही प्रभाव है कि सदाशिव तब भी बने रहते हैं क्योंकि सदाख्य तत्त्व में विश्व का बीज रहता है और बीज कभी नष्ट नहीं होता। यदि विश्व का बीज नष्ट हो जाय तो प्रलय के पश्चात् फिर सृष्टि कैसे हो सकती है? वेद कहते हैं—

"यथा धाता पूर्वमकल्पयत्।"

प्रकृति सबको गर्भ में लेकर, महासुप्ति का रूप धारण कर के ब्रह्म में लीन हो जाती है। प्रत्येक बीज में दो दल होते हैं। उनको यदि घुन खा भी जाय, परन्तु दोनों के संयोग का अंकुरस्थान नष्ट न हो तो देखा जाता है कि वह बीज अंकुरित हो उठता है:-

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥—गी० ८, १९

तीन प्रकार का पूजन

अधिकारी भेद से पूजन भी तीन प्रकार का होता है। अधम अधिकारी के लिये मूर्ति, यंत्र इत्यादि द्वारा बाह्य

[भ]ावनायुक्त पूजन कहा जाता है। मध्यम अधिकारी के लिये [अ]न्तर्भावना-युक्त ध्यानादि अन्तर्यागों का साधन है और [उ]त्तम अधिकारी का पूजन उसकी अद्वैत ब्रह्म भावना ही है। [इ]नको क्रमशः अपरा पूजा, पराऽपरा पूजा और परा पूजा [क]हते हैं। द्वैतभाव का सर्वथा अभाव हो जाने पर ही परा [पू]जा संभव है। द्वैतभाव के रहते परा पूजा नहीं बन सकती, [व]ह साधक अपरा अर्थात् बाह्य पूजा का ही अधिकारी है। [प]रन्तु अद्वैत भाव के उदय होने के पूर्व और द्वैत भाव के [क्ष]य होने की अभ्यास दशा में परा और अपरा दोनों का [अ]भ्यास युगपद् रहता है। योगी ऋतंभरा प्रज्ञा के उदय [ह]ोने के पश्चात् परा पूजा का अधिकारी बनता है, क्योंकि [ऋ]तंभरा प्रज्ञा से अविद्याजनित नाम-रूपों के भेदोत्पादक [स]ंस्कार ऋत् के संस्कारों से इस प्रकार नष्ट होने लगते हैं [ज]ैसे सूर्य के उदय से पूर्व उषःकालीन प्रकाश से अन्धकार [स]े उत्पन्न होने वाली भ्रांति में दीखने वाले रूपों और नामों [क]े संस्कार धीरे-धीरे मिटने लगते हैं और सूर्य उदय होने [प]र रात्रि के अन्धकार से उत्पन्न भ्रांति का सर्वथा नाश हो [ज]ाता है। पूर्व श्लोकों में भगवती की अपरा और पराऽपरा [पू]जा का वर्णन था, अगले श्लोक में परा पूजा का रूप [द]िखाया जाता है। ऋतंभरा प्रज्ञा का अर्थ ऋत् अर्थात् [न]िरपेक्ष सत्य से भरी हुई बुद्धि है।

[२७]

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचनं
गतिः प्रादक्षिण्यं भ्रमणमशनाद्याहुतिविधिः ।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ।।

क्लिष्ट शब्दार्थः—सपर्या=पूजा । जल्प=बकवास ।

अर्थः—बोलना मन्त्रों के जप सदृश, कर्मकाण्ड सब मुद्राओं की विरचना के सदृश, चलना-फिरना प्रदक्षिणा के सदृश, खाना-पीना आहुति के समान, सोना प्रणाम सदृश, सब सुखों के उपभोग में आत्मसमर्पण की दृष्टि अर्थात् जो भी मेरा विलास है सब तेरी पूजा-पद्धति का क्रम हो ।

सं० टि०:—यहां ज्ञानयोग का लक्षण दिखाया गया है ।

स्फोटात्मक शब्दों के सार्थक एवं निरर्थक क्रम को जल्प कहते हैं, यहां तक कि वर्णमाला के अक्षरों के उच्चारण को एकाक्षरी मंत्र कहा जाता है । इसी प्रकार उनके योग से जो पद बनते हैं, वे सब मन्त्रों के तुल्य हैं और इस न्याय से सब जल्प जप के समान हैं । पूजन में हाथों के अभिनयों से अनेक प्रकार की मुद्राएँ दिखाई जाती हैं अर्थात् मुद्राएँ एक प्रकार से हाथों की क्रियायें मात्र हैं; इसलिये विविध कर्मों के करने के लिए जो भी क्रियायें हाथ करते हैं, वे सब मुद्राओं

के समान हैं। भगवती की व्यापकता सर्वत्र है, इसलिए चलते-फिरते समय सर्वत्र उस विभु की प्रदक्षिणा होती रहती है। जठराग्नि भी शक्ति का ही रूप है, वह अन्तराग्नि अन्न पचाकर आत्मा को बलि पहुंचाती है। हवन की अग्नि का कार्य भी हव्य को देवता तक पहुंचाना है, इसी अभिप्राय से उसकी एक कला का नाम हव्यवाहिनी है। इस दृष्टि से खाना-पीना सब आहुति देना है। कहा है:—

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधा रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥ दुर्गा सप्त०

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥—गी० १५,१४

साष्टांग प्रणाम में दोनों हाथ, दोनों पैर, छाती, ग्रीवा और मस्तक आठों अंगों से भूमि को स्पर्श करके पड़ा जाता है। भगवती भीतर-बाहर सर्वत्र सब जगह है, इसलिये सोते-लेटते शरीर का भूशायी होना साष्टांग प्रणाम के समान है। जितने सुख हैं, वे सब आत्मानन्द की लहरें हैं, उनमें चित्त लगाना उसे आनन्दब्रह्म को ही समर्पण करना मात्र है। श्रीचक्र पर पूजन करना तो एकदेशीय पूजन है, हमारी अनेक प्रकार की विविध चेष्टायें और कृत्य निरंतर विश्वतोमुखी भगवती का ही तो पूजन किया करती हैं, क्योंकि वास्तविक पूजन तो भाव से सम्बन्ध रखता है। ब्राह्मी स्थिति में रहने वाले का लक्ष्य सर्वदा ईश्वर पद में

लगा ही रहता है और उसके शरीर की क्रियायें भी तद्रूप पूजनवत् ही होती रहती हैं।

[२८]

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरणीं
विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमखाद्या दिविषदः।
करालं यत्क्ष्वेलं (डं) कबलितवतः कालकलना
न शंभोस्तन्मूलं तव जननि ताटङ्कमहिमा ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः- दिविषद=देवता। क्ष्वेल, क्ष्वेड=विष। कवल=ग्रास। ताटंक=कर्णफूल।

अर्थः— ब्रह्मा और शतमुख अर्थात् इन्द्रादि देवगण जरा-मृत्यु का हरण करने वाली सुधा को पीकर भी इस विश्व में काल के शिकार होते हैं और कराल हलाहल विष का पान करने वाले शंभु पर काल की कलना नहीं चलती। इसका कारण, हे जननी! तेरे कर्णफूलों की महिमा है।

सं० टि०:—ताटंकों के कहने से भगवती के कानों में पहिने जाने वाले आभूषणों से इंगित भगवती के अखण्ड सौभाग्य का अभिप्राय है। विधवा स्त्रियां उनको उतार देती हैं। शंकर पर हलाहल विष का असर नहीं हुआ, इसका कारण भगवती का अनादि, अनन्त, अखण्ड सुहाग है। यह है भगवती के सतीत्व का माहात्म्य! वह नित्य है, उसका सुहाग नित्य है, इसलिये

शंकर हलाहल को पीकर भी अमर हैं और देवता अमृत पीकर भी मर जाते हैं। ताटंक अर्थात् कर्णफूल सुहाग के चिन्ह माने जाते हैं।

[२६]

किरीटं वैरिञ्च्यं परिहर पुरः कैटभभिदः
कठोरे कोटीरे स्खलसि जहि जम्भारिमुकुटम्।
प्रणम्रेष्वेतेषु प्रसभमुपयातस्य भवनं
भवस्याभ्युत्थाने तव परिजनोक्तिर्विजयते॥

क्लिष्ट शब्दार्थः - जहि=(ओहाक् त्यागे) त्यागें, बचें।

अर्थ:—शंकर को अकस्मात् अपने भवन में आते देख, खड़ी होकर स्वागतार्थ आगे बढ़ने पर तेरी परिचारिकाओं की इन उक्तियों की जय हो—'सामने ब्रह्मा के मुकुट से बचें', 'कैटभ के मारने वाले विष्णु के कठोर मुकुट से ठोकर लगेगी', 'जम्भारि इन्द्र के मुकुट से बचकर चलें !'

सं० टि०:—भाव यह है कि सब देव भगवती को सदा साष्टाँग प्रणाम करते हैं।

व्याख्या: - अभिप्राय यह है कि एक दिन जब भगवती को इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु प्रणाम कर रहे थे, तब अकस्मात शंकर आ गये। जब भगवती पति का स्वागत करने उठीं, तो उनकी परिचारिकायें कहने लगीं कि ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु के मुकुटों से ठोकर न लगे, इसलिये उन से बचकर चलिये।

कैटभभिद्

विष्णु भगवान् को मधुसूदन और कैटभारि भी कहते हैं क्योंकि मधु और कैटभ दो राक्षस उनके मैल से उत्पन्न हो गये थे। वे जब ब्रह्माजी को खाने लपके तो ब्रह्माजी ने भगवान् को शेषशय्या पर सोते देखकर भगवती की प्रार्थना की। प्रार्थना से प्रसन्न होकर नारायण के नेत्रों में निवास करने वाली महामाया ने भगवान् को जगा दिया। तब भगवान् ने दोनों राक्षसों का वध किया और नाभि से उत्पन्न हुए कमल पर बैठे ब्रह्माजी को भय से मुक्त किया। उपरोक्त आख्यायिका में नारायण अध्यात्म भाव है और शेष भगवान् विराट् की कुण्डलिनीवत आधार-शक्ति है। नारायण को सुलाने वाली निद्रा देवी महासुप्तिस्वरूपा बीजशक्ति है। पद्म जो नाभि से निकलता है, वह स्पन्दस्वरूपा रजोगुण की विमर्ष शक्ति है और ब्रह्मदेव स्वयं शब्द ब्रह्मस्वरूप प्रणव हैं। ब्रह्मदेव को विराट् के प्राण और बुद्धि समझना चाहिये। प्रणव का प्रथम स्वरूप ध्वन्यात्मक होता है, फिर शब्दों का रूप धारण कर के वेदों के रूप में व्यक्त होने लगता है। वेदों के शब्दों से फिर उन के वाच्य अर्थस्वरूप रूपात्मिका सृष्टि का प्रसार होने लगता है। शब्द से विराट् ब्रह्माण्ड का श्रोत्र, श्रोत्र से आकाश और आकाश से स्थूल शब्दों का संबन्ध है। विराट् भगवान् के कानों से आकाश की उत्पत्ति कही गई है। शब्दब्रह्मरूपी ब्रह्मदेव को खाने के लिये उद्यत नाद का आवरण कानों का मैल

है जो निद्रा के कारण जम गया है और जिससे मधु और कैटभ दो राक्षसों की उत्पत्ति बताई जाती है। आलस्य, प्रमादादि की मादकता को मधु कह सकते हैं और ज्ञान के ऊपर आवरण डालने वाले भ्रांति-विक्षेपादि को कैटभ कह सकते हैं। कैटभ का अर्थ कीटवत् आभा वाला किया जा सकता है। कान के मैल को भी कीट कह सकते हैं। कीट का अर्थ कीड़ा भी होता है। अर्थात् कैटभ वह प्रकाश है जो मलावृत होने के कारण भ्रांति उत्पन्न करता है अथवा जिसका प्रकाश कीटाणु सदृश है। ये दोनों ज्ञान के महान् शत्रु हैं। भगवान् के जागने पर अर्थात् अध्यात्म-जागृति होने पर दोनों का नाश होता है। दुर्गा सप्तशती में उस समय ब्रह्मदेव द्वारा की गई भगवती की प्रार्थना पढ़ने योग्य है जो विषयान्तर-भय से यहां नहीं दी जाती।

जागते ही शंकर से मिलने की आतुरता में शक्ति के सहस्रार में चढ़ते समय नीचे के चक्रों पर प्रणाम करते हुए ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र के मुकुटों से ठोकर लगने की आशंका-सूचक परिचारिकाओं की उपरोक्त उक्तियां स्वाभाविक ही हैं। मूलाधार में ब्रह्मा का स्थान है और तत्सम्बन्धी पृथ्वी तत्त्व का स्वामी इन्द्र है। स्वाधिष्ठान में विष्णु का स्थान है। ये दोनों चक्र अन्धकारमय माने जाते हैं—(देखें श्लोक ३२, ३३ की व्याख्या में 'षोडशी विज्ञान' का विषय)। अन्धेरे में ठोकर लगने की सम्भावना रहती है अर्थात् साधक की शक्ति

उन्नेय पथ पर इस मण्डल में रुक कर ठिठकनी नहीं चाहिये। श्लोक ६ में बताये गये चक्रों के वेधक्रम और ४१वें श्लोकोक्त समयाचार की व्याख्या इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य है। कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर शिवभाव का प्रादुर्भाव होना साधकों के अनुभव की बात है। परिचारिकाओं का विभिन्न चक्रों की योगिनियों से अभिप्राय हो सकता है।

ब्रह्म भाव

[३०]

स्वदेहोद्भूताभिर्घृणिभिरणिमाऽऽद्याभिरभितो
निषेव्ये नित्ये त्वामहमिति सदा भावयति यः।
किमाश्चर्यं तस्य त्रिनयनसमृद्धिं तृणयतो
महासंवर्ताग्निर्विरचयति नीराजनविधिम्॥

क्लिष्ट शब्दार्थः– घृणि=किरण। संवर्ताग्नि=प्रलयाग्नि।

अर्थः—हे सेवा करने के योग्य वरेण्ये, नित्ये! अपने देह से निकलने वाली अणिमादि सिद्धियों रूपी किरणों से घिरा हुआ तेरा भक्त जो 'त्वां अहम्' अर्थात् तुझको अपना ही रूप मानकर सदा भावना करता है, त्रिनयन की समृद्धि को भी तृणवत् तुच्छ समझने वाले उस साधक की संवर्ताग्नि आरती उतारता है,—इसमें क्या आश्चर्य है!

सं० टि०:– 'ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति।' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, वह प्रलय में भी क्षोभ नहीं पाता, मानो

संवर्ताग्नि का जलना उसकी आरती उतारने के सदृश है।

जिस योगी ने सारूप्य मुक्ति प्राप्त करली है और भगवती में स्वभाव से रहने वाली अणिमादि सिद्धियों से युक्त ब्रह्म-तेज की किरणें जिसके शरीर से फूट-फूटकर निकलने लगी हैं, उस योगी को 'अहम् ब्रह्मास्मि' भाव के उदय होने की चरम दशा में तीसरा दिव्य ज्ञान-नेत्र खुल जाने से जो समृद्धि प्राप्त होती है, उसको भी वह सायुज्य मुक्ति के सामने तुच्छ समझने लगता है। (देखें योगदर्शन, सूत्र ३, ५०--'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्')। अर्थात् सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता से भी वैराग्य होने से सब दोषों की बीजरूपी वासना के क्षय होने पर कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

'नित्ये' पद से सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है कि योगी सर्वाशा परिपूरक षोडशार चक्रस्थ कामाकर्षिणी आदि १६ नित्या कलाओं को जीतकर नित्य मोक्ष पद की प्राप्ति की इच्छा रखता है, क्योंकि भगवती को आराधना का फल महावाक्योक्त ब्रह्मात्मैक्य की अपरोक्षानुभूति का उदय होना ही है।

'सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।'—गीता

६४ तन्त्रों से भगवती का तन्त्र स्वतन्त्र है

[३१]

चतुःषष्टयातन्त्रैः सकलमति(भि)संधाय भुवनं
स्थितस्तत्तत्सिद्धि प्रसवपरतन्त्रैः पशुपतिः।

पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना-
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥

अर्थः—पशुपति शंकर ने ६४ तन्त्रों से सारे भुवन को भरकर, जो अपनी-अपनी उन सिद्धियों के देने वाले हैं जो प्रत्येक का अपना विषय हैं, फिर तत्पश्चात् तेरे आग्रह से सब पुरुषार्थों की सिद्धि देने वाले तेरे स्वतन्त्र तन्त्र को भूतल पर उतारा।

सं० टि०:—भगवती का तंत्र अर्थात् श्रीविद्या का तंत्र स्वतंत्र है और सब तन्त्र गौण हैं। भगवती के तन्त्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सहस्रार में ले जाया गया है, परन्तु अन्य सब तन्त्र धर्म, अर्थ और काम की ही सिद्धि दे सकते हैं। भगवती का तन्त्र चारों पदार्थ देता है।

तन्त्र

सनातन धर्म में उपासना की पद्धति—वैदिक, तान्त्रिक और पौराणिक, - तीन प्रकार की है। तथापि द्विजों के लिये मिश्रित पद्धति काम में लाई जाती है। जो द्विज नहीं हैं, उन को वेदों का अधिकार नहीं दिया गया है। वे तांत्रिक और पौराणिक उपासनाओं में ही दीक्षित किये जाते हैं। तांत्रिक उपासना के दो भेद हो गये हैं—समयाचार और कौलाचार, जिनको दक्षिण और वाम मार्ग भी कहते हैं। ब्राह्मणों के लिये कौलाचार निषिद्ध है, क्योंकि उसमें पंच मकार अर्थात्

मांस, मदिरा, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। वामाचार के कारण ही साधारण जनता की दृष्टि में सारी तांत्रिक उपासना बदनाम हो रही है। यद्यपि पंच-मकारों का आध्यात्मिक अर्थ भी किया जाता है, जैसे मदिरा से सोमपान, मैथुन से शिव-शक्ति का सहस्रार में योग, इत्यादि और कुलार्णव तन्त्र में स्पष्टतया उनका निषेध करने के लिए साधकों को चेतावनी दी गई है कि इनका प्रयोग करने वाला मनुष्य नरकगामी होता है। परन्तु तो भी यह निर्विवाद मानना पड़ता है कि सब साधक आध्यात्मिक दृष्टि वाले नहीं होते। प्रायः अधिक मनुष्यों का लक्ष्य सांसारिक भोगों की उपलब्धि तक ही सीमित रहता है। उक्त ६४ तन्त्रों में ऐसी ही सिद्धियां प्राप्त करने के साधन हैं जो सच्चे जिज्ञासु को पथभ्रष्ट कर सकते हैं। श्री अरविन्द जी इस विषय पर 'कल्याण' के 'शक्ति अंक' में प्रकाशित एक लेख में लिखते हैं 'विशेष कर तन्त्र के वाम मार्ग में ऐसी-ऐसी बातें आ गई हैं जिनसे न केवल अच्छे-बुरे का, पाप-पुण्य का कोई विचार रहा, प्रत्युत पाप-पुण्यादि द्वन्द्वों के स्थान में स्वभावनियत सद्धर्म की स्थापना होने के बजाय अनियन्त्रित कामाचार, असंयत सामाजिक व्यभिचार, दुराचार का मानो एक पंथ ही बन गया। तथापि मूलतः तंत्र एक बड़ी चीज थी, बड़ी बलवती योग पद्धति थी।.... इसके दक्षिण और वाम दोनों ही मार्ग एक बड़ी गम्भीर

अनुभूति के फल थे...... एक है ज्ञान का मार्ग और दूसरा आनन्द का मार्ग।'

एक मत यह भी है कि कौलाचार अथवा वाम मार्ग बहिर्पूजा का साधन है और समयाचार अथवा दक्षिण मार्ग भावना-प्रधान धारणा, ध्यान, समाधियुक्त अन्तर्योग रूपी योग साधन और मनन, निदिध्यासन पूर्वक ब्रह्म-भावना का साधन है। बहिर्पूजा कर्मप्रधान और अन्तर्पूजा भावना-प्रधान होती है। इसलिये मन्द श्रेणी के अधिकारियों को बहिर्पूजा में दीक्षित किया जाता है और उत्तम अधिकारियों को अन्तर्पूजा में। परन्तु मध्यम श्रेणी के साधकों को दोनों का आश्रय लेना पड़ता है। वे क्रमशः, जैसे-जैसे उनकी अन्तर्गति दृढ़ होती जाती है, शनैः-शनैः कर्मकाण्ड से हटते जाते हैं।

इस श्लोक में ६४ तंत्रों का उल्लेख है। परन्तु भगवती ने देखा कि उनसे श्रेय की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उन्होंने शंकर से श्रेय की प्राप्ति का साधन बताने का अनुरोध किया। तब शंकर ने समयाचार का साधन कहा जो पूर्वोक्त ६४ तंत्रों से पृथक् है। भगवती के आग्रह पर श्रेय की जिज्ञासा रखने वालों के कल्याणार्थ कहे जाने के कारण शंकराचार्य भगवत्पाद ने उसको भगवती का अपना स्वतंत्र तंत्र कह कर संकेत किया है अर्थात् 'तेरा तंत्र' कहा है। शंकर भगवत्पाद उसे लोकहितार्थ सौन्दर्य-लहरी में प्रकाशित करते हैं। यह

तंत्र सब तंत्रों से स्वतन्त्र है। अन्य ६४ तंत्र अनेक सिद्धियों के विषय हैं, परन्तु यह तंत्र श्रेयस् का देने वाला है और मोक्ष के साथ धर्म, अर्थ, काम की भी सिद्धि देने के कारण अन्य सब तंत्रों की अपेक्षा नहीं रखता। इस तंत्र में श्रीविद्या का रहस्य बताया गया है जो स्वयं महात्रिपुरसुन्दरी का स्वरूप है। यह बात अगले दो श्लोकों से स्पष्ट हो जाती है।

श्रीविद्या को चन्द्रकला विद्या भी कहते हैं, क्योंकि चन्द्रमा की १६ कलाओं के अनुरूप षोडशी में भी १६ अक्षर हैं और १६ नित्या कला हैं। इसको ब्रह्मविद्या ही जानना चाहिये। इस विषय पर चन्द्रकला, ज्योतिष्मती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, वार्हस्पत्य और दुर्वासामत मुख्य ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार समयाचार पर वशिष्ट, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और शुकदेवजी विरचित शुभागमपंचक भी हैं।

६४ तंत्रों के नाम—

६४ तंत्रों के नाम ये हैं—(१) महामाया शंवर नाम का मोहन तंत्र (२) योगिनीजाल शंबर (३) तत्त्व शंवर, तत्त्वों में संकरण करने की विद्या (४) सिद्ध भैरव (५) बटुक भैरव (६) कंकाल भैरव (७) काल भैरव (८) कालाग्नि भैरव (९) योगिनी भैरव (१०) महा भैरव (११) शक्ति भैरव,—उक्त ८ भैरव तंत्र कापालिकों के तंत्र हैं। इनमें अनेक सिद्धियों का वर्णन है जैसे भूतल के नीचे धन

देखना इत्यादि । (१२) ब्राह्मी (१३) माहेश्वरी (१४) कौमारी (१५) वैष्णवी (१६) वाराही (१७) माहेन्द्री (१८) चामुण्डा (१६) शिवदूती,—इन आठ तंत्रों को बहुरूपाष्टक कहते हैं, इनमें उक्त शक्तियों की उपासना है। (२०) ब्रह्मयामल (२१) विष्णुयामल (२२) रुद्रयामल (२३) लक्ष्मीयामल (२४) उमायामल (२५) स्कन्दयामल (२६) गणेशयामल (२७) जयद्रथयामल,—ये आठ कामसिद्धियामल तंत्र हैं। (२८) चन्द्रज्ञान (२६) मालिनीविद्या—समुद्रों को पार करने की विद्या (३०) महासंमोहन (३१) वामजुष्ठ (३२) महादेव (३३) वातुल (३४) वातुलोत्तर (३५) कामिक (३६ हृद्भेद तंत्र, वामाचार द्वारा षड्चक्रवेध (३७) तन्त्र भेद (३८) गुह्य तंत्र (३६) कलावाद (४०) कलासार (४१) कुँडिका मत (४२) मतोत्तर, पारद विज्ञान का तंत्र (४३) वीनाख्य—यक्षिणी का तंत्र (४४) त्रोतल जादू तावीज इत्यादि का तंत्र (४५) त्रोतलोत्तर—६४ हजार यक्षिणियों का आवाहन करने की विद्या (४६) पंचामृत—आयु दीर्घ करने का विज्ञान (४७) रूपभेद (४८) भूतोड्डामर (४६) कुलसार (५०) कुलोड्डीश (५१) कुलचूडामणि. इन सब में मारण-उच्चाटन प्रयोग हैं। (५२) सर्वज्ञानोत्तर (५३) महाकालीमत (५४) अरुणेश (५५) मोदिनी ईशा (५६) विकुण्ठेश्वर—ये ५ तंत्र दिगंबरों के हैं। (५७) पूर्व आम्नाय (५८) पश्चिम आम्नाय (५६) दक्षिण आम्नाय (६०) उत्तर आम्नाय (६१) निरुत्तर आम्नाय (६२) विमल (६३)

विमलोत्तर और (६४) देवीमत,—ये क्षपणकों के तंत्र हैं। यह नामावली वामकेश्वर तंत्र में है। भास्करराय के मतानुसार ४ से ११ तक भैरवाष्टक को एक ही तंत्र माना गया है और ३१, ३२ वामजुष्ठ और महादेव दोनों को एक तंत्र माना गया है। इसलिये नीचे दिये हुए आठ और तंत्रों सहित ६४ की संख्या पूरी की जाती है। उनके नाम ये हैं—(१) महालक्ष्मी मत (२) सिद्धयोगीश्वरी मत (३) कुरूपिकामत (४) देवरूपिकामत (५) सर्ववीरमत (६) विमलामत (७) ज्ञानार्णव और (८) वीरावलि।

हादि और कादि विद्याओं के रूप

[३२]

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामारहरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्॥

[३३]

स्मरं योनिं लक्ष्मीं त्रितयमिदमादौ तव मनो-
र्निधायैके नित्ये निरवधिमहाभोगरसिकाः।

(जपंति) भजंति त्वां चिन्तामणिगुणनिबद्धाक्षव(र)लयाः
शिवाऽग्नौ जुह्वन्तः सुरभिघृतधाराऽऽहुतिशतः ॥

अर्थः—हे जननि ! शिव, शक्ति, काम, क्षिति और फिर रवि, शीतकिरण (चन्द्र), स्मर (काम), हंस, शक्र, इसके पीछे परा (शक्ति), मार (काम), हरि,—इन तीनों के अन्त में ३ हृल्लेखा जोड़कर तेरे नाम के अवयव स्वरूप अक्षरों का साधकजन भजन करते हैं। (३२)

यह हादि लोपा मुद्रा का मंत्र बताया गया है। इसके १५ अक्षर हैं।

अर्थः—हे नित्ये ! स्मर (काम), योनि (त्रिकोण), लक्ष्मी इन तीनों को तेरे मंत्र के आदि (अक्षरों के स्थान) पर रखकर निरवधि महाभोग के रसिक तेरे कुछ भक्त चिन्तामणियों की गुंथी हुई अक्ष माला पर तेरा भजन करते हैं और शिवा (त्रिकोण) अग्नि-हवन-कुण्ड में सुरभि (गाय) के घी की सैकड़ों धाराओं की आहुतियां देते हैं। (३३)

यह कादि मूल विद्या का मंत्र है।

सं० टि०: –दोनों श्लोकों में हादि-कादि विद्याओं के मंत्र बताये गये हैं। देखें त्रिपुरोपनिषद् (परिशिष्ट) ऋचा ८। शिवाग्नि=कुण्डलिनी का मुख, घी=अमृत, चिन्तामणि=चित्कला, गुण=सत्व, रज, तम। निरवधिमहाभोगरसिकाः=भोग और मोक्ष दोनों की इच्छा रखने वाले।

व्याख्या:—षोडशी का १६वां अक्षर गुरुमुख से जानना चाहिये। मंत्र के चार पाद होते हैं, प्रथम तीन पाद तीन कूट वाग्भव, कामकला और शक्तिकूट के नामों से प्रसिद्ध हैं। चौथा पाद श्रीकूट है। प्रथम तीन पादों को अग्नि, सूर्य और चन्द्र; रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा की क्रमशः ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्तियां; जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के अनुरूप विश्व, तैजस् और प्राज्ञ; सत्व, रजस् और तमस् समझना चाहिये। चौथा पाद तुरीय पद है। बाह्य उपासना में ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग इत्यादि की आवश्यकता रहती है, परन्तु अन्तर्याग में केवल आत्मतत्त्व पर ही लक्ष्य रहता है। भास्करराय का वरिवस्यारहस्य देखें।

त्रिपुरोपनिषद् में दोनों विद्याओं का संकेत निम्न श्रुतियों द्वारा किया गया है। वहां दोनों का क्रम सौन्दर्य लहरी के क्रम से विपरीत है। वहां पहिले कादि मूलविद्या बताकर उससे लोपामुद्रा का निर्माण किया गया है। यहां लोपामुद्रा पहिले कहकर उससे मूल-विद्या का निर्माण किया गया है।

कादि मूलविद्या को बताने वाली श्रुति यह है:—

कामोयोनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्या ॥ ८

और इससे लोपामुद्रा (हादि विद्या) का निर्माण करने के लिये आगे वाली श्रुति है।

षण्टं-सप्तममथ वन्हिसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः ॥ ६
(अर्थ के लिये परिशिष्ट २ देखें)

दोनों श्लोकों में पञ्चदशी के दोनों रूप हैं। दूसरे श्लोक में 'एके' पद के प्रयोग से, जिससे अन्य मतावलम्बी साधकजन अभिप्रेत हैं, यह प्रतीत होता है कि श्री शंकर भगवत्पाद स्वयं प्रथम श्लोक में बताये हुए मंत्र के उपासक थे और यही बात इससे भी सिद्ध होती है कि वे लोग जो दूसरे श्लोकोक्त मंत्र की उपासना करते हैं, जप के पश्चात् दशांश आहुति भी देते हैं तथा वे कभी समाप्त न होने वाली भोगों की इच्छा से सकाम अनुष्ठान किया करते हैं, जैसा की 'निरवधिमहाभोगरसिकाः' पद से स्पष्ट है। शंकर भगवत्पाद एक संन्यासी थे, उन्होंने दारेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा—तीनों का त्याग किया हुआ था, अग्नि का स्पर्श भी नहीं करते थे और कर्मकाण्ड का सर्वथा त्याग किया हुआ था, इसलिये वे प्रथम श्लोकोक्त भावनाप्रधान विद्या के ही उपासक थे। अर्थात् प्रथम श्लोक में संन्यासियों के लिये लोपामुद्रा हादि विद्या का मंत्र बताया गया है और दूसरे में सब प्रयोगों की सिद्धि देने वाले कादि विद्या के मंत्र का वर्णन है। यही बात त्रिपुरोपनिषद् से भी स्पष्ट है। (देखें परिशिष्ट (२), ८, ६, १०, ११ और १२)। श्लोक ८ की व्याख्या में हम यह भी दिखा चुके हैं कि आनन्द लहरी पद का भी संकेत हादि विद्या की ही ओर है।

भगवती की उपासना भोग और मोक्ष दोनों देती है। भोगों में आसक्त गृहस्थियों के लिये कादि विद्या की सपर्या पद्धति, जो श्रीचक्र के पूजन, न्यास और बहिरनुष्ठानों से संयुक्त है, आणवी दीक्षा द्वारा दी जाती है। कर्मकाण्ड का उपयोग कामनाओं की तृप्ति मात्र नहीं है, वरन् सब भोगों को भगवती के चरणों में समर्पण करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए है। सकाम अनुष्ठानों से कामनाओं की पूर्ति अवश्य होती है, परन्तु यह मंत्रशास्त्र का गौण फल है। कहा है—

'मननात् त्रायते इति मंत्रम्......।'

मननात् प्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात्।
मंत्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोपि वा ॥ – यो०शि० २,७

शिवजी ब्रह्मा जी से कहते हैं कि मनन किये जाने के कारण, प्राणों का उत्थान करने के कारण, मेरे रूप का ज्ञान उत्पन्न करने के कारण अथवा मेरा अधिष्ठान होने के कारण ही मंत्र, मन्त्र कहलाता है।

मंत्र के जप से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है, शक्ति के जागरण से आत्मज्ञान का उदय होता है, इसलिए मंत्र को देवता का अधिष्ठान कहा गया है। शक्ति-दीक्षा से शक्ति का जागरण होने पर मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग—चारों का विकास होता देखा गया है। इसलिये शक्ति-जागरण को ही महायोग कहते हैं।

मंत्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते ॥—यो० शि० १,१२६

मंत्र के प्राप्त करने पर उक्त चारों भूमिकाएँ उदय होती हैं। आणवी दीक्षा में मंत्र का उपदेश करके शिष्य को श्रीचक्र पर भगवती की सपर्यापद्धति के अनुसार पूजनविधि बताई जाती है। शक्तिदीक्षा में गुरु शिष्य के शिर पर स्पर्श करके शक्ति जाग्रत करता है। तीसरी शांभवी दीक्षा में ब्रह्मात्मैक्य भाव में शिष्य को ले जाया जाकर उसको महा वाक्यों का उपदेश किया जाता है। इस विषय के सम्बन्ध में श्रीविद्या पर लिखित नित्योत्सव ग्रंथ में दीक्षा प्रकरण देखें।

पंचदशी और उसके आधार पर अन्य विद्यायें

श्रीविद्या का मंत्र १५ अक्षरों का होने के कारण उसे पंचदशी भी कहते हैं। उसमें एक १६वां बीज लगा देने से वही षोडशी विद्या बन जाती है। प्रथम ५ अक्षरों को वाग्भवकूट, बीच के ६ अक्षरों को कामकला कूट और अन्तिम ४ अक्षरों को शक्ति कूट कहते हैं। कादि विद्या मूल विद्या है, उसके आधार पर अगस्त्य मुनि की पत्नि लोपामुद्रा, दुर्वासा, कुबेर, चन्द्र, नन्दि, मनु, अगस्त्य, सूर्य, षडानन, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, यमराज, इन्द्र और कामदेव सब ने अपने-अपने इष्ट के अनुसार मूलविद्या को भिन्न-भिन्न विद्याओं का रूप दिया और वे विद्यायें उस-उस देवता और ऋषि के नाम से प्रसिद्ध

हैं। कामदेव ने मूल कादि विद्या की ही उपासना की थी। इन विद्याओं को त्रैलोक्यमोहन कवच से जाना जा सकता है।

माला का विधान

'चिन्तामणि गुणनिबद्धाक्षवलया:'—सकाम प्रयोगों की शीघ्र सिद्धि के लिए माला का भी, जिस पर जप किया जाता है, संस्कार करना आवश्यक है। माला की संस्कार विधि अक्षमालोपनिषद् में दी हुई है। तदनुसार मेरु अर्थात् शिखा-मणि पर अनुस्वार सहित क्षकार और दोनों ओर के पचास-पचास मणिकों पर अकार से लकार पर्यन्त सानुनासिक एकाक्षरी मंत्रों की प्रतिष्ठा करनी पड़ती है। इस प्रकार वर्ण-माला के ५१ वर्ण रूपी चिन्तामणियों की गुणनिबद्धा अर्थात् सत्व, रजोगुण और तमोगुण रूपी डोरों के प्रतीक विवर में सुवर्ण, दक्षिण ओर चांदी और वाम ओर ताम्र के तारों में गूंथी हुई माला लेनी चाहिये। माला के लिये प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, सोना, चांदी, चन्दन, पुत्रजीविक (जीयापोता), कमलगट्टा और रुद्राक्ष में से किसी प्रकार के मणिके लिये जा सकते हैं। माला को गंध और पंचगव्य से स्नान करा कर, अष्टगंध से लेपकर, अक्षत-पुष्पादि से पूजन करके, अ से क्ष पर्यन्त चिन्तामणियों की उक्त उपनिषदुक्त मंत्रों से भावना-युक्त प्रतिष्ठा करनी चाहिये। (देखें अक्षमालोपनिषद्)।

षोडशी विज्ञान

श्लोक ११ की व्याख्या में श्रीचक्र का रहस्य समझाया जा

चुका है। मंत्र का यंत्र से सम्बन्ध है। पहले मंत्र का स्वरूप समझना आवश्यक है, फिर मंत्र, यंत्र (श्रीचक्र), षट्चक्र, मातृका और ब्रह्माण्ड-पिण्ड का पारस्परिक सम्बन्ध समझा जा सकेगा।

मंत्र के तीन कूट और १५ अक्षर हैं। सोलहवां अक्षर गुरुमुख से लेकर वही मंत्र षोडशी मंत्र बन जाता है। प्रथम वाग्भव कूट❀ आग्नेय भगवती का मुख है। दूसरा कामकला कूट सूर्य से सम्बन्ध रखता है, वह कण्ठ से नीचे कटि पर्यन्त रूप है। दोनों के बीच में हल्लेखा रुद्र ग्रंथि है। तीसरा शक्तिकूट चन्द्र से सम्बन्धित कटि के नीचे का भाग है, वह सर्जन शक्ति का रूप है। दूसरे और तीसरे कूट के बीच की हल्लेखा विष्णु ग्रन्थि है। चौथा पाद एकाक्षरी लक्ष्मी बीज है जो गुरुमुख से ही प्राप्त किया जाना चाहिये। इसको चन्द्रकला कहते हैं। इसके और तीसरे शक्तिकूट के बीच की हल्लेखा ब्रह्म ग्रंथि है। १६ अक्षरों का यह मंत्र षोडशी विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। १६ अक्षरों को १६ नित्या समझना चाहिये। वास्तव में अन्तिम

❀श्रीमद्वाग्भव कूटैकस्वरूप मुखपंकजा।
कण्ठाधः कटिपर्यन्त मध्यकूट स्वरूपिणी॥
शक्तिकूटैकतापन्नकटयधोभाग धारिणी।
मूलमंत्रात्मिका मूलकूटत्रयकलेवरा॥
—ललिता सहस्रनाम ८५, ८६, ८७

एकाक्षरी लक्ष्मी बीज ही नित्या है, क्योंकि वह परा कला है और उसके कारण ही समस्त विद्या श्रीविद्या कहलाती है। यह शुद्ध चितिशक्ति-स्वरूपा सहस्रारस्थ चन्द्र की १६वीं कला है, जो विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर प्रतिबिंबित हुआ करती है। प्रथम कला का प्रकाश पूर्व से आरम्भ होकर १६वीं कला के ईशान पूर्व कोण के पात्र पर समझना चाहिये। सोलहवीं कला के अधीन ही अन्य कलायें घटती-बढ़ती हैं, वे स्वतंत्र नहीं हैं। इसलिये इस विद्या का नाम श्रीविद्या पड़ा है। शुक्ल और कृष्णपक्ष की १४ तिथियां, पूर्णिमा और अमावस्या सहित १६ चन्द्र कलायें कहलाती हैं। ये सब कलायें शुक्ल पक्ष में सूर्य के योग से उदय होती हैं और कृष्णपक्ष में सूर्य में ही अस्त हो जाती हैं। यथा प्रथम कला शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उदय होकर कृष्णपक्ष की प्रतिपदा में अस्त हो जाती है, दूसरी कला शुक्ल पक्ष की द्वितीया को उदय होकर कृष्ण पक्ष की द्वितीया में अस्त हो जाती है। इसी प्रकार अन्य कलाओं को भी समझना चाहिये। पूर्णिमा की पूर्ण कला अमावस्या में अस्त होती है। अमावस्या को, पूर्णिमा की कला अस्त हो जाने पर, जो चन्द्र कला रहती है, वही १६वीं नित्या कला है क्योंकि चन्द्रमा का वही वास्तविक बिम्ब प्रत्येक कला में सूर्य के प्रकाश से घटती-बढ़ती कलाओं के रूप में चमका करता है।

शुद्ध चितिशक्ति की १५ कलायें पंचदशी के १५ अक्षरों

से क्रमशः सम्बद्ध हैं और १६वीं कला शुद्ध चितिशक्ति चिन्मात्र निर्विकल्प समाधि में विराजने वाली स्वयं महात्रिपुर-सुन्दरी है क्योंकि अन्य सब कलायें घटती-बढ़ती हैं, चन्द्र का बिंब सदा एक समान रहता है। इसलिये प्रत्येक कला को १६वीं कला का अङ्ग समझना चाहिये और प्रत्येक कला का पूजन और ध्यान तदनुसार उस कला की संबन्धित तिथि में १६वीं कला सहित किया जाता है। कुण्डलिनी के सहस्रार में चढ़ते समय वह मानसचक्रस्थ चन्द्रमण्डल में छिद्र कर देती है और उससे अमृत टपक कर आज्ञा चक्र को अमृतमय कर देता है, जिससे वहां पर चन्द्रमा की सब कलायें नित्य चमकने लगती हैं और उनका नाम नित्या कहलाने लगता है। ये कलायें फिर विशुद्ध चक्र पर उतर कर उसकी १६ पंखुड़ियों पर प्रकाशमान् हो जाती हैं। सहस्रार के मध्यस्थ चन्द्रमण्डल को बैन्दव स्थान कहते हैं। यह शुद्ध चितिशक्ति की आनन्दमयी कला का स्थान है जिसको श्री अथवा महात्रिपुर सुन्दरी कहते हैं।

आधार चक्र अन्धकारमय चक्र है। स्वाधिष्ठान जल का स्थान है, इसलिये वह भी कुछ थोड़ा प्रकाशयुक्त अन्धकारमय चक्र है। मणिपूर में भी अग्नि का प्रकाश उज्ज्वल न होने से उसका स्थान भी अन्धकारयुक्त ही है। इसलिये नीचे का अग्निमंडल अन्धकार मिश्रित प्रकाशयुक्त मण्डल है। अनाहत में सूर्य का प्रकाश रहता है और विशुद्ध में चन्द्र का। आज्ञा

चक्र अमृत का स्थान है। इसलिये विशुद्ध और आज्ञा स्वयं प्रकाशमान् नहीं हैं, वे सहस्रार में स्थित चन्द्रकला से प्रकाशित होते हैं। सहस्रार में स्वतन्त्र रूप से चन्द्रकला नित्य पूर्ण रहती है, इसलिये वही वास्तविक नित्या है। श्रीचक्र का तीनों मण्डलों और चक्रों से सम्बन्ध बताया जा चुका है।

त्रिकोणमष्टकोणं च दशकोण द्वयं तथा।
मनुकोणं चतुष्कोणं कोणचक्राणि षट्क्रमात्॥
मूलाधारं तथा स्वाधिष्ठानं च मणिपूरकम्।
अनाहतं विशुद्धाख्यमाज्ञाचक्रं विदुर्बुधाः॥

यदि श्रीचक्र के त्रिकोण को मूलाधार, अष्टार चक्र को स्वाधिष्ठान, अन्तर्दशार को मणिपूर, बहिर्दशार को अनाहत, चतुर्दशार को विशुद्ध, अष्टदल और षोडशदल पद्मों को आज्ञा चक्र समझा जाय और बिन्दु को सहस्रार, चतुष्कोण भूगृह को ब्रह्माण्ड, तो बिन्दुस्थान में स्थित चितिरूपा चन्द्रकला की चन्द्रिका का प्रकाश सब पर प्रतिबिंबित होता समझना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि मनरूपी चन्द्रमा में चेतना देने वाला चेतन प्रकाश (Consciousness) सहस्रार में स्थित चिन्मात्र सत्ता का प्रतिबिंब है जो अनाहत चक्र में स्थित प्राणरूपी सूर्य के ऊर्ध्वगामी होने पर अपने विशुद्ध स्वरूप में अनुभवगम्य होता है और प्राणरूपी सूर्य तथा मन रूपी चन्द्र दोनों की क्रियाओं का निःस्पन्द स्वरूप योग (neutralization) होने पर अनुभव में आता है। प्राण

और मन दोनों को चितिशक्ति से उद्भूत क्रमशः सत्तात्मिका और चिदात्मिका शक्तियों के दो स्रोत (currents) समझना चाहिये। जैसे विद्युत शक्ति के धनात्मक (positive) और ऋणात्मक (negative) स्रोत हुआ करते हैं। जहां दोनों का उदय और अस्त होता है, वह परम कला है।

पंचदशी के अक्षरों की सुषुम्ना-पथ पर सहस्रार में चढ़ते समय इस प्रकार भावना की जाती है। प्रथम अक्षर को अधः सहस्रार से उठाकर उसका विषुस्थान पर लय किया जाता है, दूसरे अक्षर को विषुस्थान से उठाकर उसका मूलाधार में, तीसरे को मूलाधार से उठाकर स्वाधिष्ठान में, चौथे को स्वाधिष्ठान से उठाकर मणिपूर में, पांचवें को मणिपूर से उठाकर अनाहत में, छटे को अनाहत से उठा कर विशुद्ध में, सातवें को विशुद्ध से उठाकर लंबिका में, आठवें को लंबिका से उठाकर आज्ञा में, नवें को आज्ञा से उठाकर बिन्दु में, दशवें को बिन्दु से उठाकर अर्धचन्द्रिका में, ११वें को अर्धचन्द्रिका से उठाकर निरोधिका में, १२वें को निरोधिका से उठाकर नाद में, १३वें को नाद से उठाकर नादान्त में, १४वें को नादान्त से उठाकर शक्ति में, १५वें को शक्ति से उठाकर व्यापिका में, इस क्रम से प्रत्येक पूर्व अक्षर को अगलेअक्षर में लीन करते हुए पूरा मंत्र उन्मनी में, जो पराकला स्वरूपा श्रीकला है, लीन कर दिया जाता है। ललितासहस्रनाम के श्लोक ११२ की व्याख्या में भास्करराय कहते हैं कि त्रिपुरसुन्दरी निर्विवाद षोडश कलात्मिका है, जैसा कि वासनासुभगोदय में कहा है:—

दर्शाद्याः पूर्णिमान्ताद्या कलाः पंचदशैवतु ।
षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी ॥

दर्शा, दृष्टा, दर्शिता, विश्वरूपा, सुदर्शना, आप्यायमाना, आप्यायमाना, आप्याया, सुनृता, इरा, आपूर्यमाणा, आपूर्यमाणा, पूर्यन्ती, पूर्णा और पूर्णमासी—ये १५ कलाओं के नाम हैं।

उक्त शुक्लपक्षीय तिथियों की अधिष्ठातृ देवियां श्रीचक्रस्थ १५ नित्या हैं। १६वीं नित्या चिद्रूपात्मिका है। वह सदाशिवरूपा होने के कारण सब की अधिष्ठातृ है और अमावस्या तिथिरूपा है। वह स्वयं सब नित्याओं के रूप में प्रकाशमान है, इस नाते सब की अधिदेवता है। पंचदशी के १५ अक्षरों को १५ नित्या और १६वीं स्वयं श्री समझनी चाहिये। १५ कलायें पांच-पांच के तीनों खण्डों में क्रमशः अग्नि, सूर्य और सोम रूपा हैं और १६वीं तीनों से अतीत है। इन को मधुकरी से उपमा दी जाती है, यथा—'इयं वाव सरघा' (तै०ब्रा०३,१०,१०)। सरघा मधुमक्खी को कहते हैं। अर्थात् ये रात को अमृत का निर्माण करती हैं। इसीलिये योगीजन दिन में कुण्डलिनी जागरण नहीं करते, शुक्ल पक्ष की रात्रियों में ही जागरण करते हैं। श्री के उपासक भी शुक्ल रात्रियों में ही अनुष्ठान करते हैं।

इन १६ नित्याओं का स्थान विशुद्ध चक्र में है। चिति शक्ति का शुद्ध स्वरूप सहस्रार में है जिसकी ये सब कलायें हैं।

कृष्ण पक्ष की रात्रियों का समावेश अमावस्या में होता है, इसलिये वे सब वर्जित हैं। दिन में अमृत का स्राव होता है, इसलिये दिन में भी कुण्डलिनी-प्रबोध वर्जित है।

नीचे शुक्ल और कृष्णपक्ष के दिवसों के नाम और उनके जानने की फलोक्ति वाली श्रुति देते हैं। विशेष जानकारी के लिये श्लोक ३२ पर लक्ष्मीधरा टीका पढ़ें। शुक्ल पक्ष के दिनों के नाम ये हैं:—

संज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं जानदभिजनत् ।
1 2 3 4 5

संकल्पमानं प्रकल्पमानमुपकल्पमानमुपक्लृपम् ।
6 7 8 9

क्लृपम् श्रेयो वसीव आयत् संभूतं भूतम् ॥
10 11 12 13 14 15

कृष्णपक्ष नामानि:—

प्रस्तुतं विष्टुतं संस्तुतं कल्याणं विश्वरूपम् ॥
1 2 3 4 5

शुक्रममृतं तेजस्वि तेजः समिद्धम् ।
6 7 8 9 10

अरुणं भानुमन्मरीचिमदभितपत्तपस्वत् ॥
11 12 13 14 15

फलश्रुतिः—

स यो ह वा एता मधुकृतश्च मधुवृषांश्च वेद ।
कुर्वन्ति हास्यैता अग्नौ मधु ॥

नास्येष्टापूर्तं धयन्ति, अथ यो न वेद न हास्यैता अग्नौ मधु कुर्वन्ति, धयन्त्यस्येष्टापूर्तम् ॥—तै० ब्रा० ३, १०, १

चन्द्रमण्डल में वह कला वृद्धिह्रासरहिता है, शेष अन्य १५ कलायें आने-जाने वाली हैं। दर्शा शुक्ल प्रतिपदा को कहते हैं अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णमासी तक १५ कलायें होती हैं जो पंचदशी मंत्र के १५ अक्षरों के अनुरूप समझी जानी चाहियें। उक्त १५ कलायें नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा भेद से और वाग्भव, कामकला और शक्तिकूट ऐसे त्रिरावृत्त भेद से बढ़ती हैं। परन्तु दूसरे कूट में ६ अक्षर और शक्तिकूट में ४ अक्षर होने से पंचदशी के पांच-पांच अक्षरों से तीन खंड इस प्रकार समझने चाहियें। कामराज कूट की अन्तिम हल्लेखा एकादशी होती है और दशमी से विद्धा होने के कारण वह दशमी कला के ही अन्तर्गत माननी चाहिये, परन्तु उसका योग शक्तिकूट के प्रथम अक्षर के साथ, जो द्वादशी है, तीसरे खण्ड की पूर्ति करता है और 'उपोष्या द्वादशी शुद्धा' इस वचन के अनुसार द्वादशी को ही एकादशी मानकर दोनों कूटों का योग समझ लेना चाहिये और उन्नेय भूमिका में तदनुसार ही भावना करनी चाहिये। इस प्रकार भावना करने से प्रथम कूट को अधःसहस्रार से उठाकर अनाहत में उसका विलीनीकरण होता है, दूसरे कूट को अनाहत से उठाकर उसका निरोधिका में और तीसरे को निरोधिका से उठाकर व्यापिका में

विलीनीकरण होता है। परन्तु निरोधिका से नाद तक एकादशी का द्वादशी में संक्रमण समझना चाहिये और नीचे अर्धचन्द्रिका से दशमी में। मंत्र के तीनों कूटों के पांच-पांच अक्षरों के खण्ड करने से प्रथम, छटा और ग्यारहवां अक्षर नन्दा, दूसरा, सातवां और बारहवां अक्षर भद्रा; तीसरा आठवां और तेरहवां जया; चौथा, नवां तथा चौदहवां रिक्ता और पांचवां, दशावां तथा पन्द्रहवां अक्षर पूर्णा समझना चाहिये।

इस प्रकार मंत्र का वाग्भवकूटरूपी मुख जो नीचे था और शक्तिकूटरूपी कटि के नीचे का भाग जो ऊपर को था, सीधा ऊर्ध्वमुख हो जाता है।

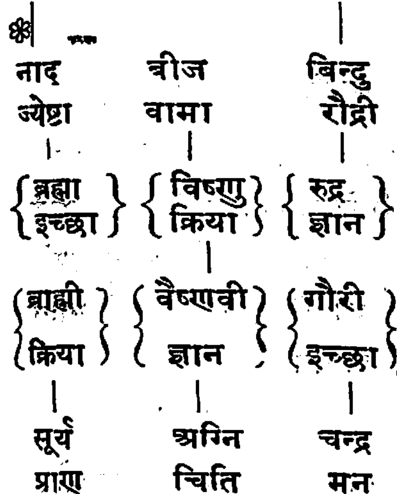
दूसरे प्रकार की भावना में विशुद्ध चक्र के १६ पत्रों पर पूर्व से अग्नि, दक्षिण, नैऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर और ईशान क्रमानुसार १६ अक्षरों की भावना की जाती है। ये चन्द्रमः की कलाओं के सदृश चमकते हैं जो सहस्रार की पूर्ण कला के बिम्ब से आज्ञा चक्र पर होती हुई नीचे के विशुद्ध चक्र पर प्रतिबिम्बित होती हैं। इस प्रकार चितिशक्ति का सम्बन्ध १६ नित्या कलाओं से, उनका सम्बन्ध मन्त्र से, मन्त्र का सम्बन्ध सुषुम्ना से, सुषुम्ना का मातृका से, मातृका का सम्बन्ध इडा-पिंगला से तथा तत्सम्बन्धी सूर्याग्निचन्द्र से और सबका श्रीचक्र से, जो देह (पिंड) और विराट् देह (ब्रह्माण्ड)

दोनों का प्रतीक है, – सबका पारस्परिक सम्बन्ध समझना चाहिये।

नाद, बिन्दु और कला

सबका उपरोक्त पारस्परिक सम्बन्ध जानने के साथ नाद, बिन्दु और कला का अर्थ और उनका मन्त्र, यंत्र और देहस्थ चक्रों से संबंध समझना आवश्यक है और यह जानना आवश्यक है कि इन तीनों का पारस्परिक संबंध क्या है ?

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मितः ।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः ॥
सच्चिदानन्दः विभवात् संकलात्परमेश्वरात् ।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दु समुद्भवः ॥
पर शक्तिमयः साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः ।
बिन्दुनादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥
रौद्री बिन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्टा बीजादजायत ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्नाः रुद्रब्रह्मारमाधिपाः ॥
ते ज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वन्हीन्द्वर्क स्वरूपिणः ।
इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी ॥
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ (संग्रहीत)



अर्थः—आगमों के विद्वानों का ऐसा मत है कि बिन्दु शिवात्मक है, बीज शक्त्यात्मक है और दोनों के समवाय से उत्पन्न होने वाला तत्त्व नाद कहलाता है। सत्-चित्-आनन्द स्वरूप विभु परमेश्वर के स्पन्द रूपी संकलन से शक्ति उत्पन्न होती है। फिर नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है जो साक्षात् परा शक्ति से युक्त है। वह बिन्दु फिर तीन रूपों में फट जाता है अर्थात् बिन्दु, बीज और नाद।

बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्टा तथा बीज से वामा और इनसे क्रमशः रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु हुए। वे क्रमशः ज्ञान, इच्छा और क्रियात्मा हैं और अग्नि, चन्द्र और सूर्य के रूप हैं। इच्छा, क्रिया और ज्ञान

---

*नोटः—'बिन्दुनादकला ब्रह्मन् विष्णु ब्रह्मेश देवताः' (यो० शि० ६, ७०) में विष्णु को बिन्दु, ब्रह्मा को नाद और ईश (रुद्र) को कला माना गया है।

क्रमशः गौरी, ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियां हैं। जहां पर तीनों का आधार है, वह ॐ स्वरूप परम ज्योति है। बीज को शक्त्यात्मिका कला समझना चाहिये।

भास्करराय विरचित वरिवास्यारहस्य में बिन्दु, अर्ध-चन्द्रिका, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, उन्मनी और समनी—इन नौ स्तरों की समष्टि को नाद संज्ञा दी गई है।

'विद्वादीनां नवानां तु समष्टिर्नाद उच्यते।'—१३

अर्थात् हल्लेखा के उच्चारण होने पर अनुनासिक ध्वनि उक्त नौ स्तरों से होती हुई उन्मनी में समाप्त होती है, जिसके काल की मात्रा उत्तरोत्तर आधी होती जाती है और सबके योग का काल $\frac{1}{2}$ मात्रा होता है जो बिन्दु की आधी मात्रा सहित पूरी १ मात्रा बनाती है। अर्थात्:—

$$\frac{1}{2}+\frac{1}{4}+\frac{1}{8}+\frac{1}{16}+\frac{1}{32}+\frac{1}{64}+\frac{1}{128}+\frac{1}{256}+\frac{1}{256}=१$$

पंचदशी के ३ अनुस्वार तीन बिन्दु हैं, हल्लेखा नाद और १५ अक्षर १५ कला हैं। नाद, बिन्दु और कला तीनों को भी त्रिबिंदु कह सकते हैं। श्रीचक्र को भी नाद, बिन्दु, कला भेद से त्रिधा माना जाता है।

नाद से बिन्दु, बिन्दु से कला, नाद से कला, कला से बिन्दु और कला से नाद का पांच प्रकार का ऐक्य संबंध जानने से अन्तर्याग की सिद्धि होती है।

ब्रह्म को बिन्दु, शक्ति को कला और जीव को नाद समझ कर उक्त पांच प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होता है। प्रथम में जीव-ब्रह्मैक्य भाव है, दूसरे में ब्रह्म से सृष्टि का प्रभव, तीसरे से देहाध्यास, चौथे से प्रलय और पांचवे से प्रलय के पश्चात् बन्धन में पड़े हुए जीवों की फिर उत्पत्ति। बिन्दु से नाद का सम्बन्ध न बताने का यह अभिप्राय है कि ब्रह्म कभी जीव नहीं बनता, आत्मा सदा ब्रह्मस्वरूप है और जीव-भाव एक मिथ्या प्रतीति मात्र है।

यदि बिन्दु को शिव-शक्ति भेद से दो प्रकार का माना जाय तो शक्त्यात्म बिन्दु ही बीज है और दोनों से शब्द ब्रह्म नाद की उत्पत्ति तथा शब्द से कला अर्थात् अर्थात्मक सृष्टि की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

शिव-शक्ति का अङ्गी और अङ्गवत् सम्बन्ध

[३४]

शरीरं त्वं शंभोः शशिमिहिरवक्षोरुहयुगं

तवात्मानं मन्ये भगवति नवा(भवा)त्मानमनघम्।

अतः शेषः शेषीत्ययमुभयसाधारणतया

स्थितः सम्बन्धो वां समरस परानन्दपरयोः॥

अर्थः—हे भगवती! मैं ऐसा समझता हूँ कि तू शंभु का शरीर है जिसके वक्षस्थल पर सूर्य और चन्द्र दो स्तन

उभरे हुए हैं और तेरी आत्मा सारे भव की आत्मा शंकर अथवा नवात्मा शंकर है। इसलिये तुम दोनों में पराशक्ति और आनन्द का एक समरस होने के कारण, शेष और शेषीवत् सम्बन्ध स्थित है।

सं० टि०—शक्ति को शिव का स्थूल देह समझना चाहिये। शंकर का एक नाम चिदंबर भी है। सारा विश्व (ब्रह्माण्ड) शक्ति का रूप है और वह विराट् भगवान् का स्थूल देह है। इसलिए शिव और शक्ति का आधार-आधेय सम्बन्ध यहां दिखाया गया है। यदि पर पद शिव है तो आनन्द पद को शक्ति का रूप समझना चाहिये। दोनों की एकता का समरसपना दोनों की अभिन्नता प्रकट करता है--जैसे शक्कर और उसकी मधुरता। यह अधिदैव रूप है अर्थात् चित् और आनन्द का जोड़ा ही ब्रह्म और शक्ति का जोड़ा है। आधिभौतिक स्तर पर भी ऐसा ही समझना चाहिये, सत् प्रकृति है और चिदानन्द शिव है।

व्याख्या—वेदों और पुराणों में सूर्य और चन्द्र को विराट भगवान् के नेत्र माना गया है, परन्तु यहां उन्हें जगज्जननी प्रकृति के दोनों स्तनों से उपमित किया गया है, क्योंकि प्राण और सोम दोनों से विश्व का पोषण होता है। सूर्य से विश्व को प्राणशक्ति प्राप्त होती है और चन्द्रमा से सोमरस। आध्यात्मिक स्तर पर भी सूर्य हृदय में रहकर और चन्द्र मस्तिष्क में रहकर रक्षा करते हैं। सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म के सत् स्वरूप का परिणाम सारा विश्व है और अध्यात्म स्तर पर

चेतन सत्ता दो स्तरों पर दृष्टिगोचर होती है—आनन्द के रूप में और ज्ञान के रूप में। इस श्लोक में ज्ञान के रूप को शिव अथवा परम भाव कहा है और आनन्द को शक्ति भाव। दोनों भाव समरसवत् एक ही हैं जैसे शक्कर और उसका मिठास। परम भाव शक्कर सदृश विशेष्य है और आनन्द मिठास के सदृश विशेषण, प्रथम रूप शिव का है और दूसरा शक्ति का। परमानंद का मार्ग शक्ति का योग मार्ग है और ज्ञान मार्ग वैदिक वेदान्त का मार्ग है। यहां यह दिखाया गया है कि दोनों मार्गों का इतना एकरसपना है कि जैसे विशेषण और विशेष्य का, अर्थात् दोनों मार्ग पारस्परिक सापेक्षिक हैं और एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। आनन्द के मार्ग को भाव योग कहते हैं जो कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राप्त होता है और ज्ञान मार्ग आत्मचिन्तन-रूप ध्यान योग का मार्ग है। गीता के १२वें अध्याय में श्री भगवान् ने प्रथम भाव योग को सरल बताकर उसकी श्लाघा की है और ज्ञानमार्ग को कठिन कहकर उसकी प्राप्ति को दुःखसाध्य बताया है।

नवात्म=शंकर। शिव, शक्ति और श्रीचक्र तीनों ९ व्यूहात्मक हैं। तीनों के नौ-नौ व्यूह नीचे दिये जाते हैं:—

शिव के ९ व्यूह:—काल, कुल, नाम, ज्ञान, चित्त, नाद, बिन्दु, कला और जीव।

शक्ति के ९ व्यूह:—वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, शान्ति और परा।

श्रीचक्र के ६ व्यूह—११वें श्लोकोक्त ४ श्रीकंठ और ५ शिव-युवतियां अर्थात् ६ मूल त्रिकोण। इसलिए शिवजी सब के अधिष्ठातृ देव अर्थात् आत्मा होने के कारण नवात्मा कहे गये हैं।

सारा विश्व शक्ति का परिणाम है

[३५]

मनस्त्वं व्योमस्त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभृषे॥

अर्थः—हे शिवयुवति! तू मन है, आकाश तू है, तू वायु है और वायु जिसका सारथि है वह अग्नि भी तू है। तू जल है और तू भूमि है; तेरी परिणति के बाहर कुछ भी नहीं अर्थात् सारा विश्व तेरे परिणाम का ही रूप है। तूने ही अपने आपको परिणित करने के लिये चिदानन्दाकार को विराट् देह के भाव द्वारा व्यक्त किया हुआ है।

सं० टि०:—जैसे ३४वां श्लोक विश्व और शिव की एकता दिखाता है, वैसे ही ३५वें श्लोक में चिदानन्द को समझना चाहिये अर्थात् यह अध्यात्म स्वरूप है। यहां चित् और आनन्द का जोड़ा भी उसी प्रकार समझना चाहिये। मन, आकाश,

वायु, अग्नि, जल, पृथिवी सत् शक्ति के विकार हैं। इनसे आज्ञा, विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और आधार चक्रों से सम्बन्धित तत्वों के अधिदेवताओं का संकेत है जिनका अगले श्लोकों में वर्णन है। वे चिदानन्दाकारा भगवती के ही रूप हैं।

ब्रह्म सत् स्वरूप है अर्थात् उसकी सत्ता है। श्रुति (छा० ६, २) कहती है—'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'। 'तदैक्षत'— उसने इच्छा की कि 'बहुस्यां प्रजायेय' —सृष्टि के लिये मैं अनेक हो जाऊं (अर्थात् वह चेतन चित् स्वरूप है)। उसकी सत् शक्ति में क्रिया की प्रवृत्ति होती है, चेतन चित्शक्ति में अधिष्ठातृत्व शक्ति रहती है और 'अग्रे' अर्थात् सृष्टि के पूर्व वह एक ही अद्वितीय था। वह स्वयं ही अनेक हो गया अर्थात् तेज, जल, अन्न में परिणित हो गया और उनसे अनेक रूपों की सृष्टि होती गई। इसलिये श्रुति वचन है कि 'सर्वँ खल्विदं ब्रह्म'। 'एकमेव' में 'एव' का प्रयोग इस बात का निश्चय कराता है कि अद्वितीय होने के कारण दूसरा कुछ न था।

'तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस।'—ऋग्वेद, नासदासीय सूक्त

अर्थः—उससे अन्य दूसरा कुछ भी न था।

अतः ब्रह्म की सत् शक्ति का परिणाम यह सारा विश्व है और उसका अधिष्ठातृत्व आधार चिदानन्द स्वरूप है,—यह भाव इस श्लोक में दिखाया गया है। मन, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ब्रह्म की सत् शक्ति के परिणाम हैं

तथा चेतना और आनन्द का प्रकाश उस परिणाम के प्रत्येक स्तर पर प्रत्याभासित हो रहा है। ५ महाभूत, ५ तन्मात्रायें, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अन्तःकरणचतुष्टय सभी सत् शक्ति के परिणाम हैं जो चिति शक्ति के प्रकाश से चेतन और अचेतन दीखते हैं। जैसे अन्धकार प्रकाश की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार अचेतन चेतन की अपेक्षा रखता है। जैसे प्रकाश का तिरोभाव अन्धकार का कारण है तथैव चेतना का तिरोभाव अचेतना का कारण है। जैसे समुद्र की तरंगों के चढ़ाव-उतार पर अथवा भूमि के ऊँचे-नीचे धरातल पर प्रकाश पड़ने से कहीं प्रकाश और कहीं छाया का अन्धकार दीखता है, उसी प्रकार सत् शक्ति के परिणाम की विषमता पर प्रतिबिम्बित चिदानन्दाकार के कारण कहीं चेतना और कहीं अचेतना की अनुभूति समझनी चाहिये। वेदानुवचन है कि—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'

—श्वे० ६, ८

इच्छा, ज्ञान और क्रिया भेद से वह पराशक्ति त्रिधा दीख रही है। चितिशक्ति का स्थान सहस्रार में है और उन्मनी, समनी दोनों स्तरों पर व्यक्त होती है,—उन्मनी में सूक्ष्म सामान्य रूप से और समनी पर विशेष रूप से। चिदानन्द की अभिव्यक्ति व्यापिका और शक्ति के स्तरों पर होती है। व्यापिका पर सूक्ष्म अविशेष सामान्य अभिव्यक्ति

है और शक्ति के स्तर पर विशेष घनानन्दस्वरूप की अभि-व्यक्ति है।

नीचे के स्तरों पर सत् शक्ति का शब्द और अर्थ अथवा नाम और रूप दो भेद से फटाव हो जाता है। पहले शब्द, फिर रूप की अभिव्यक्ति होती है। महानाद और नाद दो स्तरों पर शब्दात्मज्ञान की अनुभूति है, महा-नाद पर अविशेष और नाद पर सविशेष ज्ञान की अनुभूति रहती है। उनके नीचे बिन्दु, अर्धेन्दु और निरोधिका के उत्तरोत्तर स्तर रूपों के संप्रज्ञात भेद हैं। मन का स्थान आज्ञा चक्र है, आकाश का विशुद्ध, वायु का अनाहत, अग्नि का मणिपूर, जल का स्वाधिष्ठान और पृथ्वी का स्थान मूला-धार है।

पातंजल दर्शनोक्त वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से सम्बन्धित चार प्रकार की मानसिक संप्रज्ञात समापत्ति के अन्तर्गत क्रमशः आज्ञा से ऊपर के ३, २, २, २ स्तर हैं, इसलिये इन सबका समावेश आज्ञा चक्र में है जो मन का स्थान है और मन एवं पांचों महाभूतों के छः ही चक्र मुख्य माने जाते हैं जिनका विशेष उल्लेख शंकर भगवत्पाद अगले छः श्लोकों में करते हैं।

मन का स्थूल ध्येयाकार हो जाना उसकी रूपापत्ति कहलाती है। उस अवस्था को वितर्क संप्रज्ञात समापत्ति कहा गया है, मन का शब्दात्म होना विचार संप्रज्ञात समापत्ति के अन्तर्गत

है। आनन्दाकार होना सानन्द समापत्ति है और चिदात्म होना सास्मिता समापत्ति कहलाती है। समता की प्राप्ति को समापत्ति कहते हैं और प्रज्ञा से संयुक्ति को संप्रज्ञात कहते हैं। अर्थात् इन अवस्थाओं में मन प्रज्ञा से संयुक्त रहकर स्थूलाकार, सूक्ष्माकार, आनन्दाकार और चिदाकार रहता है।

आज्ञा चक्र [३६]

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वे परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरातंके(निरालोके)लोके निवसति हि
भालोक भ(भु)वने ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ: निरालोके लोके=जिस लोक में सूर्य, चन्द्र और अग्नि का प्रकाश नहीं है। लोक:=मनुष्य।

अर्थः— तेरे आज्ञा चक्र में स्थित करोड़ों सूर्य-चन्द्र के तेज से युक्त परशिव की वन्दना करता हूँ, जिसका वाम पार्श्व परा चिति से एकीभूत है। उसकी जो मनुष्य भक्तिपूर्वक आराधना करते हैं, वे उस प्रकाशमान लोक में निवास करते हैं जो सूर्य, चन्द्र और अग्नि का विषय नहीं है अथवा सब आतङ्कों से मुक्त है अथवा सूर्य, चन्द्र और अग्नि का विषय न होने के कारण उनके प्रकाश से प्रकाशित नहीं है।

तब आज्ञा चक्र कहने का क्या अभिप्राय है ? भगवती की काल्पनिक मूर्ति को ध्यान में लाकर उसके भ्रूमध्यस्थ स्थान में परचिति को वामाङ्क में लिये हुए परशिव की आराधना करने का यहां विधान किया गया है अथवा साधकों को अपने ही आज्ञा चक्र में इस प्रकार ध्यान करने की ओर संकेत है ? यह बात विचारणीय है। भगवती के देह के अन्तर्गत सारा ब्रह्माण्ड और पिंड दोनों हैं। अथवा श्रीचक्र जो भगवती के देह का प्रतीक है, उसके षोडश और अष्टदलों में आज्ञा चक्र की भावनापूर्वक अर्चना करने से श्लोकोक्त भालोक भवन की प्राप्ति कही गई है। ब्रह्माण्ड रूपी विराट् देह में आज्ञा अथवा अन्य चक्रों का स्थिर करना असंभव है और काल्पनिक मूर्ति के ध्यान में भी चक्रों की कल्पना करने पर साधक को अपने भीतर ही ध्यान करना पड़ेगा, अन्यथा ध्यान नहीं हो सकता। आकाश में तो चक्रों की कल्पना करना व्यर्थ है। पार्थिव अथवा चित्र की प्रतिमा में चक्रों की कल्पना करना आकाश में ही कल्पना करने के सदृश है। हां, श्रीचक्र पर अर्चन तो किया जा सकता है, परन्तु ध्यान तो अपने अन्दर ही करना पड़ेगा। इसलिये इस श्लोक और आगे आने वाले श्लोकों में बताये गए ध्यान अपने ही शरीरस्थ चक्रों में किये जाने चाहियें।

'तव' अर्थात् 'तेरे' पद का प्रयोग किये जाने का एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि साधक को अपना

देहाभिमान त्याग कर अपना स्थूल-सूक्ष्म देह सब भगवती का ही रूप समझना चाहिये जैसा कि गत श्लोक में कहा जा चुका है कि मन, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी सब भगवती की परिणति के कार्य हैं। जब सारा प्रपंच भगवती की परिणति के अन्तर्गत है तो 'मेरा' कहने के लिये स्थान ही नहीं रहता। २२वें श्लोकोक्त 'भवानी त्वं' अथवा ३०वें श्लोकोक्त 'त्वामहमिति' की भावना करने वाले साधक के मुख से 'तवाज्ञा चक्र' इत्यादि शब्दों का उद्गार अनन्यता का सूचक है और सुषुम्ना को भी, जिसमें सब चक्रों की स्थिति है, चिदात्मिका महाशक्ति का ही एक रूप समझा जाता है, जैसा कि नीचे दी हुई श्रुति से प्रकट है: —

'सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात् ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ।।—यो० शि० ६,३

इसलिये सुषुम्ना में स्थित सब चक्र चितिशक्ति के विभिन्न केन्द्र होने के कारण भगवती के ही चक्र हैं। आज्ञा चक्र से सहस्रार में उठने वाली दोनों ओर की नाड़ियों का नाम वरणा और असी है, इस स्थान को वाराणसी कहते हैं। यह स्थान ही काशी है जहां शंभु विराजते हैं और उनके वाम अंग में चिति शक्ति शोभायमान है। प्रयाण समय आज्ञा चक्र में ले जाकर प्राणों का त्याग करने वाले योगी को शिवजी तारक मंत्र का उपदेश देकर उसे निज लोक प्रदान करते हैं जो स्वयं प्रकाशमान है और जहां अग्नि, सूर्य और चन्द्र की गति नहीं है।

निरालोके लोके:—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेवभान्तमनुभातिसर्वं, तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥'—मु.२,२,१०

मूलाधार-स्वाधिष्ठान दोनों अग्निमण्डल के अन्तर्गत हैं, मणिपूर-अनाहत सूर्यमण्डल के अन्तर्गत और विशुद्ध-आज्ञा चन्द्रमण्डल के अन्तर्गत हैं। आज्ञा से ऊपर सहस्रार जो सदा पूर्णज्योति का परम स्थान है, वह इन तीनों से ऊपर है। वहां जाकर साधक जन्म-मरण के आतंक से छूट जाता है।

१४ श्लोकोक्त मन की ६४ किरणों में से आधी परशंभु की और आधी परा चिति की किरणें जाननी चाहियें।

विशुद्ध चक्र [३७]

विशुद्धौ ते शुद्धस्फटिकविशदं व्योमजनकं
शिवं सेवे देवीमपि शिवसमानव्यवसिताम् ।
ययोः कान्त्यायान्त्या शशिकिरणसारूप्य सरणिं(णेः)
विधूतान्तर्ध्वान्ता विलसति चकोरीव जगती ॥

अर्थः—तेरे विशुद्ध चक्र में आकाश तत्त्व के जनक, शुद्ध स्फटिकवत् स्वच्छ शिव की, और शिव के समान सुव्यवसित देवी की भी, मैं सेवा करता हूँ, जिन दोनों की चन्द्रमा की

किरणों के सदृश कान्ति से जगत्, जिसका अन्तरन्धकार नष्ट हो गया है, चकोरी की तरह आनन्दित होता है।

विशुद्ध चक्र में कुण्डलिनी शक्ति सोती है। वह योगियों को मोक्षदायिनी होती है।

'सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति।'

—शांडिल्योपनिषत् १. ३७

विशुद्ध चक्र आकाश तत्त्व का स्थान है जिसके अधिष्ठातृ देव सदाशिव हैं। आकाश तत्त्व के उपादान होने के कारण उनको व्योमेश्वर और भगवती को व्योमेश्वरी कहते हैं। आकाश के कारणस्वरूप चिदम्बर सदाशिव शुद्ध स्फटिक-सदृश कान्तिमान हैं। श्रुति का वचन है कि:—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्य पृथिवी॥'

—तैं०, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथमोनुवाकः

अर्थः—ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। जो उसको गुहा में निहित परमाकाशवत् जानता है, वह ब्रह्म-ज्ञान सहित सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न होती है।

श्लोक १४ में बताई गई आकाश की ७२ मयूखायें व्योमेश्वर

और व्योमेश्वरी की आधी-आधी समझनी चाहियें। बहुधा आकाश का अर्थ अवकाश अथवा अभावात्मक शून्य किया जाता है। परन्तु अभाव से भावात्मक वायु की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, इसलिए आकाश को एक भावात्मक तत्त्व मानना पड़ेगा।

पाश्चात्य भौतिक विज्ञानवादी भी आकाश के स्थान पर एक तत्त्व की सत्ता मानते हैं जिसके माध्यम द्वारा प्रकाश, उष्णता, विद्युत् और चुम्बक (magnetic rays) की किरणें प्रसारित होती हैं। यह बात आधुनिक रेडियो-विज्ञान के आविष्कार से सर्वसाधारण के सामने प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध है। उक्त किरणों का माध्यम भौतिक आकाश कहा जा सकता है। भौतिक वायु की उत्पत्ति उससे किस प्रकार होती है, यह अभी भौतिक विज्ञान नहीं समझ सका है। वायु को जमाकर गरमी निकाली जा सकती है, जैसे भाप को जल के रूप में जमाने से उष्णता निकाली जाती है। इसे वायुगत गुप्त तेज (latent heat) कहते हैं। जल को बरफ के रूप में जमाने में भी उष्णता खेंचनी पड़ती है। उसे जल का गुप्त तेज (latent heat) कहते हैं। भौतिक विज्ञान ने भिन्न-भिन्न तत्त्वों के गुप्त तेज का कैलोरियों (calories) में नाप भी किया हुआ है। जब बरफ को तपाया जाता है तो जब तक सब बरफ नहीं पिघलती, जल का तापमान बरफवत् ही रहता है। श्रुति का भी वचन है कि:—

'आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत् तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्ततान्गिः।'

वृ—० १, २, २

अर्थः—जल सूर्य ही है, जो जल रूपी शर अर्थात् किरण थीं, उनको उसने छोड़ा, वे पृथिवी बन गईं। उस परिश्रम से श्रांत और संतप्त उसका जो तेज रूपी रस निकला, वह अग्नि है।

यह पूर्व श्लोक के नीचे कहा जा चुका है कि सारा भौतिक जगत् परमात्मा की सत् शक्ति का परिणाम है और उस पर चमकने वाली चैतन्य सत्ता उसकी चित् शक्ति की छाया है। इस प्रकार सारे चेतन-अचेतन विश्व का उपादान कारण सच्चिदेकं ब्रह्म ही है।

हृदय-कमल [३८]

समुन्मीलत्संवित्कमलमकरन्दैकरसिकं
भजे हंसद्वन्द्वं किमपि महतां मानसचरम्।
यदालापादष्टादशगुणितविद्यापरिणति-
र्यदादत्ते दोषाद्गुणमखिलमद्भ्यः पय इव॥

अर्थः—हृद्देश में विकसित संवित् कमल से निकलने वाले मकरन्द के एकमात्र रसिक उस किसी (अद्भुत) हंसों के जोड़े का मैं भजन करता हूँ, जो महान् पुरुषों के मन रूपी मानस-

सरोवर में विहार करता है, जिसकी वार्तालाप का परिणाम १८ विद्याओं की व्याख्या है और जो दोषों से समस्त गुण को इस प्रकार निकाल लेता है जैसे हंस जलमिश्रित दूध से सब दूध को निकाल लेता है।

संवित् कमल

संवित् का अर्थ ज्ञान है। १२ अक्षरों का अनाहत चक्र जो सुषुम्ना में स्थित है, उससे यह अष्टदल पद्म पृथक् है। इसका स्थान वक्षस् में है।

अरुणाचल के विख्यात रमणमहर्षि की श्रीरमण गीता के अध्याय ५ में इस कमल का स्थान दक्षिण भाग में होना बताया गया है। रमणगीता के तत्संबन्धी श्लोक हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

'अहंवृत्तिः समस्तानां वृत्तीनां मूलमुच्यते।
निर्गच्छति यतोऽहंधीर्हृदयं तत्समासतः॥ ३
हृदस्य यदि स्थानं भवेच्चक्रमनाहतं।
मूलाधारं समारभ्य योगस्योपक्रमः कुतः॥ ४
अन्यदेव ततो रक्तपिण्डाद्धृदयमुच्यते।
अहंहृदितिवृत्त्या तदात्मनो रूपमीरितम्॥ ५
तस्य दक्षिणतो धाम हृत्पीठे नैव वामतः।
तस्मात्प्रवहति ज्योतिः सहस्रारं सुषुम्नया॥' ६

अर्थः—सब वृत्तियों का मूल अहम् वृत्ति है और जिस स्थान पर अहम् बुद्धि का उदय होता है, वह हृदय है। यदि

हृदय का स्थान अनाहत चक्र माना जाय, तो मूलाधार से आरम्भ होने वाले योग का उपक्रम कहां रहता है? (अर्थात् नहीं रहता।। इसलिये हृदय उससे अन्य है और वह रक्त-पिंड से भी अन्य है। 'अयंहृद्' वाक्य से आत्मा का स्वरूप कहा गया है। (देखें छांदोग्योपनिषद् ८, ३, ३। हृद्+अयम्=हृदयं, यहां 'अयम्' पद आत्मा के लिये प्रयुक्त किया गया है)। उसका स्थान दक्षिण की ओर है, वाम ओर नहीं। उस स्थान से ज्योति का प्रवाह उठकर सुषुम्ना में जाकर सहस्रार में जाता है।

अहंसंवित् अर्थात् अहंवृत्ति का ज्ञान जिस स्थान से उदय होता हुआ अनुभव में आवे, वही हृदय का स्थान जानना चाहिये। वह स्थान आत्मा का स्थान है, वहीं पर मन का स्फुरण होता है और वहीं पर परमात्मा विराजते हैं। इस स्थान पर 'हंसः' मंत्र का जप किया जाता है। हंसोपनिषद् में हंस का ध्यान इस प्रकार किया जाना कहा गया है:—

'हृदयेऽष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत। अग्निषोमौ पक्षौ, ॐकारः शिरो विन्दुस्तु नेत्रं मुखो रुद्रो रुद्राणि चरणौ बाहूकालश्चाग्निश्च ···एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशः।'

अर्थः—हृदय में अष्टदल पद्म पर आत्मा स्वरूप हंस का ध्यान करना चाहिये। अग्नि और चन्द्र उसके दो पंख

हैं, ॐकार शिर, विन्दु नेत्र, मुख रुद्र, चरण रुद्राणी, अग्नि और काल बाहू—ऐसा यह परम हंस कोटि सूर्य के प्रकाश से युक्त है। 'हंसः' इस मंत्र का एक कोटि जप करने से यह कमल खिलता है। हं और सः दोनों को हंस और हंसिनी का जोड़ा कहते हैं। हं पुमान् है और सः शक्ति का रूप है। प्रत्येक दल के क्रम से आठों दलों पर उसके बैठने का फल इस प्रकार है—पूर्व पर पुण्य मति, आग्नेय कोण पर निद्रा-आलस्य, दक्षिण पर क्रूर बुद्धि, नैऋ्त् पर पाप बुद्धि, पश्चिम पर क्रीड़ा की इच्छा, वायव्य कोण पर यात्रा की इच्छा, उत्तर पर रति इच्छा और ईशान कोण पर धनेच्छा, मध्य में वैराग्य, केशर पर जाग्रत, कर्णिका में स्वप्न, सूक्ष्म में सुषुप्ति और पद्म का त्याग करके ऊपर उड़ने पर तुरिया समाधि की अवस्था होती है।

हंस का जोड़ा जब वार्तालाप करता है, तब योगियों को १८ विद्यायें आ जाती हैं, मानो दोनों की वार्ता का विषय उनकी व्याख्या ही होती है। १८ विद्याओं के नाम ये हैं:--शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, चार वेद, दोनों मीमांसा दर्शन, न्याय, पुराण, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व विद्या और नीति शास्त्र। चारों वेदों की चार विद्याओं में और दोनों मीमांसा दर्शनों की एक विद्या में गणना करनी चाहिये।

गौड़पादाचार्य रचित सुभगोदय के भाष्य में श्री भगवत्पाद ने हंस के जोड़े का रूप एक दीप शिखा के सदृश बताया है। उसके दक्षिण और वाम भाग ही हंसेश्वर और हंसेश्वरी हैं। हंसेश्वर को शिखी और हंसेश्वरी को शिखिनी भी कहते हैं। उनका ध्यान हृदय पद्म के मध्य में करना चाहिये। नारायणोपनिषद् में भी हृदेश में दीपशिखा का ध्यान करने का उपदेश मिलता है। उसका वर्णन इस प्रकार है: -

'तस्य मध्ये (हृदयस्य) वन्हिशिखा अणीयोर्द्ध्वा व्यवस्थितः। नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युल्लेखेव भास्वरा, नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा। तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः, स ब्रह्मा, स शिवः, स हरिः, सेन्द्रः, सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥'

—ना०, खण्ड १३

अर्थः— उस हृदय-कमल के मध्य में अग्नि की छोटी-सी शिखा है। नीलवर्ण के मेघों में चमकने वाली विद्युत-रेखा के सदृश पीले रंग की धान्य के तिनके के अग्रभाग जैसी पतली होती है। उस शिखा के मध्य में परमात्मा रहते हैं, वही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र और अक्षर परब्रह्म हैं। विद्युत-प्रकाश में दीखने वाले श्याम मेघ सदृश रंग हंसेश्वर का और पीत वर्ण हंसेश्वरी का समझना चाहिये। वैष्णव सम्प्रदाय में पीतवर्णा श्रीजी और श्यामवर्ण भगवान् का

हृदय में ध्यान इसी आधार पर बताया जाता है। १४ श्लोकोक्त ५४ वायव्य किरणें आधी हंसेश्वर की और आधी हंसेश्वरी की हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है:—

'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥'—५, ६, १

अर्थः—यह मनोमय पुरुष प्रकाशमान सत्य स्वरूप है, वह अन्तर्हृदय में धान अथवा जौ के सदृश चमकता है। वह सब का ईश्वर, सबका अधिपति, इस जगत् में जो कुछ है—सब पर शासन करता है।

छान्दोग्योपनिषद् के अष्टम अध्याय में जो दहर विद्या का वर्णन है, वह भी इस संवित्-कमल में ही अहं-संवित् के ध्यानपूर्वक ज्योति दर्शन द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति की विद्या है।

स्वाधिष्ठान चक्र [३६]

तव स्वाधिष्ठाने हुतवहमधिष्ठाय निरतं
तमीडे संवर्तं जननि महतीं तां च समयाम्।
यदालोके लोकान् दहति महति क्रोधकलिते।
दयार्द्रा(भिदृग्भिः)या दृष्टिः शिशिरमुपचारं रचयति॥

अर्थ —हे जननि! तेरे स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नितत्त्व को अधिष्ठान (प्रभाव) में रखने के लिये जो संवर्ताग्नि रहता है, उसकी और उस महती समया देवी की मैं स्तुति करता हूँ। जिस समय संवर्ताग्नि बड़ी क्रोध भरी दृष्टि से लोकों को जलाने लगता है, उस समय समया देवी की दयार्द्र दृष्टि शीतल उपचार करती है।

सं० टि०:—स्वाधिष्ठान=स्व+अधि+स्थान=कुण्डलिनी शक्ति का जागने के पश्चात् सुषुम्ना के भीतर रहने का अपना स्थान। संवर्ताग्नि=अच्छी तरह से वर्तमान रहने वाला अग्नि=प्रलयाग्नि जो रुद्र का रूप है। समया देवी=समयाचार की देवी।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने का फल समाधि है। कुण्डलिनी-महायोग का एक अंग लययोग भी है और षट्-चक्रवेध द्वारा तत्त्वों का वेधपूर्वक प्रतिप्रसवक्रम भी एक अंग है। प्रतिप्रसवक्रम प्रसव के उलटे क्रम को कहते हैं। अर्थात् योगी प्रतिप्रसवक्रम का आश्रय लेकर ही षट्चक्र वेध करता है और पंच-महाभूतों पर जय प्राप्त करता है। प्रलय के समय भी संवर्ताग्नि पृथिवी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में और वायु को आकाश में लीन करता हुआ, सब तत्त्वों को प्रकृति में लीन कर देता है।

सृष्टिक्रम में शक्ति प्रभवाभिमुख होकर फिर विविध रचना करने लगती है, मानो वह देवी दयार्द्र दृष्टि से

संवर्ताग्नि को शान्त करके लोकानुग्रह करती है। वास्तव में सृष्टि, स्थिति और संहार की त्रिधा शक्ति निरंतर अणु-अणु में कार्य करती रहती है, परन्तु योगी के षट्चक्र वेध के समय लयक्रम प्रधान रहता है, इसलिये कहा गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र में अग्नि तत्त्व का संयमपूर्वक प्रयोग होकर पृथिवी और जल दोनों का वेध मूलाधार में होता है और अग्नि का वेध मणिपूर में होता है, जैसा कि श्लोक ६ में समझाया जा चुका है। यदि यह लयक्रम तीव्र हो तो शरीर के नष्ट होने की संभावना हो सकती है, परन्तु ऐसा होता नहीं। शरीर ही तो मोक्ष और भोग दोनों का साधन है। जब तक जीवन्मुक्ति की दशा की प्राप्ति नहीं होती, शरीर की रक्षा करना परम कर्तव्य है। इसलिये षट्चक्रवेध द्वारा लयक्रम और शरीर का पुनः निर्माण एवं संगठन अथवा जीर्णोद्धार रूपी सृष्टि-स्थितिक्रम भी युगपद् चलता रहता है। इसी अभिप्राय से संवर्ताग्नि की संहार क्रिया को संयम में रखने के लिए समयादेवी अपनी दयार्द्र दृष्टि से शीतल उपचार करती रहती है।

अनाहत चक्र के नीचे नाभिस्थान में मणिपूर, उसके नीचे उपस्थ के पीछे स्वाधिष्ठान और गुदा के पास मूलाधार की स्थिति है। दोनों के बीच में योनि-स्थान है जो अग्नि की पीठ मानी जाती है। योनि-स्थान का सम्बन्ध स्वाधिष्ठान से भी है, इसलिये अग्नि को स्वाधिष्ठान चक्र में रहने वाला

कहा गया है। श्लोक ६ की पद-रचना इस दृष्टिकोण को सामने रखकर समझनी चाहिये। यह कहा जा चुका है: – 'महीं मूलाधारे कमपि, मणिपूरे हुतवहं स्थितं स्वाधिष्ठाने.... भित्वा' इत्यादि। अर्थात् मूलाधार में पृथिवी और जल को भी, मणिपूर में अग्नि को जो स्वाधिष्ठान में स्थित है, वेध करके......इत्यादि—इस श्लोक में तत्त्वों के वेध का स्थान एवं क्रम बताया गया है और उनकी स्थिति के लिये केवल अग्नितत्त्व के स्थान का संकेत है, अन्य तत्त्वों के स्थान का नहीं, क्योंकि अन्य तत्त्वों के स्थान और उनके वेध के स्थान एक ही हैं। केवल स्वाधिष्ठान चक्र में जल और अग्नि दोनों का संधि-स्थान है। इसलिये वायु के पश्चात् अग्नि का वर्णन करने के लिये पहिले उसकी स्थिति के स्थान स्वाधिष्ठान का और फिर वेध के स्थान मणिपूर का अगले श्लोक में वर्णन किया गया है। जल-तत्त्व का मूलाधार में वेध होकर वह मणिपूर रूपी अन्तरिक्ष में मेघों के रूप में प्रकट होता है और मेघों की सहायता से अग्नि का वेध होकर वह विद्युताग्नि में परिणित हो जाती है जिसका सुन्दर वर्णन अगले श्लोक में है।

स्वाधिष्ठान में संवर्ताग्नि शिवस्वरूप है तथा समया देवी जल की शिवात्मिका शक्ति है। मणिपूर में मेघेश्वर पर्जन्य जल की शिवात्मिक शक्ति है और सौदामिनी अग्नि की शक्त्यात्मिका शक्ति है। इसलिये स्वाधिष्ठान में संवर्ताग्नि की ३९

तथा समयादेवी की २६ और मणिपूर में मेघेश्वर की २६ तथा सौदामिनी की ३१ किरणें माननी चाहियें। स्वाधिष्ठान में जल की ५२ और मणिपूर में अग्नि की ६२ किरणों का स्थान है, परन्तु दोनों का संक्रमण होने से विपरीतता दृष्टि-गोचर होती है।

विभिन्न स्तरों पर शक्ति के विभिन्न रूप

ब्रह्माण्ड और पिण्ड में शक्ति का अनुभव आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टि से तीन प्रकार का किया जाता है। सारा विश्व किसी शक्ति के आधार पर कार्य कर रहा है। उस शक्ति का अनुभव हम ताप, शब्द, प्रकाश, चुम्बक और विद्युत् के रूप में सदा करते हैं और उनकी सहायता से अनेक कार्य करते हैं। परन्तु विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि ये सब रूप किसी एक ही शक्ति के परिणाम हैं। शक्ति का यह रूप आधिभौतिक (physical) कहलाता है। दूसरा रूप हम अपने शरीर में अनुभव करते हैं, जो देह, इन्द्रियों और मन-बुद्धि में काम करता है। उसे हम अध्यात्म रूप कहते हैं। परन्तु अध्यात्म शक्तियां बाह्य शक्तियों की अपेक्षा रखती हैं, जैसे दृष्टि सूर्य की, रसना जल की, इत्यादि। इस सम्बन्ध को अधिदैव कहते हैं। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय का पृथक्-पृथक् अधिदेवता है जिनके नाम ये हैं:—अहंकार का रुद्र, चित्त का क्षेत्रज्ञ, बुद्धि का ब्रह्मा, मन का चन्द्रमा, श्रवण का आकाश, स्पर्श का वायु, दृष्टि का सूर्य, रसनेन्द्रिय

का वरुण, गन्ध का पृथिवी, वाणी का सरस्वती, हाथों का इन्द्र, पैरों का सर्वाधार विष्णु, मैथुन का प्रजापति और मल-त्याग का यमराज मृत्यु। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय में उक्त देवताओं की शक्तियां कार्य करती हैं जो उनका ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध जोड़ती हैं। प्राण का सूर्य, अपान का पृथिवी, समान का आकाश, व्यान का वायु और उदान का अग्नि अधिदेव है। पृथिवी की आकर्षण शक्ति (gravitation) को ही अपान शक्ति कहा जाता है। उसका सम्बन्ध विष्णु और मृत्यु दोनों से है, इसलिये उसे मर्त्य लोक भी कहते हैं। कहा है—

'पृथिवी त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।'

ऊपर उठाने वाली शक्ति की प्रतिपक्षी शक्ति उदान है, उसका सम्बन्ध अग्नि से है। अग्नि की ज्वालायें ऊपर उठती हैं; वायु तप्त होकर ऊपर उठता है, इसी तरह मृत्यु के पश्चात् उदान ही जीव को कर्मानुसार अन्य लोकों को ले जाता है।

जिस प्रकार बाह्य शक्तियों का एक आधार शेष नाग माना जाता है, उसी प्रकार अभ्यन्तर शक्तियों का आधार कुण्डलिनी शक्ति मानी जाती है। परन्तु सब शक्तियों का, जिनमें शेष नाग और कुण्डलिनी रूपी आधार भी सम्मिलित हैं, उदय और अस्त पद परमात्मा ही है। इसलिये परमात्मा की अपेक्षा से सब शक्तियों के रूप अनित्य हैं, परन्तु आधार-आधेय की अपेक्षा से आधार को अचल कहते हैं। इसलिये

कुण्डलिनी का प्रसुप्त रूप भी अचल समझना चाहिये। कुछ लोगों की धारणा है कि सम्पूर्ण कुण्डलिनी जागकर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है, परन्तु यह धारणा गलत है। वह अपने आधार स्थान पर स्थिर स्थिति में नित्य रहकर भी सुषुम्ना में शक्ति का संचार करती रहती है और सुषुम्ना में भी स्वाधिष्ठान चक्र पर जाग्रत अवस्था में नित्य रहती है, जैसा कि इस चक्र के नाम से स्पष्ट है, परन्तु इस चक्र पर उसका रूप पिंडात्मक होता है। कहा है:—

'पिण्डं कुण्डलिनं शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं विन्दुरिति ख्यातं रूपातीतस्तु चिमन्यः॥'

अर्थः—कुण्डलिनी, हंस, बिन्दु और चितिशक्ति सब एक ही शक्ति के रूप हैं। पिंडरूपा कुण्डलिनी, त्राण पद* स्वरूपा हंस, रूपात्मिका बिन्दु और रूपातीता चिति-शक्ति है।

प्रसुप्त कुण्डलिनी का स्थान आधार चक्र के नीचे और जाग्रत कुण्डलिनी का स्थान स्वाधिष्ठान में है। हंसरूपा हृदय चक्र में रहती है। बिन्दु के विषय में अन्यत्र लिखा जाता है और चितिशक्ति का स्थान सहस्रार है। विशुद्ध चक्र में शक्ति का विशुद्ध स्वरूप रहता है। यद्यपि जागने के पश्चात् इन केन्द्रों पर शक्ति सदा रहती है, परन्तु उनके विकास की तारतम्यता में अन्तर होता रहता है।

---

*पदं व्यवसिति त्राणस्थान लक्ष्मांध्रि वस्तुषु इति अमरः।

ग्रंथित्रय और अध्यास

ऊपर कहा जा चुका है कि ग्रंथियां तीन हैं– ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रंथि और रुद्रग्रंथि। ग्रंथि गांठ को कहते हैं। दो भिन्न वस्तुओं को जोड़ने या बांधने के लिये गांठ से काम लिया जाता है और प्रायः एक ही वस्तु में विकार आने पर उलझनों की ग्रंथियां भी पड़ जाया करती हैं, जैसे केशों अथवा धागों में। अध्यात्म ग्रंथि के स्वरूप का वर्णन श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी ने इन शब्दों में किया है—

'जड़ चेतनहिं ग्रंथि पड़ि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई।'

अर्थात् जड़ प्रकृति और चेतन आत्मा की गांठ पड़ गई है, यद्यपि वह झूठी है, तो भी बड़ी कठिनाई से खोली जा सकती है।

आत्मा शुद्ध चेतन स्वरूप निर्विकारी है और देह, इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि का संघात प्रकृति के विकार हैं। दोनों में गठ-बंधन होना असंभव है, परन्तु दोनों का भिन्न-भिन्न स्तरों पर ऐसा तादात्म्य दीखता है कि उनके पृथक् होने का ज्ञान अति दुर्लभ हो रहा है– जैसे देह के अभिमान से आत्मा अपने को देह के धर्म वाला समझता है। दार्शनिक परिभाषा में इस मिथ्या प्रतीति को अध्यास, विपर्यय ज्ञान अथवा ख्याति कहते हैं।

श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद ने अध्यास शब्द को इस प्रकार समझाया है—'आत्मा अहं अथवा अस्मत् पद है और प्रकृति

युष्मत् पद है। पहिला विषयी है और दूसरा विषय। दोनों प्रकाश और तमवत् विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, परन्तु दोनों एक दूसरे के भाव को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् चिदात्मक विषयी आत्मा में युष्मत् प्रत्यय की प्रतीति, गोचर विषय, उस युष्मात के धर्मों का भाव और इसके विपरीत विषय और विषय के धर्मों में विषयी और उसके धर्मों का आभास दीखने लगता है। इस इतरेतर अध्यारोपण के मिथ्या ज्ञान को अध्यास कहते हैं। यह स्मृतिरूप होता है और पूर्वदृष्ट अर्थात् पहिले देखे हुए किसी पदार्थ के अन्यत्र अवभास द्वारा उत्पन्न हुआ करता है। पूर्व मीमांसा वाले इसे अख्याति, वैशेषिक और नैयायिक इसे अन्यथा ख्याति, शून्यवादी असत् ख्याति, बौद्ध लोग आत्मख्याति, सांख्यवादी सदसत् ख्याति और वेदान्तवादी इसे अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त में सब एक मत हैं कि यह एक वस्तु का अन्यन्त्र मिथ्या अवभास मात्र है। उक्त मिथ्या अवभास की निवृत्ति और आत्म-तत्त्व के शुद्ध चेतन ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान को 'ज्ञान' कहते हैं।'

आत्मा में देहाध्यास अथवा देह में आत्माध्यास की निवृत्ति करना ही जड़-चेतन की ग्रंथि का छुड़ाना है, जिसका सुन्दर निरूपण श्रीगोस्वामी जी ने ज्ञान-दीपक में किया है। अध्या-त्माध्यास प्रकृति के तीन गुणों के योग से तीन स्तरों पर प्रतीत होता है। सत्त्वगुण के योग से उत्पन्न हुए अध्यास को विष्णुग्रंथि, रजोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास को ब्रह्मग्रंथि

और तमोगुण के योग से उत्पन्न अध्यास को रुद्रग्रंथि कहते हैं। इसलिये स्थूल देहाध्यास को रुद्रग्रंथि, इंद्रियेजनित अध्यास को ब्रह्मग्रंथि और अन्तःकरण के योग से उत्पन्न अध्यास को विष्णुग्रंथि कहते हैं। रुद्रग्रंथि का स्थान मूलाधार में; विष्णुग्रंथि का स्थान हृदय में और ब्रह्मग्रंथि का स्थान आज्ञा चक्र में बताया जाता है, परन्तु ललितासहस्रनाम में ग्रंथित्रय के स्थानों का वर्णन इस प्रकार है:—

'मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथि विभेदिनी।
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथि विभेदिनी ॥८९॥
आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रंथि विभेदिनी।
सहस्राराम्बुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी ॥९०॥

भूतजय होने पर रुद्रग्रंथि, इंद्रियजय होने पर ब्रह्मग्रंथि और मनोजय होने पर विष्णुग्रंथि का वेध जानना चाहिये। भूतजय होने पर मधुमती भूमिका का उदय होता है और इंद्रिय एवं मनोजय होने पर मधुप्रतीका भूमिका का। इनसे पूर्व कुण्डलिनी जागरणोपरान्त रजतमोमिश्रित सत्त्व गुण की भूमिका का नाम प्रारम्भ-कल्पिका है और ऋतंभरा-प्रज्ञा के उदय होने पर शुद्ध सत्त्वगुणप्रधान भूमिका का नाम मधुमती भूमिका है। (देखें 'योगदर्शन', विभूतिपाद, सूत्र ५१ पर व्यास-भाष्य)।

बिन्दुत्रय, पंचाग्नि विद्या और ब्रह्मचर्य

संवर्ताग्नि प्रलयाग्नि को कहते हैं, उसे पातालस्थित

कालाग्नि भी कहते हैं। शंकर भगवत्पाद ने निम्न चक्रों में स्थित अग्नि को, जो लयाभिमुख होकर सब तत्त्वों को अपने-अपने कारण में लीन करता है, संवर्ताग्नि कहा है क्यों कि केवल तीन ही अग्नियों का यहां वर्णन है अर्थात् स्वाधिष्ठान-स्थ संवर्त अग्नि, मणिपूरस्थ वैद्युताग्नि और हृदय में सूर्य-अग्नि। वास्तव में ५ अग्नि जानने चाहियें। इस विषय पर योगशिखोपनिषत् में पांच ही अग्नियों का ध्यान बताया गया है। वह इस प्रकार है:—

'स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः।—
स्थूलं शुक्रात्मकं बिन्दुः सूक्ष्मं पंचाग्निरूपकम्॥ – ५, २८
सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदा साक्षी सदाच्युतः॥

अर्थः— ब्रह्म का शरीर त्रिविध है – स्थूल, सूक्ष्म और पर। शुक्र (वीर्य) स्थूल रूप है, पञ्चाग्नि सूक्ष्म रूप है और सोम पर रूप है जो अच्युत, सदा साक्षी है। स्थूल बिन्दु से पंचाग्नि का संबंध प्रथम ग्रंथि है, पंचाग्नि से पर बिन्दु का सम्बन्ध दूसरी ग्रंथि है और पर बिन्दु से आत्मा का सम्बन्ध तीसरी ग्रंथि है। आगे पंचाग्नियों का वर्णन करते हैं:—

पातालानामधोभागे कालाग्निर्यः प्रतिष्ठितः॥—५, २९
स मूलाग्निः शरीरेऽग्निर्यस्मान्नादः प्रजायते।
वडवाग्नि शरीरस्थो स्वाधिष्ठाने प्रवर्तते॥ – ५, ३०
काष्ठपाषाणयोर्वन्हिर्ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते।
काष्ठपाषाणजो वन्हिः पार्थिवो ग्रहणं गतः॥ –५,३१

अन्तरिक्षगतो वन्हिर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः ।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्निर्नाभिमण्डलमाश्रितः ॥—५, ३२
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ।।—५, ३३
भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः ।
महाविष्णोश्च देवस्य तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥—५, ३४
एतत्पंचाग्निरूपं यो भावयेद्बुद्धिमान् धियः ।
तेन भुक्तं च पीतं च हुतमेव न संशयः ॥—५, ३५

अर्थः—पातालों के अधोभाग में जो कालाग्नि रहता है, वह शरीर में मूलाधार का अग्नि है, जिससे नाद उत्पन्न होता है। स्वाधिष्ठान में वडवाग्नि रहता है। काष्ठ-पाषाण का जो अग्नि है, वह अस्थियों में रहता है, उसे पार्थिव अग्नि कहते हैं। अन्तरिक्ष अर्थात् मणिपूर में जाकर वही स्वान्तरात्मा स्वरूप विद्युत् अग्नि है। आकाशस्थ अग्नि सूर्य है, वह नाभि (सूर्य) मण्डल में आश्रित है। यह सूर्य विष की वर्षा करता रहता है, परन्तु उन्मुख होकर अमृत का स्राव करता है। विन्दु भ्रूमध्य में लीन होकर शुद्ध स्फटिक-सदृश हो जाता है, जो महाविष्णु देव का सूक्ष्म रूप कहलाता है। इस प्रकार पंचाग्नि का जो बुद्धिमान् ध्यान करता है, उसका खाया-पीया हुआ आहुति के तुल्य है, इसमें सन्देह नहीं।

छान्दोग्य उपनिषद् के पांचवें अध्याय के खण्ड ३ से नवम खण्ड तक जिस पंचाग्नि विद्या का वर्णन मिलता है,

उसी का यहां लयक्रम बताया गया है। छान्दोग्य-कथित पंचाग्नि विद्या की गाथा इस प्रकार है। अरुणि के पुत्र श्वेत-केतु से पांचाल देश के राजा प्रवाहण जैबलि ने ५ प्रश्न किये, परन्तु वह एक का भी उत्तर न दे सका। उसने जाकर अपने पिता से पूछा, परन्तु वह भी नहीं जानता था। इसलिये अरुणि अपने पुत्र को साथ लेकर राजा के पास गया और उससे उन प्रश्नों का उत्तर जानने की जिज्ञासा की। राजा ने कहा कि यह पंचाग्नि विद्या कहलाती है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं:—क्या तुम जानते हो कि सब जीव मरकर यहां से कहां जाते हैं ? क्या तुम जानते हो कि वे फिर यहीं लौटकर आते हैं ? क्या पितृयान और देवयान दोनों मार्गों को जानते हो ? क्या जानते हो कि यह लोक कभी क्यों नहीं भरता अर्थात् इस आवागमन का चक्र कभी बन्द क्यों नहीं होता और क्या यह भी जानते हो कि पांचवीं आहुति में जल से यह देह कैसे बनता है ? इन प्रश्नों को पूछने से राजा का अभिप्राय स्पष्ट है कि जो मनुष्य प्रभवक्रम को जानता है, वही आवागमन से छूटने के लिये, देवयान मार्ग का द्वार खोलते समय, इसके प्रतिकार स्वरूप प्रतिप्रसवक्रम को भी जानने का यत्न करेगा, नहीं तो आवागमन का चक्र कभी बन्द नहीं होगा। राजा ने जो प्रभवक्रम बताया, वह इस प्रकार है:—

१—द्युलोक प्रथम अग्नि है, जिसमें सूर्य रूपी ईंधन जल रहा है, उसमें देवता श्रद्धा की आहुति देते हैं और उससे सोम उत्पन्न होता है।

२—पर्जन्य दूसरी अग्नि है, उसमें सोम की आहुति दी जाती है और वर्षा उत्पन्न होती है।

३—पृथिवी तीसरी अग्नि है, उसमें वर्षा की आहुति दी जाती है और अन्न उत्पन्न होता है।

४—मनुष्य का देह चौथी अग्नि है, उसमें अन्न की आहुति दी जाती है और शुक्र उत्पन्न होता है।

५ स्त्री का गर्भ पांचवीं अग्नि है, उसमें शुक्र की आहुति दी जाती है और बालक का देह उत्पन्न होता है।

जो मनुष्य इस क्रम को उलटना चाहते हैं, उनको ब्रह्मचर्य व्रत अर्थात् ऊर्द्ध्वरेता रहने का व्रत धारण करके तप करना चाहिये। तब देवयान का मार्ग खुलता है।

बहिर्मुख शुक्र संतानोत्पादक होने से सृष्टिक्रमाभिमुख रहता है, परन्तु ऊर्द्ध्व होकर अभ्यन्तर पंचाग्नियों द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होकर भ्रूमध्य में सोमात्मक परबिन्दु के रूप में लौट जाता है। मूलाधार से शक्ति का उत्थान होना प्रथम अभ्यन्तर अग्नि है, जिसके योग से शुक्र की ऊर्द्ध्वगति होती है, फिर वह स्वाधिष्ठान की अग्नि से सूक्ष्म होकर सब अस्थियों में पृथिवी तत्त्व का वेध करता है और मांस एवं रुधिर में भी जल का वेध करके मणिपूर चक्र में अधिक सूक्ष्म विद्युत्रूप होकर, सूर्य को उन्मुख करता हुआ, चन्द्रमण्डल में पहुँच कर सोम में परिणत हो जाता है। प्रसवक्रम में

सोम ही शुक्र के रूप में परिणत हुआ था, प्रतिप्रसवक्रम में वह फिर अपने पूर्व रूप में आ जाता है। श्रद्धा के सकाम होने से सोम प्रसवाभिमुख होता है और उसी श्रद्धा के निष्काम होने पर वह अपने कारण हैरण्यगर्भ रूपी समष्टि प्राण में लीन हो जाता है। समष्टि प्राण स्वयं ब्रह्म की किरण ही है। कहा है:—

'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी इत्यादि।'

—प्र० ६, ४

अर्थः— उसने प्राण की सृष्टि की, प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इत्यादि हुए। उक्त प्रतिप्रसवक्रम षड्चक्रवेध का विषय है।

पृथिवी के गर्भ रूपी पातालों में जो अग्नि है, वह अग्नि का एक रूप है, दूसरा रूप भूतल पर काष्ठ-पाषाणादि में है, जल में रहने वाला तीसरा रूप है, विद्युत् अग्नि का चौथा रूप है और सूर्य में अग्नि का पांचवां रूप है। उष्णता, प्रकाश और प्राणशक्ति तीनों का सूर्य के ताप में युगपद समावेश रहता है। चन्द्रमा सूर्य के ताप को स्वयं पी लेता है और शीतल प्रकाश एवं सोम के रूप में प्राणशक्ति को अपनी चंद्रिका के साथ पृथिवी पर भेजा करता है। प्राण ही जीवनी-शक्ति है जिसको चेतन शक्ति भी कहते हैं। प्राणमय कोष की प्राण-अपानादि ५ वृत्तियां चेतन शक्ति की स्थूल क्रियायें हैं। चिति स्वरूप प्राण ही उपरोक्त श्रुति में ब्रह्म से उत्पन्न होने

वाला सोम कहा गया है। अग्नि के उपरोक्त पांचों रूप आधिभौतिक स्तर पर बताये गये हैं, वे परस्पर में संबन्धित हैं और एक अग्नि के ही रूपान्तर हैं तथा उन का चन्द्रमा से भी सम्बन्ध है।

अब इसका अध्यात्म रूप समझाते हैं। जैसे पृथिवी के गर्भ में सात पाताल माने जाते हैं, वैसे ही देह के अधोभाग में चरणों का तलभाग, ऊपर का भाग, गुल्फ, जंघा, जानू, उरु और नितम्ब—सात पाताल समझे जाते हैं। इनमें फैली हुई नाड़ियां मणिपूर चक्र से निकलती हैं। इनके द्वारा जो अग्नि इन अंगों को तप्त रखता है, वह पातालाग्नि है। उसका स्थान मूलाधार तक है। वही अग्नि ऊपर के भाग में हड्डियों में व्याप्त है जिसे पार्थिव अग्नि कहा गया है। अस्थि, मज्जा और शुक्र में भी यही पार्थिव अग्नि कार्य करता है। शुक्र में भी दो शक्तियां कार्य करती हैं। मज्जा से बनने के कारण उसमें एक प्रजनन शक्ति वाला भाग है, दूसरा प्राण शक्ति वाला भाग है। प्रजनन के लिये प्राण शक्ति आवश्यक नहीं होती, इसलिये प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि रात्रि में रतिक्रिया में रमण करने वालों की प्राण शक्ति का ह्रास नहीं होता और वह ब्रह्मचारी के ही तुल्य है, परन्तु दिन में रमण करने वालों के प्राण भी नष्ट होते हैं, इसलिये दिन में रतिक्रिया का निषेध है।

'प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते।
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते॥'—प्र० १,१३

प्रजनन द्रव्य में सातों धातुओं का बीज है, वह भाग ऊद्र्ध्व होकर अन्नमय कोष को पुष्ट करेगा और दूसरा प्राण वाला भाग प्राणमय को पुष्ट करेगा। इस स्तर पर दोनों का पृथक्करण होने से अन्नमय कोष से प्राणमय कोष का पृथक्करण होगा। शुक्र में दोनों कोषों की बीजरूप से ग्रंथि रहती है जिसके टूटने से दोनों कोषों की गांठ खुल जायगी। इसलिये काम वासना की वृद्धि से यह ग्रंथि दृढ़ होती है और ब्रह्मचर्य अर्थात् ऊद्र्ध्वरेता होने से यह ग्रंथि शिथिल होती है। प्रजनन शक्ति वाले द्रव्य से प्राणशक्ति का पृथक्करण होने पर वह विद्युताग्नि, सूर्याग्नि क्रम से सोम में परिणत हो जायगी। प्राण का सोम से पृथक्करण दूसरी ग्रंथि का और सोम का आत्मतत्त्व में लयकरण तीसरी ग्रंथि का वेध है।

दूसरा प्रजनन शक्तियुक्त द्रव्य जो रुधिर और अण्डकोषों के रस के योग से बनता है, वह भी प्राण-शक्तियुक्त होता है, परन्तु वहां दोनों का वीर्य में एकीकरण रहता है। स्वाधिष्ठान में जल और अग्नि का संधि-स्थान है, इसलिये जलस्थ अग्नि को बड़वाग्नि नाम दिया गया है। समुद्र में रहने वाले अग्नि को बड़वानल कहते हैं। मणिपूर में सौदामिनी स्वरूपा विद्युत् अग्नि है जिसको अन्न को पचाने वाला वैश्वानर अग्नि भी कहते हैं, उसीको समान वायु भी कहते हैं और उसे ही स्वान्तरात्मा कहा गया है।

जब कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है, तब इसे

मूलाग्नि का प्रज्ज्वलन समझना चाहिये जिसकी क्रिया नीचे पैरों में, ऊपर हड्डियों में और साथ ही जल में भी होती है। अर्थात् मांस, रुधिर, मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा, शुक्र सातों धातुएं संतप्त हो जाती हैं। इनके क्षुब्ध अथवा मंथन होने से शुक्र वीर्य) की आहुति मूलाधार में पड़ती है। वह बहिर्मुख होकर जब स्त्री के गर्भाशय में पोषण पाता है तो एक नये शरीर की रचना करता है, परन्तु जब अन्तर्मुखी करके उसकी मूलाग्नि में आहुति दी जाती है तो वह ऊर्ध्वमुख होकर सूक्ष्म स्तरों पर चढ़ने लगता है जिसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। उन सूक्ष्म स्तरों पर चढ़ने की क्रिया को अन्तः पंचाग्नि याग कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में प्राकृतिक बाह्य पंचाग्नि याग का वर्णन है, योगशिखोपनिषद् में लयाभिमुख अन्तर्याग का संकेत है।

इस संबन्ध में यह बात भी जानने योग्य है कि विशुद्ध चक्र की डाकिनी शक्ति का संबन्ध त्वचा से, अनाहत की राकिनी शक्ति का रुधिर से, मणिपूर की लाकिनी शक्ति का मांस से, स्वाधिष्ठान की काकिनी शक्ति का मेद से, मूलाधार की साकिनी शक्ति का अस्थि से, आज्ञा की हाकिनी शक्ति का मज्जा से और सहस्रार की याकिनी शक्ति का संबन्ध शुक्र से है। वहां इनके प्रिय अन्न भी बताये गये हैं जो क्रमशः दुग्धोदन, घृतोदन, गुड़ोदन, दध्योदन, मुग्दोदन और हरिद्रोदन हैं। (देखें – ललिता सहस्रनाम, श्लोक १४६ – १६१)।

सूर्य का ताप वायुमण्डल के भूमि के निकटस्थ निम्न स्तरों को ही संतप्त कर सकता है, ऊपर के पर्वतशिखरों के स्तर को नहीं तपा सकता। इसका कारण यह है कि निम्न स्तरों की वायु भूमि की उष्णता से अथवा समुद्र के जल की उष्णता से तप्त होकर उष्ण हो जाती है, परन्तु ऊपर के स्तरों की तरल वायु उतनी तप्त नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब सूर्य अधोमुख होता है तो देह की सब धातुओं को संतप्त कर देता है और उसको विष बरसाने वाला कहा जाता है। परन्तु जब वह ऊद्र्ध्व मुख होता है तब सुषुम्ना-पथ के सूक्ष्म स्तरों पर चमकने लगता है और उसकी देह को संतप्त करने वाली शक्ति ऊद्र्ध्वगामिनी हो जाती है जिससे ऊपर के भ्रूमध्यस्थ चन्द्रमण्डल पर प्रकाश पड़ने लगता है। उस प्रकाश को सोम कहते हैं। चन्द्रमा का नाम सोम भी है और मध्य के विशुद्ध चक्र पर विशुद्ध सोम का ही प्रकाश चमकने लगता है।

वास्तव में अग्नि, विद्युत् और सूर्य तीनों एक ब्रह्मतेज से ही प्रकाशमान हैं। इसी प्रकार पांचों अग्नियां एक चितिशक्ति से ही प्रकाशमान समझनी चाहियें। चितिशक्ति का स्थान आज्ञा चक्र के ऊपर है और सोम ही उसका शुद्ध स्वरूप है, इसलिये उसे परबिन्दु अथवा ब्रह्म का पररूप कहते हैं।

श्रद्धा का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध

जिन साधकों की कुण्डलिनी शक्ति का जागरण नहीं

हुआ है, परन्तु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उनको अपनी श्रद्धा पर संयम करना अत्यावश्यक है। क्योंकि जब तक कामवासना का वेग कार्य करता रहता है, शुक्र अन्तर्मुखी नहीं हो सकता। कामवासना भी स्त्री-संग की ओर प्रेरणा करने वाली एक प्रकार की राजसी श्रद्धा का ही रूप है। जब सात्त्विक श्रद्धा का उदय होता है और देव बुद्धि अथवा पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है, तब तुरन्त कामवासना शान्त हो जाया करती है। श्रद्धा ही बहिर्मुखी होकर सृष्टि का कारण बन जाती है जैसा कि ऊपर पंचाग्नि विद्या में कहा गया है और अन्तर्मुखी रहने पर श्रद्धा ही मोक्ष का साधन होती है। इसलिये श्रद्धा को सात्त्विक रखने पर स्थूल बिन्दु की ऊर्ध्वगति संभव है, अन्यथा नहीं। देवता उसकी आहुति सृष्टि के हेतु बहिर्योगार्थ निम्न स्तरों पर देते हैं और मुमुक्षु आत्मचिन्तन रूपी अन्तर्योग द्वारा उसके उलटे क्रम का अनुष्ठान करता है।

गुरु-शिष्य का संबन्ध भी श्रद्धा के सूत्र से बंधा होता है, इसलिये गुरु-शिष्य के संबन्ध पर भी कुछ विचार प्रकट कर के हम यहां विषयान्तर के दोष को पाठकों के लाभार्थ ग्रहण करते हैं।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध और श्रद्धा

गुरु और शिष्य में जो संबन्ध होता है, उसका सूत्र एक मात्र शिष्य की गुरु के प्रति श्रद्धा ही है। यदि शिष्य की श्रद्धा शिथिल हो जाय, तो वह संबन्ध भी शिथिल हो जाता है।

यह संबन्ध वास्तव में एक-पक्षीय ही है, उभय-पक्षीय नहीं, क्योंकि गुरु की शिष्य के प्रति श्रद्धा की भावना का होना संभव नहीं, श्रद्धा सदा अपने से बड़ों के प्रति ही हुआ करती है। परन्तु श्रद्धा की प्रतिक्रिया भी प्रेम के रूप में प्रकट हुआ करती है, जिससे शिष्य को गुरु की विद्या फलीभूत होती है। शिष्य गरु की शरण में श्रद्धा की प्रेरणा से प्रेरित होकर जाता है कि उसको वहां से उसकी जिज्ञास्य विद्या की उपलब्धि होगी। अध्यात्म-पथ का पथिक गुरु से भौतिक स्तर पर उस प्रकाश की जिज्ञासा रखता है जो उसे तीनों तापों से मुक्त कर दे, इसलिये वह ज्ञानी गुरु की खोज करता है—परोक्षज्ञानी की नहीं, वरन् अनुभवी तत्त्वज्ञानी की। श्री भगवान् ने भी ऐसे ही ज्ञानी गुरु की शरण में जाने का आदेश किया है :—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥' —गीता

ज्ञानी गुरु योगी तो होना ही चाहिये, क्योंकि बिना योग-संसिद्धि के ज्ञान नहीं होता। श्री भगवान् स्वयं कहते हैं कि:—

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।' गीता

परन्तु योग से भोग और भोगों से रोग भी होते हैं, यह देखने में आता है। इसलिये यदि गुरु में योग के साथ-साथ भोग भी हों तो हर्ष की बात है, क्योंकि योगी के पास भोगों की समृद्धि उसकी सिद्धियों का परिचय देती है। परन्तु भोगों के साथ रोग भी गुरु की सेवा में आ उपस्थित हों और रोगों

के निवारणार्थ गुरु घबरा कर साधारण डाक्टरों-वैद्यों का आश्रय ढूंढता फिरे तो उसके योग को बट्टा लग जाने की आशंका है और इससे शिष्य की श्रद्धा में भी ठेस लगने की संभावना है।

भोग और रोग दोनों पूर्वार्जित प्रारब्ध कर्मों का भी फल हो सकते हैं जिनका योग की सिद्धि से कोई संबन्ध नहीं होता, परन्तु एक योगी और ज्ञानी महापुरुष से यह भी आशा की जाती है कि वह वीतराग होने के कारण भोगों में फंसेगा नहीं और योगज तथा प्रारब्धज दोनों प्रकार के भोगों को पास नहीं फटकने देगा। यदि उनसे रोग उत्पन्न होते दीखते हैं और यदि प्रारब्धवश रोगों का आक्रमण भी हो तो अपने योगबल से उनको परास्त करता हुआ वह उन्हें सहन करेगा, न कि साधारण मनुष्य के सदृश भोगासक्ति का कुपथ्य करके उनका पोषण करेगा।

यदि किसी गुरु को भोगासक्त और रोगाक्रांत देखा जाय तो स्वभावतः शिष्य की श्रद्धा भंग हो जाने में आश्चर्य नहीं। परन्तु उसका दुष्परिणाम शिष्य के लिये उसके सर्वनाश का कारण बन जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषत् की ब्रह्मानन्दवल्ली के चतुर्थ अनुवाक् में श्रद्धा को विज्ञानात्मा का शिर बताया गया है और योग को उसकी आत्मा। विज्ञानात्मा के ऋत् और सत्य दोनों पक्ष हैं और महत् उसकी प्रतिष्ठा-पुच्छ है। शिर के कट जाने पर

आत्मा शरीर को छोड़ देती है और शिर के विकार से दोनों हाथ निकम्मे अर्थात् पक्षाघात के रोगी हो जाते हैं तथा प्रतिष्ठा भी नहीं रहती। अर्थात् श्रद्धा की कमी होते ही उससे योग, सत्य और ऋत् तीनों विदा होने लगते हैं और महत् का सहारा छूट जाता है। महत् से आनन्दमय सगुण ब्रह्म का ही यहाँ अभिप्राय है, क्योंकि साधक की प्रतिष्ठा उसी के आधार पर होती है, न कि लोक-प्रतिष्ठा पर। विज्ञानमय कोष का आधार आनन्दमय आत्मा ही है, उसे स्वयं परमात्मा का प्रतीक समझना चाहिये।

जब विज्ञानात्मा ही न रहा तो मनोमय, प्राणमय और अन्नमय आत्मा की क्या दशा होगी ?,—यह पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं।

मणिपूर चक्र [४०]

तडित्वन्तं शक्त्या तिमिरपरिपन्थिस्फुरणया

स्फुरन्नानारत्नाभरणपरिणद्धेन्द्रधनुषम्।

तव(तमः)श्याम मेघ कमपि मणिपूरैकशरणं

निषेवे वर्षन्तं हरमिहिरतप्तं त्रिभुवनम्॥

क्लिष्ट शब्दार्थः – कमपि=जलको भी। हर=अग्नि।

अर्थः—तेरे मणिपूर की शरण में गये हुए श्याम मेघों के रूप धारण करने वाले कं जल की भी सेवा करता हूँ,

जिनमें अंधकार की परिपंथिनी अर्थात् प्रतिद्वन्द्विनी बिजली की चमक, आभरणों में जटित नाना रत्नों की चमक सदृश इन्द्रधनुष का रूप धारण किये हुए है और जो अग्नि और सूर्य के ताप से संतप्त त्रिभुवन पर वर्षा कर रहे हैं।

मणिपूर चक्र में मेघेश्वर और सौदामिनी के रूप में शिव-शक्ति का ध्यान बताया गया है। सूर्य का स्थान ऊपर सूर्यमण्डल में और अग्नि का स्थान नीचे स्वाधिष्ठान चक्रस्थ अग्निमण्डल में होने के कारण, दोनों के ताप से सारा देह-रूपी तीन खण्डों का त्रिभुवन तप्त होने पर जल वाष्प-रूप से मणिपूर चक्र में मेघों का रूप धारण कर लेता है और मेघों में अग्नि विद्युताकार चमकने लगती है जिनको मेघेश्वर और सौदामिनी कहते हैं। इन दोनों के योग से वर्षावत् सारे शरीर में रस का सिंचन होने लगता है।

मूलाधार [४१]

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
शिवा(नवा)त्मानं मन्ये नवरस महाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुद(भ)य विधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्॥

अर्थः—तेरे मूलाधार में लास्यपरा अर्थात् नृत्य करती हुई समया देवी के साथ, नवधा रसपूर्ण ताण्डव नृत्य करने वाले नटेश्वर नवात्मा शिवजी का मैं चिन्तन करता हूं। यह

जगत् इन दोनों को जनक-जननीवत् दया से प्रभवाभिमुख होने के कारण अपने को सनाथ मानता है।

समया देवी से समयाचार की उपास्य देवी निर्दिष्ट है, लास्य भगवती के नृत्य का नाम है और ताण्डव शंकर के नृत्य का नाम है। नवरसयुक्त ताण्डव नृत्य को महाताण्डव कहते हैं। नौ रस ये हैं:—१. शृंगार, २. वीभत्स, ३. रौद्र, ४. अद्-भुत, ५. भयानक, ६. वीर, ७. हास्य, ८. करुणा, ९. शान्त। ये नौ रस साहित्य, कविता, नृत्य और गान-विद्या के अंग हैं। नवात्मा शिवजी को कहते हैं, जिसकी व्याख्या पहिले श्लोक ३४ में दी जा चुकी है।

आधार चक्र में प्राण का निरोध होने पर योगी नृत्य करने लगता है, योगशिखोपनिषद् में कहा है—

'आधारवातरोधेन शरीरं कम्पते यदा,
आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा ॥ ६, २८
आधारवातरोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते।
सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः
आधारे सर्ववेदाश्चतस्मादाधारमाश्रयेत् ॥' ६, २९

अर्थः—आधार चक्र में जब प्राणशक्ति का निरोध होता है तब शरीर कांपने लगता है, योगी नृत्य करने लगता है और वहीं सारा विश्व दीखने लगता है। आधार चक्र में, जो सृष्टि का आधार है, सब देवता, सब वेद रहते हैं, इस-लिये आधार चक्र का आश्रय लेना चाहिये।

समया देवी का नाम मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के ध्यान में मिलता है, अन्य चक्रों के ध्यान में नहीं। इससे यह प्रतीत होता है कि शंकर भगवत्पाद ने इन दोनों चक्रों में विशेष रूप से समयाचार की ओर लक्ष्य कराया है, क्योंकि उनका ध्यान कौल मत वालों को ही अभीष्ट है। समयाचार वालों को ऊपर के चक्रों पर विशेष ध्यान देना चाहिये, मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों पर नहीं। इसका कारण हम अन्यत्र भी कह आये हैं (देखें श्लोक ९)। स्वाधिष्ठान चक्र के वेध से वीर्यपात इत्यादि की क्रियायें होने की सम्भावना है और इन क्रियाओं से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के साधकों का पतन होने की आशंका है, इसलिये वेध-क्रम को भी इसी प्रकार बताया गया है कि स्वाधिष्ठान चक्र को नहीं छेड़ा जाता।

यह स्मरण रहे कि ऊपर के अनाहत अथवा आज्ञा चक्र का पूर्ण वेध होने पर नीचे के चक्रों का भी वेध स्वयं हो जाता है। इसलिये कामवासना की दीप्ति से रक्षा करने के लिये अनाहत और आज्ञा चक्रों का अथवा नादानुसन्धान का आश्रय लेना श्रेयस्कर है। हृदय चक्र में दहर विद्या, आज्ञा चक्र में शांभवी विद्या और नाद-श्रवण तीनों के साधन शुद्ध और ऊंचे हैं। एक शांभवी मुद्रा के साधन से ही ऊर्ध्वरेतस् की सिद्धि हो जाती है। फिर बज्रोली क्रिया की झंझट वृथा मोल लेकर पथभ्रष्ट होने की संभावना का क्यों आवाहन किया जाय?

पृथिवी तत्त्व की ६४ किरणें आधी-आधी ताण्डवनटेश्वर और लास्यपरा समया देवी से उद्भूत समझनी चाहियें।

शिव-ताण्डव

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥'—यजुर्वेद

वेद कहते हैं कि सत्य का मुख सुवर्ण के पात्र से ढका हुआ है, मानों सत्य की देवी ने सुनहरी घूंघट से अपना सुन्दर वदन छिपा लिया है अथवा उसकी सुनहरी अलकें ही मुख पर आ पड़ी हैं जो घूंघट का काम कर रही हैं। यदि कहें कि सूर्य अपनी ही किरणों में स्वयं छिप गया है तो अधिक ठीक है। यह उपमा आत्मदेव के लिए दी गई है। अध्यात्म-सूर्य, जो सत्य है, अपनी माया के सुनहरी परदे में स्वयं अन्तर्हित हो रहा है।

कोई-कोई दार्शनिक विद्वान् माया की अन्धकार से तुलना करते हैं, परन्तु माया का अर्थ सुवर्णमय विस्तार भी तो किया जाता है। क्या यह दूसरा अर्थ सुन्दर नहीं है? सुवर्ण में तो एक कांति चमकती है, अन्धकार में कांति कहां? इसलिये हम तो यही समझते हैं कि माया का परदा अथवा घूंघट हिरण्यमय ही ठीक बखाना गया है जिसके आकर्षण में पड़कर जीव अनादिकाल से मर-मर कर भी उसका पीछा नहीं छोड़ रहा। आधुनिक युग का भौतिक विज्ञान तो

इस सुनहरी घूंघट के सौंदर्य से संतुष्ट ही नहीं होता, उसने उस पर हजारों रहस्यमय सितारे लगा दिये हैं, मानों प्रकृति के विद्युत् कण (electrons) अनन्त संख्या में चमक रहे हैं। यद्यपि भौतिक विज्ञानियों की दृष्टि परदे के पीछे छिपे हुए सत्य के मौलिक सौन्दर्य तक नहीं जाती, तो भी वह अपने मनोरंजन में व्यस्त हैं। इसमें किसी का क्या दोष है ?

हिरण्यमय घूंघट की शोभा ही इतना आकर्षण रखती है कि उसे स्वयं आत्मदेव ने ही ओढ़ लिया है,—अपना मुख छिपाने की दृष्टि से नहीं, परन्तु इसमें उसका मुख्य उद्देश्य अपने सौंदर्य का विकास करने का ही जान पड़ता है। शायद शून्यवादी इस रहस्य से परिचित नहीं हैं। उनका तो विश्वास यह जान पड़ता है कि घूंघट के पीछे कोई तत्त्व नहीं है, केवल शून्य पर ही परदा पड़ा हुआ है। वास्तव में जांच तो उनकी किसी हद तक ठीक-सी ही जान पड़ती है, परन्तु क्या शून्य का ही नाम सत्य है ? वेद मिथ्या क्यों बहकाने लगे ? इसी धारणा से शायद बुड्ढे भारत के कतिपय पागल जिज्ञासु उस शून्य में ही मौलिक सत्य की खोज के लिये कटिबद्ध रहते हैं।

जिसका घूंघट भी, जो उसी की किरणों की प्रभा की जाली से बना हुआ है, इतना सुन्दर है तो उस सत्य के मुख की शोभा कितनी ऊँची होनी चाहिये ? पाठकगण ! यह अनु-मान का विषय नहीं है, परन्तु कोई-कोई सत्य के अन्वेषक

साक्षी देते हैं कि वह अवश्य दर्शनीय है। इसलिये इन भौतिकवादियों की बातों में आकर उसे शून्य मत समझो। वह शून्य नहीं है, वरन् पूर्ण है, सुन्दर है, स्वयं ज्योतिस्वरूप है, सत्य है, अनन्त ज्ञान-निधि है और आनन्द का खजाना है। वह परदे में है, दीखता नहीं, तो यह नहीं समझना चाहिये कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। ठीक बात तो यही है कि सूर्य अपनी किरणों में छिपा होने के कारण दिखाई नहीं दे रहा। बस, यह बात बीसों बिस्वे सत्य समझो!

उक्त हिरण्यमय परदे को ही गायत्री मंत्र 'भर्गो देवस्य' कहकर ध्यान करने का उपदेश करता है। तेज के ध्यान द्वारा तेजस्वी का ध्यान होता है और शक्ति का ध्यान करने से शक्तिमान् का ध्यान होता है। यहां पर तो सत्य ब्रह्म का भर्गस् (तेज) और उसकी शक्ति एक ही जान पड़ती है। सारा जगत्—पिण्ड और ब्रह्माण्ड—उसी की परिणति मात्र है। शक्तिमान् अपनी शक्ति के रूप में व्यक्त होता है और शक्ति की द्युति उसी की ज्योति का प्रकाश है अर्थात् शक्ति में वह स्वयं चमकता है अथवा यों कहें कि शक्ति स्वयं शक्तिमान् का तेजोमय प्रसार है जिसकी अभिव्यक्ति किसी स्तर पर चेतनवत् दीखती है और किसी स्तर पर जड़वत्।

जड़-चेतन की विभाग-रेखा शक्ति और तेज दोनों की भिन्नता का मिथ्या ज्ञान है और यदि दोनों को भिन्न मानें तो दोनों का इतरेतर अध्यासरूपी एक का दूसरे के धर्मों को

अपने ऊपर अध्यारोपण कर लेना भी मिथ्या ज्ञान है क्योंकि शक्ति में परिणामी धर्म स्पष्ट है, परन्तु तेज का चेतनस्वरूप धर्म अपरिणामी है। जड़ शरीर में चेतन के धर्मों का अध्यारोपण होने से चेतना भी परिणामिनी-सी दीख पड़ती है, यद्यपि वह मौलिक रूप से अपरिणामी है, केवल उसकी जड़ शरीर पर पड़ने वाली छाया परिणामीवत् प्रतीत होती है।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के मुख को ढकने वाला हिरण्यमय पात्र तेजोमय भ्राजमान है। उस तेज में शक्ति है और शक्ति में तेज है। तेज से शक्ति में कांति है और उसकी तेजोमई प्रभा आदि मूलशक्ति की प्रत्येक स्तर की परिणति में चमक रही है। विद्युत्-अणु में वह विद्युत् है और प्रत्येक विद्युत-कण उसके तेज से परिपूर्ण है। अग्नि, सूर्य सब में शक्ति है और शक्ति कहीं भी तेज से रहित नहीं है। शक्ति रजोगुण और तमोगुण की विरोधी, सापेक्षिक सक्रिय और क्रियारहित परिणामों युक्त अनेक रूपों का स्वांग भरकर सर्वत्र नृत्य कर रही है और तेज भी, युगपद अपरिणामी होते हुए भी, उसके नृत्य के साथ ताण्डव करता रहता है। यही शिव-शक्ति का अनादि जोड़ा है।

यह समस्त जड़-चेतनमय विश्व शंकर भगवान् के अविराम ताण्डव नृत्य का अभिनय है और उनके ताण्डव के अंगहार अथवा अंगविक्षेप ही मानों सत् शक्ति के परिणामक्रम के विभिन्न स्तरों पर उसकी स्वांगभरी नृत्य-कलाएं हैं,

जिनके शृंगार के नवधा-रस परिपूर्ण हाव-भावों में शंकर के चिदानन्दस्वरूप का प्रत्याभास हो रहा है। इस नृत्य को आनन्द ब्रह्म के उन्मेष से प्रेरणा मिलती है और प्रलयकालीन विराम भी नृत्य के परिश्रम के अनन्तर विश्रामरूपी आनन्द का आभोगरूपी निमेष है। शिवजी के इस आनन्दोन्मेषरूपी ताण्डव को वेदों ने संवर्तन और शंकर भगवत्पाद ने विवर्तन कहा है। दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए-से दीखते हैं।

ताण्डव नृत्य को तालबद्ध करने के लिये उन दिगम्बर एवं चिदम्बर शिवजी के पास डमरू के अतिरिक्त कोई दूसरा वाद्य यन्त्र नहीं! डमरू में दो विपरीत दिशाओं से शिव-शक्त्यात्मक दोनों ही प्रकार के शब्द ताल दिया करते हैं जिनसे सरस्वती देवी अ-क-च-ट-त-प-य-श के वर्ण-वर्गों की वर्णमाला की शिक्षा ग्रहण करके समस्त वैखरी वाणी की सृष्टि करती हैं, मानों शिवजी के डमरू की सहायता से ही वह वाक्शक्ति बोलना सीखती है और उसका अभ्यास अपनी वीणातन्त्री पर किया करती है। अर्थात् ताण्डव की तालों से निकलने वाली शिव-शक्त्यात्मक ध्वनि ही शंकर का डमरू वाद्य है जिसको उनके चिदाकाशरूपी देह की स्पन्द-ध्वनि का वाचिक-व्यंजक अभिनय कह सकते हैं।

शिव-ताण्डव का साक्षात् प्रत्यक्षीकरण तारों की टिम-टिमाहटरूपी डिमडिम में, ग्रहों के नृत्य में, सूर्य के नेत्रोल्लास में, पृथ्वी की षडऋतुओं के शृंगारयुक्त नाट्य में, चन्द्रमा की

कलाओं में, विद्युत् की क्रीड़ा में, वसंत की मंद-सुगंधित वायु के झोकों में, पुष्पों के हास्य में, समुद्र की तरंगों में, हिमपात के हिमकणों के नर्तन में, आंधी-तूफानों की द्रुतगति में, नदियों के कल-कल निनाद में, पर्वतों के शृंगार में, शस्य-श्यामला भूतल के आंचल की हिलोरों में, पशु-पक्षियों की अठखेलियों में, मनुष्य की मस्तीभरी चालों में और अन्यत्र सर्वत्र किया जा सकता है!

यह सब विराट् विश्व सृष्टि-प्रसार का निम्नतम स्तर रूपी मूलाधार है जिसमें भगवती के इस लास्य नृत्य और शंकर के ताण्डव को युगपद देखने वाले उपासक जीवन-मुक्ति का आनन्द लेते हैं। जो मूढ़ अपने तुच्छ स्वार्थों के अन्धकार-वश इसका साक्षात्कार नहीं कर पाते और मिथ्या अज्ञानवश शोक-मोह के कूपों में पड़े रोते हैं, वे वास्तव में दया के पात्र हैं।



आनन्द लहरी एवं सौन्दर्य लहरी



जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, अतः उसकी शक्ति भी सच्चिदानन्द स्वरूप ही होनी चाहिये। शक्ति का ज्ञान उसके कार्यों द्वारा ही होता है जिसे उसकी व्यक्त दशा भी कह सकते हैं। अव्यक्त दशा में शक्ति सुप्तवत् अपने अधिष्ठान अथवा शक्तिमान् में सतत् निवास करती हुई भी प्रतीति के परे रहती है। ब्रह्म स्वयं तो निष्कल, निरंजन, निष्क्रिय है, परन्तु उसकी शक्ति अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड का सर्जन, संरक्षण एवं संचालन करती है। निष्क्रिय ब्रह्म की शक्ति का शक्तिमान् से विपरीतधर्मा यह परम-चरम-सक्रियत्व ही द्वैतवात का जन्मदाता है।

अव्यक्त दशा से व्यक्तोन्मुख होने पर शक्ति के क्रमशः अनेकों स्तर तथा परिणाम होते हैं जो भ्रम से उसके अधिष्ठान् में प्रत्याभासित होते हैं। शक्ति की क्रियाशीलता के साथ ही साथ भ्रम भी घनीभूत होता जाता है। अधिष्ठान् ब्रह्म में प्रत्याभासित शक्ति के ये विभिन्न स्तर एवं तज्जन्य भ्रम ही त्रैतवाद एवं अनेक देवत्ववाद के मूल हैं।

शक्तिमान् से रहित शक्ति पतिरहिता पत्निवत् अकल्पनीय है। शक्ति का निरूपण शक्तिमान् से भिन्न अथवा अभिन्न किसी भी रूप में युक्तियुक्त किया जाना संभव नहीं है, अतः इसे अनिर्वचनीय ही स्वीकार करना पड़ता है। यों तो ब्रह्म

भी अनिर्वचनीय ही है तथापि उसका निर्देश सच्चिदानन्दादि शब्दों से किया जाता है और उसकी शक्ति भी सच्चिन्मयी ही निर्दिष्ट है। प्राणी मात्र के अन्दर आनन्द की लहरियों के रूप में उस शक्ति की अनुभूति होती है और शक्ति की यह अनुभूति शक्तिमान् के साक्षात्कार का सुनिश्चित् सोपान है।

ग्रन्थ का पूर्वार्ध 'आनन्दलहरी' इसी लक्ष्य से ओतप्रोत है। आनन्द की लहरियाँ स्वयं साध्य नहीं हैं, वरन् ऐसे आनन्द-स्रोत की समुपलब्धि का साधन मात्र हैं जिसे निरानन्द भी कहा जा सकता है,—अर्थात् एक ऐसा आनन्द जिसमें अनेकों आनन्द-सिन्धु समाकर भी कोई हलचल पैदा न करते हुए स्वयं अननुभूत ही रह जाते हैं।

समस्त दृष्टिगोचर विश्व में वही शक्ति सौन्दर्य रूप से यत्र-तत्र-सर्वत्र विराजमान् है अथवा कहिये कि जहाँ कहीं भी सौन्दर्य की अनुभूति होती है, वह सब उस शक्ति की ही अनुभूति है। ग्रन्थ के इस अग्रिम उत्तरार्ध सौन्दर्य लहरी में विश्व को शक्ति का ही विराट् रूप मानकर उसके सौन्दर्य की श्लाघा की गई है ताकि उस परम सौन्दर्याधिष्ठान का साक्षात् किया जा सके जिसमें समस्त सौन्दर्य निर्विकल्प भावेन समा जाते हैं।



सौन्दर्य लहरी

[उत्तरार्ध]

सौन्दर्यलहरी (उत्तरार्ध)

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः ।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताःस्म ताम् ॥

सौन्दर्यलहरी को दो भागों में विभक्त किया जाता है। प्रथम भाग जिसमें ४१ श्लोक हैं, आनन्दलहरी के नाम से विख्यात है। यह नाम श्लोक ८ में स्पष्ट रूप से मिलता है और २१वें श्लोक में भी परमाह्लादलहरी पद का प्रयोग तदर्थवाचक है। इस भाग में शंकर भगवत्पाद ने पिंडस्थ शक्ति और तत्संबंधी श्रीचक्र, श्रीविद्या, षट्चक्रवेध और उनका मातृकाओं के द्वारा परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणी से तथा सब के पारस्परिक संबंधों पर प्रकाश डाला है जिसका उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा अद्वैत सिद्धान्त के जीव-ब्रह्मैक्यज्ञान की अपरोक्षानुभूति कराना मात्र है। यह पूर्वभाग पूरे ग्रंथ की आत्मा कही जा सकती है, क्योंकि सृष्टि के जड़-चेतन अनन्त प्रसार में मनुष्य-देह ही पूर्ण समझा जाता है।

यद्यपि चेतन सत्ता जड़ प्रकृति का कार्य प्रतीत होती है और भ्रान्ति में पड़कर अनेक भौतिकवादी अनात्मवाद का समर्थन करने लगते हैं, परन्तु चेतना को प्रकृति का अन्तिम विकासस्तर कहकर चेतनकारणवाद को स्वयंसिद्ध करने में

बिना समझे सहायक बनते हैं। ब्रह्माण्ड में जो चेतन सत्ता अपरोक्ष में निहित है, वह पिंड में प्रत्यक्ष प्रकाशमान है। सूर्य, चन्द्र, तारागण के अनन्त विश्व में भौतिकवादियों को जड़ प्रकृति का ही विस्तार दिखाई देता है, जिसके सामने आकीट-पतंग, पशु, पक्षी एवं मनुष्य में चमकने वाली चेतना के ये सब विकास-स्थान अति क्षुद्र और अणु समान हैं, तो भी समस्त चेतन जगत् का शिरोमणि मनुष्य प्रकृति को स्वायत्त करने में कृतकार्य होकर चेतन सत्ता की महिमा को सिद्ध करता है।

जो चेतन सत्ता प्राणिमात्र में अर्धविकसित दीख पड़ती है, मनुष्यदेह में उसका विकास इतना अधिक है कि उसे पूर्णविकास कहने में संकोच नहीं होता। परन्तु भारत के ऋषि-महर्षियों ने यह दावा किया है कि मनुष्यदेह में जो चेतन प्रकाश है, वह भी प्रसुप्तवत् अंशविकास ही है जिसकी चरम और परम सीमा ब्रह्मभाव के जाग्रत होने पर मिलती है। वह सृष्टि की आदिकारणभूता चिति शक्ति की ही सत्ता है जो एक अंश में समस्त चेतन जगत् में विद्यमान है।

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ॥'—गीता

प्रत्येक मनुष्य-देह प्रकृति देवी के विकास का वह पुष्प है जिसके द्वारा, पूर्णतया विकसित होने पर, वह आदि शक्ति अपनी संपूर्ण अनन्त महिमा की अभिव्यक्तिस्वरूप किरणों को सुगन्धवत् फैलाने लगती है, तथापि उसके परोक्ष

अस्तित्व का परिचय ब्रह्मांड का अणु-अणु दे रहा है। पिंड और ब्रह्मांड दोनों में उसी की व्यक्तता है, परन्तु एक में चेतन रूप में और दूसरे में जड़ के रूप में है। पूर्व भाग में चिति शक्ति का कीर्तिगान कर के साधक-गणों के ध्यानार्थ ब्रह्मांडरूपी विराट् देह में निवास करने वाली उसी अधिदेवी के सौन्दर्य का निरूपण सौन्दर्यलहरी संज्ञक उत्तरविभाग के ६२ श्लोकों में किया गया है, जैसा कि ४४वें श्लोक में भगवत्पाद स्वयं कहते हैं:—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्य लहरी।'

सौन्दर्यलहरी के उत्तरार्ध में विश्व को भगवती का विराट् देह मानकर प्रकृति देवी के दिव्य देह का चित्र खींचा गया है जो छन्द शास्त्रोक्त आभूषणों से अलंकृत, सर्वभावपूर्ण, नवरसों में पगी अनादि, अनन्त, महामाया, महादेवी आदि शक्ति की झांकी दिखाने वाली, वास्तव में सौन्दर्यलहरी ही है। इसको पढ़कर अनात्मवादी भी पुराण कवि भगवान् शंकर के अवतार भगवत्पाद की इस वैखरी-झरी के रसों का आस्वादन कर के, अपनी अनात्मा देह में स्थित अधिष्ठातृ चेतना देवी की अनन्त महिमा की किंचित् झांकी पाकर आत्म-विश्वासी बन सकता है। हम उसको उसके अनात्म-विश्वासी होने पर दोषी नहीं ठहराते, क्योंकि जिस प्रकार हम जड़ प्रकृति को भी ब्राह्मी चिति शक्ति की एक अभि-व्यक्ति कहते हैं, उसी प्रकार अनात्मवादी भी तो उसी का

जड़-चेतनमय एक अर्ध विकसित स्तर है जो समय पाकर अपनी अध्यात्म-विकास-यात्रा के किसी विराम-स्थल पर आत्मवादी हो जायेगा।

श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने भगवती उमा के सौन्दर्य का आनखशिख चित्र, एक भक्त के दृष्टिकोण से, उपासकों के ध्यान के लाभार्थ खींचा है। १ श्लोक में किरीट, ३ श्लोकों में केश, १ में ललाट, १ में भ्रू, ६ श्लोकों में नेत्र, २ में दृष्टि, १ में कपोल, १ में कर्ण, १ में नासिका, १ में दन्त, १ में मुस्कराहट, १ में मुख के तांबूल, १ में वाणी, १ में चिबुक, २ में ग्रीवा और कंठ, १ में चार हाथ, १ में नखों की द्युति, ४ श्लोकों में स्तन-पान द्वारा वात्सल्य स्नेह, ३ श्लोकों में नाभि, २ में कटि, १ में नितम्ब, १ में जानु, १ में पैर, ८ श्लोकों में चरण, १ में शरीर की आभा और शेष श्लोकों में प्रार्थनायुक्त सामान्य रूप से सर्वांग सौन्दर्य का चित्र खींचा गया है। अनुमान होता है कि कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की प्रातःकालीन ऊषा के रूप में विराट् देवी का ध्यान कराया गया है।

पंडित स० सुब्रह्मण्य शास्त्री और टी० आर० श्रीनिवास आयंगर के अंग्रेजी में लिखित सौन्दर्यलहरी के प्रत्येक श्लोक के साथ एक-एक यंत्र दिया गया है जिसके पूजन और उससे संबंधित श्लोक के जप सहित अनुष्ठान करने से अनेक कामनाओं की सिद्धी होती है।

हमने सकाम अनुष्ठानों की ओर ध्यान न देकर केवल एक

निष्काम उपासक अथवा एक योगी की दृष्टि से यह ग्रन्थ लिखा है, क्योंकि जिस भगवती के स्तोत्र के एक-एक श्लोक के अनुष्ठान द्वारा जन्म-मरण की कारणभूत शृंखलाबद्ध कामनाओं की पूर्ति होती है, उसी स्तोत्र के सामूहिक अनुष्ठान का फल अनन्त आप्तकाम पद का देने वाला क्यों न होगा ?

मुकुट का ध्यान [४२]

गतैर्माणिक्यत्वं गगनमणिभिः सान्द्रघटितं
किरीटं ते हैमं हिमगिरिसुते कीर्तयति यः ।
स नीडेयच्छायाच्छुरणशबलं चन्द्रशकलं
धनुः शौनासीरं किमिति न निबध्नाति धिषणाम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—सान्द्रघटितं=घनीभूत पास-पास जड़े हुए। नीडे=घोंसले में। छायाच्छुरण=मणियों की द्युति की चमक। शकल=टुकड़ा। शौनासीरं=इन्द्र का। धिषणा=समझ, धारणा।

अर्थः—हे हिमाचल की पुत्री ! जो मनुष्य तेरे सुवर्ण के बने हुए किरीट का वर्णन करे तो उसकी धारणा ऐसी क्यों न होगी कि मानों इन्द्रधनुष निकला हुआ है, क्योंकि वह किरीट गगनमणियों अर्थात् तारागण रूपी मणियों से घनीभूत जड़ा हुआ और चन्द्रमा के टुकड़े के बने पक्षी के घोंसले के सदृश जान पड़ता है और जो उषःकालीन प्रकाश में रंग-बिरंगा चमक रहा है।

अर्थात् उषःकालीन आकाश प्रकृतिदेवी का किरीट है। यहां कृष्णा चतुर्दशी और अमावस्या की संधि में पड़ने वाले उषःकाल का चित्र खींचा गया है। कृष्णा चतुर्दशी भगवती की उपासना के लिये उपयुक्त तिथि समझी जाती है अर्थात् वह भगवती का ही रूप है और विशेषतया कार्तिक की कृष्णा चतुर्दशी ली जाय तो और भी अच्छा है, जिसको रूप चतुर्दशी भी कहते हैं और जिसके तुरन्त पश्चात् महालक्ष्मी-पूजन का दीपावली पर्व होता है।

केशों का ध्यान [४३]

धनोतु ध्वान्तं नस्तुलितदलितेन्दीवरवनं
घनस्निग्धं श्लक्ष्णं चिकुरनिकुरुम्बं तव शिवे।
यदीयं सौरभ्यं सहजमुपलब्धुं सुमनसो
वसन्त्यस्मिन्मन्ये बलमथनवाटीविटपिनाम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—ध्वान्त=अन्धकार। इन्दीवर=नीलकमल। श्लक्ष्ण=मुलायम। निकुरुम्ब=समूह। चिकुर=केश। सौरभ्यं=सुगन्ध बलमथन=बलासुर को मारने वाला इन्द्र।

अर्थः—हे शिवे! तेरे गहरे चिकने मुलायम केशों का समूह, जो खिले हुए इन्दीवर के वन की तुलना करता है, हमारे अज्ञानान्धकार को हटावे, जिसमें गुंथे हुए इन्द्र की वाटिका के वृक्षों के पुष्प, मेरी समझ में, उसकी सुगन्धि से स्वयं सहज ही सुगन्धित होने के लिये वहां आ बसे हैं।

प्रातःकालीन विकसित इन्दीवर वनों की शोभा और उषःकाल का प्रकाश दोनों मिलकर जैसे रात्रि के अन्धकार को भगाते हुए से प्रतीत होते हैं, वैसे ही भगवती के केशों का ध्यान अज्ञान को दूर करने वाला है। भगवती के केश स्वयं सुगन्धित हैं, इन्द्र की वाटिका के पुष्पों को भी मानों वे ही सुगन्ध प्रदान कर रहे हैं अर्थात् पुष्पों में जो सुगन्ध होती है, वह प्रकृति देवी की ही देन है। प्रायः केशभूषार्थ स्त्रियां अपने केशों में पुष्प गूंथा करती हैं। यह रिवाज मद्रास प्रान्त में अधिक प्रचलित है। भाव यह है कि साधारण स्त्रियों के केश धारण किये हुए पुष्पों से सुगन्धित होते हैं, परन्तु भगवती के केशों की सुगन्ध से पुष्प स्वयं सुवासित होते हैं।

[४४]

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-

द्विषां वृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्क किरणम्।

तनोतुक्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी

परिवाहः स्रोतः सरणिरिव सीमान्तसरणिः॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—कबरी=केश। सरणि=मार्ग, सड़क, रेखा, लाइन। वदन=मुख। सीमान्तसरणि=जिस रेखा पर सीमा का अन्त होता है, सिर पर केशों की मांग।

अर्थ—तेरे मुख की सौन्दर्यलहरी के प्रवाहस्रोत के

मार्ग के सदृश सिन्दूर से भरी तेरे केशों की मांग हमारे क्षेम (कल्याण) का प्रसार करे, जो कि केशों के भारमय अन्धकार रूपी प्रबल दुश्मनों के वृन्दों से बन्दी की हुई उदय होने वाले नवीन सूर्य की अरुण किरण के सदृश है।

जैसे स्त्रियां मांग में सिंदूर भरती हैं उसी प्रकार मानों देवी के मुखकमल की अरुणिमा केशों की मांग में सिंदूर-सी चमकती हुई मूर्धा पर बह रही है। मानों उदयकालीन सूर्य की लाल किरणें रात्रि के अन्धकार को चीरना चाहती हैं, परन्तु अन्धकार रूपी दुश्मनों ने उसको कैद कर लिया है।

स्रोत का प्रवाह ऊपर से निम्न तल पर हुआ करता है, परन्तु भगवती की शोभा की कान्ति ऊर्ध्वगामिनी है। उसे योगियों में ज्ञान के सूर्य के उदय होने से पूर्व प्रकट होने वाले प्रातिभ ज्ञान के सदृश समझना चाहिये।

अलकों का ध्यान [४५]

अरालैः स्वाभाव्यादलिकलभसश्रीभिरलकैः
परीतं ते वक्त्रं परिहसति पंकेरुह रुचिम्।
दरस्मेरे यस्मिन्दशनरुचि किंजल्करुचिरे
सुगन्धौ माद्यन्ति स्मरदहनचक्षुर्मधुलिहः॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—अराल=घुंघराले। कलभ=बच्चा। स्मेर=मुस्कराहट। दर=किंचित्, थोड़ी। किंजल्क=स्फटिक। मधुलिह=भौंरा। अलक=जुल्फ।

अर्थ:—स्वाभाविक घुंघराली, जवान भौंरों की कांतियुक्त अलकावलि से घिरा हुआ तेरा मुख, कमलों की शोभा का परिहास करता है—जिसमें स्फटिक सदृश शोभा वाले दन्तों से किंचित् मुस्कराते समय निकलने वाली सुगंध पर काम के दहन करने वाले शिवजी के नेत्र रूपी भौंरे मस्त हो जाते हैं ।

मानों शिवजी भी, जिन पर काम का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं, प्रकृति के सौंदर्य से मुग्ध हो रहे हैं अर्थात् वह निर्गुण ब्रह्म प्रकृति के गुणों का भोक्ता भी है—

'असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।'—गीता १३,१४

ललाट का ध्यान [४६]

ललाट लावण्यद्युतिविमलमाभाति तव यद्
द्वितीयं तन्मन्ये मुकुट घटितं चन्द्रशकलम् ।
विपर्यासन्यासादुभयमपि संभूय च मिथः
सुधालेपस्यूतिः परिणमति राकाहिमकरः ।।

क्लिष्ट शब्दार्थ:—मिथ=अकेला। स्यूतिः=सीवन, जोड़। विपर्यन्यास=एक दूसरे से उलट ।

अर्थ:—लावण्य कांति से युक्त विमल चमकने वाला जो तेरा ललाट है, उसे मैं मुकुट में जड़ी हुई चन्द्रमा की दूसरी कला समझता हूँ, जो एक-दूसरे पर उलट कर रखी

होने के कारण दोनों का एक रूप बनकर और अमृत के लेप से जुड़कर पूर्ण चन्द्रमा ‹.न गया है।

चन्द्रमा से अमृत का स्राव होता ही है, उससे मानों दोनों कलाएं जुड़कर पूर्ण चन्द्रमा बन गया है। दोनों कलाओं की दोनों नोंक एक-दूसरे से मिलकर जुड़ गई हैं और बीच का अवकाश अमृत से लिपकर पूर्णिमा के चन्द्रवत् चमकने लगा है।

भृकुटि का ध्यान

[४७]

भ्रुवौ भुग्ने किंचिद् भुवनभयभङ्गव्यसनिनि
त्वदीये नेत्राभ्यां मधुकररुचिभ्यां धृतगुणम् ।
धनुर्मन्ये सव्येतरकरगृहीतं रतिपतेः
प्रकोष्टे मुष्टौ च स्थगयति निगूढान्तरमुमे ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—भुग्न=त्यौरी । रतिपति = कामदेव । प्रकोष्ट=मुट्ठी का ऊपरी भाग, कलाई, पोंहचा।

अर्थः—हे भुवन के भय का नाश करने में आनन्द लेने वाली उमे! भ्रु वों की त्यौरी चढ़ने पर मैं उसकी बायें हाथ में लिये हुये कामदेव के धनष से उपमा देता हूँ, जिसकी प्रत्यंचा भौंरों को कांति वाले तेरे दोनों नेत्रों की बनी है और जिसका मध्य भाग मुट्ठी और कलाई के नीचे छिपा हुआ है।

भाव यह है कि भगवती जगत् के भय का नाश करने के लिये सदा उद्यत रहती है और कामदेव का धनुष इस कार्य के लिये वह सदा चढ़ाये रखती है तथा वह धनुष उसकी त्यौरी चढ़ी हुई भौंएं ही हैं। कामदेव के धनुष की प्रत्यंचा भौंरों की कही जाती है, इसलिये भौंरों की उपमा रखने वाले दोनों नेत्रों को धनुष की प्रत्यंचा समझना चाहिये, अर्थात् भगवती की त्यौरी चढ़ते ही संसार के सब भय भाग जाते हैं और भृकुटी का मध्यभाग मानों धनुष को चढ़ाते समय बांये हाथ की मुट्ठी में दबा हुआ-सा है। संसार का सबसे बड़ा शत्रु काम है, इसलिये उसका धनुष मानों भगवती ने स्वयं छीन लिया है।

'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विध्येनमिह वैरिणम् ॥' –गी० ३, ३७

काम से क्रोध उत्पन्न होता है—('कामात्क्रोधोऽभिजायते'-गी० २, ६२)। इसलिये क्रोध भी काम का ही रूपान्तर है जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। भगवान् कहते हैं कि यह बड़ा पेटू है, बहुत भोजन करने वाला है अर्थात् कभी तृप्त नहीं होता और बड़ा पापी है अर्थात् सब पापों का घर है। इसलिये इसे यहां संसार का बैरी समझना चाहिये।

उपरोक्त श्लोक का भाव है कि भगवती की त्यौरी का ध्यान करने से कामवासना शांत हो जाती है और सब भय दूर हो जाते हैं।

तीन नेत्रों का ध्यान [४८]

अहः सूते सव्यं तव नयनमर्कात्मकतया
त्रियामां वामं ते सृजति रजनीनायकतया।
तृतीया ते दृष्टिर्दरदलितहेमाम्बुजरुचिः
समाधत्ते संध्यां दिवसनिशयोरन्तरचरीम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—त्रियामा=रात्रि। रजनीनायक=चन्द्रमा।

अर्थः—तेरा दक्षिण नेत्र सूर्यात्मक होने से दिन बनाता है और बायां चन्द्रात्मक होने से रात्रि की सृष्टि करता है तथा किंचित् विकसित सुवर्ण के बने हुए कमल की शोभा से युक्त तेरी तीसरी दृष्टि दिन और रात दोनों के बीच में रहने वाली सन्ध्या है।

दिन-रात्रि की सन्धि प्रातः और सायंकाल दोनों समय होती है, इसलिये तीसरी दृष्टि दोनों के सदृश हो सकती है, परन्तु दिवस शब्द का प्रयोग प्रथम और तत्पश्चात् निशि का प्रयोग होने से, सायं-सन्धि से ही यहां अभिप्राय है। सन्ध्या शब्द, जो सायं-सन्धि के लिये ही प्रयुक्त होता है, इस आशय की पुष्टि करता है।

सामने से देखने वाले को भगवती का दक्षिण नेत्र प्रथम और वाम नेत्र पश्चात् दीख पड़ेगा जैसा कि पढ़ते समय वाम से दक्षिण की ओर लिपिक्रम होता है, अर्थात् पहिले दिवस,

पश्चात् रात्रि की क्रमगति और मध्य में सन्ध्या है। दिवस से जाग्रत्, रात्रि से सुषुप्ति और सन्ध्या से स्वप्नावस्था ग्रहण करनी चाहिये। भगवती की कृपादृष्टि से जाग्रत् में जगत् की अज्ञान स्वरूप प्रतीति होती है, रात्रि में सुषुप्ति का अज्ञानान्धकार रहता है, परन्तु वह भगवती के चन्द्रात्मक नेत्र के प्रकाश से ज्ञानमय समाधि की अवस्था में परिणत हो जाता है और सन्ध्या रूपी स्वप्नावस्था ज्ञान की वह भूमिका है जिसमें जगत् स्वप्नवत् दीखने लगता है। तीनों को ज्ञान की क्रमशः पांचवीं, छटी और सातवीं भूमिका समझना चाहिये। ब्रह्मसूत्र ३,२,१ में स्वप्न के लिये सन्ध्या पद का प्रयोग किया गया है। वहां शंकर भगवत्पाद अपने भाष्य में सन्ध्या की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं:—'संध्यामिति स्वप्नस्थानमाचष्टे वेदे प्रयोग दर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्न स्थानम्' (बृ० ४,३,६) द्वयोर्लोकस्थानयाः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्।'

अर्थः—सन्ध्या स्वप्नावस्था को कहते हैं। वेदों में ऐसा प्रयोग मिलता है। जैसे सन्ध्या तीसरा स्वप्त-स्थान है अथवा प्रबोध संप्रसाद के दोनों लोकस्थानों की संधी भी संध्या होती है। जगत् में प्रबोध अर्थात् ज्ञानदृष्टि और संप्रसाद (ब्रह्मलीनता स्वरूप समाधि) दोनों की मध्यवर्ती दशा सन्ध्या कहलाती है। प्रबोध से जाग्रत और संप्रसाद से सुषुप्ति का अभिप्राय है। परन्तु ज्ञानी और अज्ञानी के

दृष्टिकोण में इतनी भिन्नता रहती है कि ज्ञानी जाग्रत् में जगत् को ब्रह्म में स्थित देखता है जैसा कि भगवान् के इस वाक्य से प्रकट होता है—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति' इत्यादि।

गीता के एकादश अध्यायोक्त विराट् दर्शन में अर्जुन को इसी प्रकार की दिव्यदृष्टि होने का वर्णन है:—

'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ।।' १३

पांडव ने वहां सारे अनेकधा प्रविभक्त जगत् को एक स्थान पर ही देवाधिदेव के शरीर में देखा। अज्ञानी की दृष्टि इसके विपरीत जगत् को सत्यवत् देखती है और भगवान् की उसमें व्यापकता की कल्पना मात्र करती है। सुषुप्ति में ज्ञानी की स्थिति सात्त्विक सोमामृतमयी होने से आत्मस्थिति का अनुभव कराती है और ज्ञानी स्वप्नों के दृश्यों को भी आत्मा के स्वरूप की रश्मियोंवत् जानता है।

तीसरा नेत्र आग्नेय है और अग्नि का रंग लाल होता है। वह नेत्र लाल क्यों है? इसका कारण ५०वें श्लोक में बताया गया है। ४६वें श्लोक में उसी दृष्टि की विविध भावपूर्ण अवलोकन-शक्तियों का वर्णन है जिनका वर्णन करने में प्रत्येक शक्ति को कवि ने अपनी समकालीन प्रमुख नगरियों के नाम से नामांकित किया है, जिनके नाम ये हैं:—

१. विशाला (बद्रीनाथ), २. कल्याणी (मुँबई और नासिक का मध्यवर्ती एक रेलवे जंकशन), ३. अयोध्या, ४. धारा (आधुनिक धार), ५. मधुरा (आधुनिक मथुरा अथवा मदुरा), ६. भोगवतिका (अमरावती), ७. अवन्ती (आधुनिक उज्जैन), ८. विजया (आधुनिक विजयनगर)।

[४९]

विशाला कल्याणी स्फुटरुचिरयोध्या कुवलयैः
कृपाधारा धारा किमपि मधुरा भोगवतिका।
अवन्ती दृष्टिस्ते बहुनगरविस्तारविजया
ध्रुवं तत्तन्नामव्यवहरणयोग्या विजयते॥

क्लिष्ट शब्दार्थः – कुवलय=कमल। व्यवहरण=नाना अर्थों के सन्देह को हरण करने वाले।

अर्थः— तेरी दृष्टि विशाला, कल्याणी, खिले हुए कमलों की शोभा की उपमा से ऊँची अयोध्या, कृपा की धारा सदृश धारा, कुछ-कुछ मधुरा, भोगवतिका, सब की रक्षा करने वाली अवन्तिका और अनेक नगरों के विस्तार को जीतने वाली विजया है और निश्चय से इन प्रत्येक नगरियों के नाम से सम्बोधित नाना अर्थों के सन्देह को हरण करने के योग्य है अर्थात् प्रत्येक के नाम की भाव-सूचक है।

विशाला अर्थात् उदारता के कारण विशाला है। सबका कल्याण करती है, इसलिये कल्याणी है। कमलों की शोभा तेरे सामने हार मानती है, इसलिये अयोध्या है। मधुर होने के कारण मधुरा है। भोगों को देती है, इसलिये भोगवतिका है। सबकी रक्षा करती है, इसलिये अवन्तिका है और तेरे पराक्रम को कोई नहीं पा सकता, इसलिये विजया है। भगवती की दृष्टि उक्त आठ प्रकार के भावयुक्त है। पण्डित सुब्रह्मण्य शास्त्री और श्रीनिवास आयंगर की अंग्रेजी पुस्तक में इन दृष्टियों के स्वरूप इस प्रकार बताये गये हैं— अन्तर्विकसित दृष्टि विशाला कहलाती है, आश्चर्ययुक्त दृष्टि कल्याणी है, जिसमें पुतलियां फैल जावें वह अयोध्या, आलस्ययुक्त दृष्टि धारा, नेत्रों के किंचित् चक्कर खाने पर मधुरा, मैत्री के भावयुक्त भोगवती, निष्पाप दृष्टि जिसमें भोलापन टपकता हो वह अवन्ती और तिरछी निगाह विजया कहलाती है। इन दृष्टियों का प्रभाव क्रमशः उच्चाटन, आकर्षण, द्रवीकरण, संमोहन, वशीकरण, ताड़न, विद्रावण और मारण है।

उक्त आठों भाव अग्नि में पाये जाते हैं, इसलिये यह दृष्टि तीसरे नेत्र से विशेषेण संबंधित है।

[५०]

कवीनां संदर्भस्तवकमकरन्दैकरसिकं
कटाक्षव्याक्षेपभ्रमरकलभौ कर्णयुगलम् ।

अमुञ्चन्तौ दृष्ट्वा तव नवरसास्वादतरला-
वसूयासंसर्गादलिकनयनं किञ्चिदरुणम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—संदर्भ=कविता। अलिकनयनं=माथे का तीसरा नयन। अलिक=ललाट।

अर्थ:—कवियों के कविता रूपी स्तवक से उठने वाली सुगंध के रसिक कानों का साथ न छोड़ने वाले तेरे कटाक्ष विक्षेपयुक्त, तिरछी निगाह से देखने वाले, भ्रमरों के सदृश और कविताओं के ६ रसों का आस्वाद लेने को बेचैन दोनों चंचल नेत्रों को देखकर ईर्ष्या के संसर्ग से तेरा (तीसरा) मस्तक वाला नेत्र कुछ लाल रंग युक्त है।

भाव यह है कि दोनों कान कवियों की कविताओं के रसिक हैं और दोनों नेत्र भी उसके ६ रसों का स्वाद लेने को बेचैन हैं, इसलिये कानों का स्पर्श करने के लिये वहां तक फैले हुए हैं। और तीसरा नेत्र उनसे ईर्ष्या करता है; क्योंकि उसकी पहुंच कानों तक नहीं होती, इसलिये वह असूया से लाल हो गया है। नेत्रों का बड़ा होना सौन्दर्य का लक्षण है। कवि उनको कान तक फैला हुआ कहा करते हैं और साथ ही इस मिस से तीसरे नेत्र के रक्तवर्ण होने का कारण भी बताया गया है। [५१]

शिवे शृङ्गारार्द्रा तदितरजने कुत्सनपरा
सरोषा गंगायां गिरिशचरिते विस्मयवती।

हराहिभ्यो भीता सरसिरुह सौभाग्यजयिनी
सखीषु स्मेरा ते मयि जननि दृष्टिः सकरुणा ॥

अर्थः—शिव के प्रति तेरी दृष्टि शृंगारार्द्र है, इतर जनों के प्रति कुत्सित उपेक्षायुक्त, गंगा पर सरोष, शिवजी के चरित्रों पर विस्मय प्रकट करने वाली, शिवजी के सर्पों से भीत, कमलों की शोभा को पराजित करने वाली, सखियों के प्रति मुस्कान लिये हुए है, और, हे जननी! मेरे ऊपर तेरी करुणायुक्त दया दृष्टि है।

यहां यह बताया गया है कि भगवती की दृष्टि से ९ रसों का भाव टपकता है जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं:—शृङ्गार, बीभत्स (घृणा), रौद्र, अद्भुत (विस्मय), भयानक, वीर, हास्य, करुणा और शान्त। इस श्लोक में अन्तिम शान्त रस का नाम नहीं आया है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवती की स्वाभाविक दृष्टि शान्त रसपूर्ण है जो शान्ति कला का स्वभाव है, इसलिये स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं है अर्थात् भगवती की दृष्टि नवधा रसपूर्ण है। इस श्लोक का सम्बन्ध ४९वें श्लोक से है, परन्तु दोनों के भाव में भिन्नता है।

[५२]

गते कर्णाभ्यर्णं गरुत इव पक्ष्माणि दधती
पुरां भेत्तश्चित्तप्रशमरसविद्रावणफले।

इमे नेत्रे गोत्राधरपतिकुलोत्तंसकलिके
तवाकर्णाकृष्टस्मरशरविलासं कलयतः ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—फल=फल या बाण का अग्र भाग। गोत्र=पर्वत। गरुत=पर, पंख।

अर्थः—हे पर्वतराज के कुल की प्रमुख कली! ये तेरे बाणों के सदृश दोनों नेत्र कानों तक पहुचे हुए हैं, जो पंखों के स्थान पर पलकें धारण किये हुए हैं और पुरारि के चित्त की शान्ति को भंग करने वाले फल से युक्त हैं, कान तक ताने हुए वे कामदेव के बाणों का कार्य कर रहे हैं।

बाणों को गति देने के लिये पंख लगाये जाते हैं और चीरने का कार्य करने के लिये अग्रभाग में लोहे का फल होता है। यहां पलकें पंखवत् हैं और कटाक्ष का फल शंकर के शांत चित्त को भंग करने वाला फल है। यहां फल शब्द उभयार्थ प्रयुक्त है। धनुष चढ़ाने पर बाण को कान तक ताना जाता है. इस प्रकार दोनों नेत्रों की पूर्ण उपमा कामदेव के बाणों से दी गई है। कामदेव के बाणों का प्रहार मनुष्यों के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है. इसी प्रकार देवी का कटाक्ष शंकर के चित्त में क्षोभ उत्पन्न करता है अर्थात् परब्रह्म में स्पन्द उत्पन्न करता है।

[५३]

विभक्तत्रैवर्ण्यं व्यतिकरितलीलाञ्जनतया
विभाति त्वन्नेत्रत्रितयमिदमीशानदयिते।

पुनः स्रष्टुं देवान्द्रुहिणहरिरुद्रानुपरतान्
रजः सत्त्वं विभ्रत्तम इति गुणानां
त्रयमिव(स्वयमिव) ॥

अर्थः—हे ईशान की दयिते! ये तेरे तीनों नेत्र तीन रंग का अंजन लगाने से मानों पृथक्-पृथक् तीन रंग के चमक रहे हैं और महाप्रलय के अन्त में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को, जो प्रलयकाल में उपरत हो गये थे, फिर पैदा करने के लिए रज, सत्त्व और तम—तीनों गुणों को धारण किये हुए से प्रतीत होते हैं।

रजोगुण रक्तवर्ण है, सत्त्व शुक्लवर्ण और तमोगुण कृष्ण-वर्ण है। भगवती के दो नेत्र चन्द्र-सूर्यात्मक श्वेत और कृष्णवर्ण हैं और तीसरा नेत्र मस्तक में आग्नेय रक्तवर्ण है। महाप्रलय में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी लीन हो जाते हैं। परन्तु शक्ति ब्रह्म के साथ अव्यक्त रूप में बनी रहती है और प्रलय के अन्त में व्यक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को फिर अपने नेत्रों के उन्मीलन से उत्पन्न करती है। ब्रह्मा रजोगुण के, विष्णु सत्त्व गुण के और रुद्र तमोगुण के अधिदेव हैं, इसलिये मानों भगवती के तीनों नेत्रों के खुल जाने पर वह उन में सत्त्व, रज और तम रूपी तीन प्रकार का अंजन आंज लेती है। अर्थात् भगवती की दृष्टि तीन गोलकों का आश्रय लेने से तीनों के रूप में व्यक्त होती है। यद्यपि दृष्टि की शक्ति

एक ही है तो भी तीन प्रकार के गुण रूपी अंजनों के कारण वह त्रिधा प्रतीत होती है, क्योंकि तीनों में सृष्टि-स्थिति-संहार करने की तीनों शक्तियां एक ही शक्ति के तीन रूप हैं।

[५४]

पवित्री कर्तुं नः पशुपतिपराधीनहृदये
दयामित्रैर्नेत्रैररुणधवलश्यामरुचिभिः ।
नदः शोणो गङ्गा तपनतनयेति ध्रुवममु(मयं)
त्रयाणां तीर्थानामुपनयसि संभेदमनघम् ॥

अर्थः—पशुपति शंकर भगवान् की पराधीनता में हृदय समर्पण करने वाली हे भगवती! अरुण, शुक्ल और श्याम वर्णों की शोभा से युक्त दयापूर्ण अपने नेत्रों से सोण, गंगा और सूर्यतनया (यमुना) नदी—इन तीनों तीर्थों के सदृश निश्चय ही हम लोगों को पवित्र करने के लिये तू पवित्र संगम बना रही है।

गंगा और यमुना का संगम प्रयाग में है, जो दोनों नेत्रों के बीच है, वह भ्रूमध्यभाग काशी है। उसके ऊपर तीसरा नेत्र सोण नदी है। ज्ञाननेत्र में तीनों का एकीकरण होता है। सोण नदी काशी से कुछ आगे चलकर गंगाजी से मिलती है। नासिका के अग्रभाग पर, भ्रूमध्य में और ललाट प्रदेश में ध्यान करने की विधि योग-धारणा के प्रधान साधन हैं।

उन स्थानों पर धारणा करके वहां चित्त को ध्यानमग्न कर देना ही उक्त तीर्थों में स्नान करना है।

[५५]

निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधरराजन्यतनये ।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शंके परिहृतनिमेषास्तव दृशः ॥

अर्थः—हे धरणिधर राजन्य हिमाचल की पुत्री ! सन्तों का कहना है कि तेरे निमेष (नेत्र बंद करने) से जगत् का प्रलय और उन्मेष अर्थात् नेत्र खोलने से उद्भव अर्थात् सृष्टि होती है। यह सारा जगत् प्रलय के पश्चात् तेरे उन्मेष से उत्पन्न हुआ है, उसकी रक्षा करने के लिये ही, मुझे शंका होती है कि तेरी आंखों ने झपकना बंद कर रखा है।

आंखों का झपकना इसलिये बन्द कर रखा है कि कहीं झपकने के साथ तुरन्त प्रलय न हो जाय। देवताओं के नेत्रों में झपकियां नहीं पड़तीं, इसलिये भगवती के नेत्र भी सदा निमेषोन्मेषरहित रहते हैं, यह बात इस श्लोक में कही गई है। यदि कहो कि कमल खिला रहता है और मछलियों के नेत्र भी नहीं झपकते, तो अगला श्लोक लिखते हैं कि:—

[५६]

तवापर्णे कर्णे जपनयनपैशुन्यचकिता
निलीयंते तोये नियतमनिमेषाः शफरिकाः।
इयं च श्रीर्बद्धच्छदपुटकवाटं कुवलयं
जहाति प्रत्यूषे निशि च विघटय्य प्रविशति॥

क्लिष्ट शब्दार्थ:—शफरिका=मछली। कुवलय=कुमुद।

अर्थ:—हे अपर्णे! निमेष रहित मछलियां तो सदा पानी में छिपी रहती हैं, उनको यह भय रहता है कि कहीं तेरी आंखें ईर्ष्यावश उनकी चुगली तेरे कानों से न करदें और यह लक्ष्मी सवेरा होने पर कपाटों के सदृश बंद हो जाने वाले दलयुक्त कुमुदिनी को छोड़ जाती है तथा रात्रि को उन्हें खोल कर प्रवेश करती है।

भाव यह है कि भगवती के निमेषोन्मेषवर्जित नेत्रों की प्रतिद्वन्द्वी एक तो मछलियां हैं, दूसरी कुमुदिनी है। मछली तो पानी में छिपी रहती है और कुमुदिनी रात्रि को ही खिलती है तथा दिन में बंद होकर श्री(कांति)हीन हो जाती है।

[५७]

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे।

अनेनायं धन्यो भवति न च हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः ॥

अर्थः—हे शिवे ! किंचित् विकसित नीलोत्पल की शोभा से युक्त दूर तक पहुंचने वाली अपनी दृष्टि से कृपया दूरस्थित मुझ दीन को भी स्नान करा दे। उससे यह धन्य हो जायगा और ऐसा करने से तेरी कोई हानि नहीं है, क्योंकि चन्द्रमा की किरणें वन में और महलों में समान रूप से पड़ती हैं।

कनपटियों का ध्यान [५८]

अरालं ते पालीयुगलमगराजन्यतनये
न केषामाधत्ते कुसुमशरकोदंडकुतुकम् ।
तिरश्चीनो यत्र श्रवणपथमुल्लंघ्य विलस-
न्नपांगव्यासंगो दिशति शरसंधानधिषणाम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—अरालं=वक्र । पाली=कनपटी-कोण । अग=पर्वत । अपांग=कटाक्ष ।

अर्थः—हे पर्वतराज की पुत्री ! तेरी दोनों वक्र कनपटियां किसकी बुद्धि में पुष्प-बाण धारण करने वाले धनुष के कोणों का कौतूहल न करेंगी ! जहां श्रवणपथ का उल्लंघन करके तेरा तिरछा कटाक्ष कनपटी को लांघकर कान तक

पहुंचे हुए बाण सदृश दीखता है जो दोनों भौंहों के धनुष पर चढ़ा हुआ है।

कनपटियां धनुष के कोण हैं। भगवती की त्यौरी रूपी धनुष पर चढ़े हुए कटाक्ष रूपी बाण से सब बाधायें नष्ट होती हैं।

मुख का ध्यान [५९]

स्फुरद्गण्डाभोगप्रतिफलिततार्टंकयुगलं
चतुश्चक्रं मन्ये तव मुखमिदं मन्मथरथम्।
यमारुह्य(यमाश्रित्य) द्रुह्यत्यवनिरथमर्केंदुचरणं
महावीरो मारः प्रमथपतये सज्जितवते॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—ताटंक=कर्णफूल।

अर्थः—तेरे चमकते हुए कपोलों पर प्रतिबिम्बित दोनों कर्णफूलों युक्त तेरा मुख मुझे चार पहियों वाला कामदेव का रथ जंचता है, जिस पर चढ़ कर अथवा जिसका आश्रय लेकर महावीर कामदेव, सूर्य और चन्द्रमा दो पहियों वाले पृथिवी रूपी रथ पर युद्धार्थ सुसज्जित शंकर के विरुद्ध अड़ा है।

मुख रथ है, उसके चार पहिये कानों में लटकते हुए दो कर्णफूल और दो कपोलों पर उनके प्रतिबिम्ब हैं। शंकर का रथ पृथ्वी है जिसके सूर्य और चन्द्रमा दो पहिये हैं, जिस पर चढ़कर शंकर ने त्रिपुरों को हराया था। परन्तु यहां

देवी के मुख रूपी रथ का आश्रय लेने के कारण कामदेव शंकर के समक्ष युद्ध करने का साहस करता है।

[६०]

सरस्वत्याः सूक्तीरमृतलहरीकौशलहरीः
पिवंत्याः शर्वाणि श्रवणचुलुकाभ्यामविरलम्।
चमत्कारश्लाघाचलितशिरसः कुण्डलगणो
झणत्कारैस्तारैः प्रतिवचनमाचष्ट इव ते ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—तार=ॐकार । प्रतिवचन=स्वीकृति सूचक हुंकार कहना ।

अर्थः—हे शर्वाणि ! सरस्वती की सुन्दर युक्ति को, जो अमृत की लहरी के कौशल को हरती है, श्रवण रूपी चुल्लुओं द्वारा अविरल पान करते समय तेरे कुण्डलगण चमत्कार-पूर्ण उक्तियों की श्लाघा सूचक सिर हिलाते हुए क्षण-क्षण बजकर मानों ॐकार के उच्चारण सदृश हुंकार द्वारा उत्तर दे रहे हैं।

प्राचीनकाल में अनुज्ञा सूचक शब्द के स्थान पर ॐ कहते थे, जैसे आजकल 'हां' अथवा 'हुं' कहकर अनुज्ञा प्रकट की जाती है। (देखें छान्दोग्योपनिषत् १, १, ८)—

'तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धिकिंचानुजानाति ॐ इत्येव तदा हैषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति यस्तदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ।'

यहां भगवती जब अनुज्ञा सूचक सिर हिलाती हैं तो उनके कानों के कुण्डल मानों 'ॐ' का उच्चारण करके अनुज्ञा प्रकट करते हैं, क्योंकि सरस्वती की सुन्दर वाणी रूपी अमृत का पान कर्ण ही करते हैं, यदि जिह्वा पान करती होती तो जिह्वा वाणी द्वारा अनुज्ञा प्रकट करती, परन्तु यहां कान पान करते हैं। जिह्वा मौन है और कान बोल नहीं सकते, इसलिये कानों के बदले कानों के कुण्डल बज-बज कर झणत्कार रूपी ॐ-ॐ कह्कह् कर अनुज्ञा प्रकट कर रहे हैं। कुण्डलों की झंकार रूपी ॐकार की ध्वनियुक्त उद्गीथ उपासना का फल समृद्धि होना चाहिये, जैसा कि उपरोक्त छान्दोग्य श्रुति में कहा गया है। उस समृद्धि का वर्णन अगले श्लोक में है।

नासिका का ध्यान [६१]

असौ नासावशस्तुहिनगिरिवंशध्वजपटि(पटे)
त्वदीयो नेदीयः फलतु फलमस्माकमुचितम्।
वहन्नन्तर्मुक्ताः शिशिरतर निश्वासघटिताः(गलिताः)
समृद्धया यत्तासां बहिरपि च मुक्तामणिधरः॥

क्लिष्ट शब्दार्थः तुहिन=हिम। नेदीयः=अति निकट, शीघ्र।

अर्थः—हे तुहिन गिरि अर्थात् हिमाचल के वंश की ध्वजा की पताके! तेरे नाक का यह बांस हमको शीघ्र उचित फल का देने वाला हो अथवा उस पर हमारे लिए उचित फल

लगें, क्योंकि उसके भीतर तेरे अति शीतल निश्वासों से मोती बन रहे हैं और बायें नथने में उनकी इतनी समृद्धि है कि एक मुक्तामणि बाहर भी दीख रही है। (यहां नथ के मोती से अभिप्राय है जो बायें नाक में पहनी जाती है)।

'वंश' द्वयार्थवाचक शब्द है—बांस और कुल। हिमाचल पर लगे हुए बांस पर ध्वजा फहराई जाय तो उसकी पताका के सदृश भगवती की उपमा है। दूसरे अर्थ में भगवती को हिमालय के कुल की ध्वज-पताका सदृश कहा गया है। बांस में फल नहीं लगते, परन्तु उसके अन्दर मोतियों की उत्पत्ति कही जाती है।

'मुक्ता' शब्द भी द्वयार्थवाचक है—मोती को मुक्ता कहते हैं और जीवन्मुक्त पुरुष भी मुक्त कहलाते हैं। बांस में मोती होते हैं और कुल में मुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं। शंकर भगवत्पाद प्रार्थना करते हैं कि तेरी नासिका रूपी बांस में हमारे लिये उचित फल लगें और उनकी समृद्धि भी हो। परन्तु जैसे बांस में फल नहीं लगते और उसके भीतर पोल में मोतियों का उत्पन्न होना सुना जाता है, उसी प्रकार भगवती के नासिकावत् श्रेष्ठ कुल में अर्थात् भगवती के उपासक संप्रदाय में मुक्त पुरुषों की उत्पत्ति होती है, जिसका उचित फल मुक्ति है और भगवती के कर्णफूलों (ताटंकों) की झंकार रूपी प्रणवोपासना से उनकी समृद्धि होती है।

फल का अर्थ कामना की पूर्ति के लिये किया जाता है। शंकर भगवत्पाद एक संन्यासी होने के नाते त्यक्तकाम थे जो पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा सभी इच्छाओं से विनिर्मुक्त थे। उनकी उचित फल की इच्छा परोपकारार्थ और संसारी जीवों की मुमुक्षा के अतिरिक्त क्या हो सकती थी? अपिच वे नासिका के बाहर लगे हुए नथ के मोती के सदृश स्वयं एक मुक्त पुरुष थे, इसलिये उनकी प्रार्थना का यही भाव था कि भगवती की उपासक-परम्परा में सदा जीवन्मुक्तों की समृद्धि होती रहे।

हिमगिरिकन्या का निश्वास भी हिमवत् शीतल होना चाहिये जिसके स्पर्श से ओस-कण तुरन्त मुक्तामणियों के सदृश जम जाते हैं। तद्वत् मानों चन्द्र अथवा इडा नाड़ी के वाम नासापुट से, जिस पर नथ पहिनी जाती है, टपकने वाले जल-कण जमकर मोती बन गए हैं जो नथ पर दृष्टि-गोचर हो रहे हैं, यद्यपि नासा-वंश में निहित न जाने कितने मुक्ता हो सकते हैं। शीतल निश्वास से परम शांति का भी अभिप्राय है जिसके स्पर्श मात्र से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है।

कर्णफूलों की प्रणवरूपी झंकार से अन्तर्नाद का भी अभिप्राय हो सकता है जो सरस्वती के शिव-स्तवन की एक प्रतिध्वनि कही जा सकती है।

हिन्दी की एक उक्ति है कि 'केला-बिच्छू-वांस, अपने फले नाश' अर्थात् केला, बिच्छू और वांस पर फल लगने से वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इसलिये भगवती के नासावंश में फल न लगाकर उसके भीतर मोतियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है जिनकी सदा समृद्धि होती रहती है और वह वंश अनादि, अनन्त, नित्य परम्परा वाला है।

भीतर से बाहर निकलने वाला श्वास निश्वास कहलाता है और वह उष्ण होता है। यदि किसी मनुष्य का निश्वास शीतल चलने लगे तो वह उसकी निकटस्थ मृत्यु का अरिष्ट-सूचक होता है। यहां भगवती का निश्वास शिशिरतर कहा गया है। भगवती के परम शान्तिमय अन्तर्हृदय का यह पराक्रम है जिससे मृत्यु को भी भय लगता है और उसके परम शान्तिप्रद निश्वास के स्पर्श मात्र से उपासक शीघ्र जीवन्मुक्ति का परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

'नासावंशः' का अर्थ 'नासोपम वंशः' भी किया जा सकता है। किसी मनुष्य की यशः श्लाघा करते समय कहा करते हैं कि वह मनुष्य तो अपने कुल, जाति, वंश अथवा देश की नाक है। इसी प्रकार भगवती के उपासकों का वंश प्रकृति देवी की नाक है। ऐसा कहने से भगवती के उपासकों की सर्वोपरि गणना समझी जानी चाहिये जिन की वंशावलि में जीवन्मुक्त महान् पुरुषों की सदा समृद्धि होती रहती है। उन में से कोई-कोई प्रकाशित भी हो जाते हैं, परन्तु वे गुप्त

रूप से रहने वाले अनेक सन्तों के अस्तित्व की साक्षी देते रहते हैं। हिमगिरि के हिम-शिखरों का शीतल शान्तिप्रद पवन ही मानों भगवती का कल्याणमय निश्वास है जो श्रेय के जिज्ञासुओं को उत्तरोत्तर आवाहन करता रहता है।

ओष्ठों का ध्यान [६२]

प्रकृत्याऽऽरक्तायास्तव सुदति दन्तच्छदरुचेः
प्रवक्ष्ये सादृश्यं जनयतु फलं विद्रुमलता।
न बिम्बं तद्बिम्बप्रतिफलनरागादरुणितं
तुलामध्यारोढुं कथमिव न लज्जेत् कलया॥

अर्थः—हे सुन्दर दाँतों वाली भगवती! स्वाभाविक लालरंग के तेरे होठों की शोभा का सादृश्य करने वाले पदार्थों के नाम कहता हूं। मूंगे की लता में यदि फल आ जायं (तो उतने सुन्दर कहे जा सकते हैं), परन्तु बिम्ब फल तो नहीं, क्योंकि उनकी अरुणिमा तो तेरे बिम्ब की प्रतिबिंबित् अरुणिमा की झलक के सदृश है। यदि उनसे किसी प्रकार तेरे होठों की तुलना भी की जाय तो वे तेरे होठों की सुन्दरता की एक कला के बराबर भी सुन्दर न उतरने से क्या लज्जित नहीं होंगे?

प्रबाल-लता में फल नहीं लगते क्योंकि वे जड़ होती हैं। परन्तु यदि उसमें फल लगने लगें तो संभव है कि भगवती

के होठों की उनसे उपमा दी जा सके। विम्ब-फल की अरुणिमा तो सामान्य अरुणिमा है, उसे प्रकृति देवी की आंशिक देन ही समझना चाहिये, मानों असली रंग की छाया मात्र हो। विम्ब-फलों से कविजन सामान्य स्त्रियों के होठों की उपमा दिया करते हैं, परन्तु भगवती के होठों की उन से उपमा देना उचित नहीं, क्योंकि उनका सौंदर्य अनुपम है।

मुस्कान का ध्यान [६३]

स्मितज्योत्स्नाजालं तव वदनचन्द्रस्य पिवतां
चकोराणामासीदतिरसतया चञ्चुजडिमा ।
अतस्ते शीतांशोरमृतलहरीमाम्लरुचयः
पिवन्ति स्वच्छन्दं निशिनिशि भृशं काञ्जिकधिया ॥

अर्थः—तेरे चन्द्रवदन की मुस्कान रूपी ज्योत्स्ना (चांदनी) की प्रचुरता को पीकर, अति मधुर होने के कारण चकोरों की चंचु अति रसास्वाद से जड़ हो गई है अर्थात् हट गई है। इसलिये खट्टे रस के इच्छुक वे चन्द्रमा के अमृत की लहरी को कांजी सदृश समझकर प्रतिरात्रि खूब स्वच्छन्द पीते रहते हैं।

भावार्थ यह है कि चांद की चांदनी प्रकृति की मुस्कराहट की मधुरता के सामने कांजीवत् खट्टी है।

जिह्वा का ध्यान [६४]

अविश्रान्तं पत्युर्गुणगणकथाऽऽम्रेडनजपा
जपापुष्पच्छाया तव जननि जिह्वा जयति सा ।
यदग्रासीनाया: स्फटिकदृषदच्छच्छविमयी
सरस्वत्या मूर्तिः परिणमति माणिक्यवपुषा ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ:—आम्रेडन=बारंबार । दृषद्=पत्थर । अच्छत्=स्वच्छ ।

अर्थ:—हे जननि! बिना थके पति के गुणानुवाद का बारम्बार जप करने वाली तेरी जवाकुसुम की द्युति सदृश लाल जिह्वा की जय है जिसके अग्र भाग पर आसीन स्फटिक पत्थर की सी शुद्ध कांतिमयी सरस्वती की मूर्ति के शरीर का वर्ण माणिक्य सदृश परिणत हो गया है।

स्फटिक का धर्म है कि उस पर निकटस्थ पदार्थ का रंग झलकने लगता है अर्थात् वह स्वयं उसके रंग में रंग जाता है। सरस्वती का निवास जिह्वा के अग्र भाग पर होता है और उसका वर्ण स्फटिकवत् स्वच्छ होता है, परन्तु जिह्वा के रंग से लाल दीखने लगता है।

[६५]

रणे जित्वा दैत्यानपहृतशिरस्त्रैः कवचिभि-
र्निवृत्तैश्चण्डांशत्रिपुरहरनिर्माल्यविमुखैः ।

विशाखेन्द्रोपेन्द्रैः शशिविशदकर्पूरशकला
विलीयन्ते मातस्तव वदनताम्बूलकवलाः ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—शिरस्त्र=शिर कवच। विशाखा=षडानन।

अर्थः—हे मां! दैत्यों को रण में जीतकर अपहृत शिरस्त्र और कवचों को उतारकर, शिवजी के निर्माल्य से विमुख जो चंड का भाग होता है, स्कन्द, इन्द्र और उपेन्द्र तीनों तेरे मुख के पान के ग्रास को, जिसमें चन्द्रमा जैसे स्वच्छ कर्पूर के टुकड़े पड़े हैं, ग्रहण करते हैं।

जैसे मां अपने छोटे-छोटे बालकों को अपने मुख से निकालकर बड़े प्रेम से आधे चबे पान के टुकड़े खिलाया करती है, वैसे ही भगवती स्कन्द, इन्द्र और उपेन्द्र को, जो उसके बालक हैं, दैत्यों पर जय प्राप्त करने पर प्रसन्न होकर पुरस्कार स्वरूप अपने मुख से निकालकर तांबूल के टुकड़े खिलाती है। चण्ड शंकर के एक गण का नाम है, उसका स्थान नन्दी के दक्षिण हाथ की ओर नन्दी और जलहरी के बीच में होता है। शंकर का निर्माल्य चंड का ही भाग होता है, दूसरा उसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये चण्ड के पास खड़े होकर शंकर की पूजा नहीं की जाती, वह सब निष्फल होती है। स्कन्द, इन्द्र और उपेन्द्र तीनों, दैत्यों को हराकर शंकर के पास गये तो वहां पर कोई पुरस्कार नहीं मिल सका क्योंकि उनके निर्माल्य का अधिकारी तो चण्ड ही

होता है। तब वे भगवती के पास गये और मां का सबसे ऊँचा पुरस्कार उसका वात्सल्य प्रेम प्रकट करने में ही होता है।

वाणी की प्रशंसा [६६]

विपञ्च्या गायन्ती विविधमपदानं पशुपते-
स्त्वयाऽऽरब्धे वक्तुं चलितशिरसा साधुवचने।
तदीयैर्माधुर्यैरपलपिततन्त्रीकलरवां
निजां वीणां वाणी निचुलयति चोलेन निभृतम्॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—विपञ्ची=वीणा। अपदान=भूले हुए लोकोपकार।

अर्थः—पशुपति के विविध अपदानों को वीणा पर गाते समय, तेरे शिर हिलाकर सरस्वती की श्लाघा के वचन कहना आरम्भ करने पर, जो अपनी मधुरता से वीणा के कलरव को फीका करते हैं, सरस्वती अपनी वीणा को कपड़े में लपेट कर रख देती है।

अर्थात् भगवती की वाणी के माधुर्य के सामने सरस्वती के वीणा के स्वर भी फीके पड़ जाते हैं।

चिबुक का ध्यान [६७]

कराग्रेण स्पृष्टं तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्तं मुहुरधरपानाकुलतया।

करग्राह्यं शंभोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथंकारं ब्रूमस्तव चिबुकमौपम्यरहितम् ॥

अर्थः—हे गिरिसुते ! उपमारहित तेरी चिबुक (ठोड़ी) का वर्णन हम कैसे करें जिसे हिमाचल अर्थात् तेरे पिता ने वात्सल्य प्रेम से अपनी अंगुलियों से स्पर्श किया है और गिरीश ने अधरपान करने की आकुलता से बार-बार उठाया है और जो उस समय ऐसी प्रतीत होती है मानों वह शंभु के हाथ में मुख देखने के लिये उठाए हुए दर्पण का दस्ता हो।

प्रकृति का मुख दर्पणसदृश है जिसमें शंकर का मुख प्रतिभासित हो रहा है। यही भाव बिहारी सतसई में इस प्रकार दिखाया गया है--

'मैं समझों निर्धार यह जग कांचो कांच सो।
एक ही रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत जगत् ॥'

ग्रीवा का ध्यान [६८]

भुजाश्लेषान्नित्यं पुरदमयितुः कण्टकवती
तव ग्रीवा धत्ते मुखकमलनालश्रियमियम् ।
स्वतः श्वेता कालागरुबहुलजम्बालमलिना
मृणालीलालित्यं वहति यदधो हारलतिका ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ:—कालागरु=अगरु, एक सुगंधित द्रव्य। जम्बाल=कीचड़, लेप।

अर्थ:—तेरी ग्रीवा, जो पुरारि की भुजा के नित्य स्पर्श से खुरदरी हो रही है, तेरे मुखकमल को धारण करती हुई कमलनाल (मृणाली) जैसी सुन्दर लगती है, जो स्वतः तो गौरवर्ण है, परन्तु अधिक समय तक अगरु के गाढ़े लेप से कीचड़ में सनी हुई सी मलीन दीखती है और जिसके नीचे हार पहना हुआ है।

गले का ध्यान [६९]

गले रेखास्तिस्रो गतिगमकगीतैकनिपुणे
विवाहव्यानद्धप्रगुणगुणसंख्याप्रतिभुवः।
विराजन्ते नानाविधमधुररागाकरभुवां
त्रयाणां ग्रामाणां स्थितिनियमसीमान इव ते॥

अर्थ:—हे गति, गमक और गीत में निपुणे! तेरे गले में पड़ी हुई तीन रेखायें, जो विवाह के समय बांधी गई तीन सौभाग्यसूत्रों की लड़ियों से पड़ गई हैं, ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानों वे नानाविध मधुर राग-रागिनियों के तीनों ग्रामों पर गाने से उनके स्थिति नियम की सीमा के चिन्ह हों।

गान विद्या के अनुसार प्रत्येक राग में गति, गमक और गीत तीन अंग होते हैं। गति चाल को कहते हैं, गमक सुरों के आरोह-अवरोह को कहते हैं और गीत तीनों सप्तकों के

सुरों के क्रम को कहते हैं। संगीत तीन ग्रामों वाला होता है जिनके नाम षडज, मध्यम और गांधार ग्राम हैं। जिस ग्राम पर कोई राग गाया जाता है, उसका आरम्भ और अन्त उसी ग्राम के सुर से होता है अर्थात् षडज ग्राम पर गाने वाला अपने राग का आरम्भ षडज से करेगा और षडज पर ही समाप्त करेगा। इसी तरह मध्यम और गांधार ग्रामों पर गाने वाले के राग मध्यम अथवा गांधार स्वर से ही उठाये जाकर उसी स्वर पर समाप्त किये जायेंगे। प्रचलित पद्धति में केवल षडज ग्राम पर ही सब गाने गाये जाते हैं, अन्य दो ग्रामों का प्रचलन नहीं रहा, इसलिये उसका संगीत-शास्त्र में उल्लेख मात्र मिलता है। प्राचीन काल में उनका प्रचलन होगा। भगवती तीनों ग्रामों पर गा सकती हैं, इसलिये उनके गले की तीन रेखायें ऐसी प्रतीत होती हैं मानों प्रत्येक ग्राम पर गाने से उनके सुरों की पृथक् पृथक् सीमायें बन गई हैं।

<u>चारों भुजाओं का ध्यान</u> [७०]

मृणाली मृद्वीनां तव भुजलतानांचतसृणां
चतुर्भिः सौन्दर्यं सरसिजभवः स्तौति वदनैः।
नखेभ्यः संत्रस्यन्प्रथममथनादन्धकरिपो—
श्चतुर्णां शीर्षाणां सममभयहस्तार्पणधिया॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—अंधकरिपु=शिवजी।

अर्थः—शिवजी के नखों के द्वारा पहिले पुराकाल में कभी (पांचवां शिर) मथन किये जाने की स्मृति से संत्रस्त होकर, चारों शिरों की एक समान रक्षा के लिये तेरे अभय-दान देने वाले हाथ की शरण में समर्पणबुद्धि रखकर, मृणाली सदृश कोमल तेरी चारों लता जैसी भुजाओं के सौन्दर्य की ब्रह्मा चारों मुखों से स्तुति किया करते हैं।

एक पौराणिक गाथा के अनुसार ब्रह्मा के भी ५ शिर थे जिनका उन्हें बड़ा अभिमान था, इसलिये शिव जी ने रुष्ट होकर उनका शिर अपने नखों से तोड़ डाला था। उस समय की स्मृति से वे सदा भगवती के चारों हाथों की चारों मुखों से स्तुति किया करते हैं। इस आख्यायिका का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मा के चारों मुख चार वेदों से प्रकृति के हाथों की कृति का व्याख्यान करते हैं। जब ब्रह्मा को सृष्टि बनाने का अहंकार उत्पन्न हुआ तो उनका अहंकार शिवजी ने तोड़ दिया। वह अहंकार ही पांचवां शिर था।

हाथों का ध्यान [७१]

नखानामुद्योतै र्नवनलिनरागं विहसतां
करागां ते कान्ति कथय कथयामः कथमुमे।
कयाचिद्वा साम्यं भवतु कलया हन्त कमलं
यदि क्रीडल्लक्ष्मीचरणतललाक्षाऽरुणदलम्॥

अर्थः—हे उमे! तेरे हाथों की कांति का कहो कैसे

वर्णन करूँ जिनके नखों की द्युति नवविकसित कमल की अरुणिमा का परिहास करती है। यदि किसी अंश में किसी प्रकार कमल के दलों की अरुणिमा से समानता की भी जाय, तो, अरे! वह तो क्रीड़ा करते समय लक्ष्मी के चरणों में लगी लाक्षा के कारण है।

अर्थात् कमलों की अरुणिमा उनकी स्वाभाविक नहीं है, लक्ष्मी के चरणों में लगी लाख के कारण है, परन्तु भगवती के नखों की अरुणिमा स्वाभाविक है।

दोनों स्तनों का ध्यान [७२]

समं देवि स्कन्दद्विपवदनपीतं स्तनयुगं
तवेदं नः खेदं हरतु सततं प्रस्नुतमुखम्।
यदालोक्याशंकाऽऽकुलितहृदयो हासजनकः
स्वकुम्भौ हेरम्बः परिमृशति हस्तेन झटिति॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—द्विप=हाथी। हेरम्ब=गणेशजी।

अर्थः—हे देवि! स्कन्द और गणेशजी के पान किये हुए तेरे दोनों स्तन, जिनके मुख से दूध टपक रहा है, सदा हमारे खेद का हरण करें। पीते समय जिन स्तनों को देख कर गणेशजी शंका से आकुल हृदय होकर झट अपने ही शिर के कुंभवत् भागों को टटोलकर हास्यजनक चेष्टा करते हैं।

अर्थात् गणेशजी को अपने शिर के कुम्भ सदृश उभरे हुए

मस्तक और मां के स्तनों में भेद न दीखने के कारण शंका हो जाने से वे तुरन्त अपने शिर को टटोलने लगे। बालक दूध पीते समय माता के स्तनों को हाथ से पकड़कर दूध पिया करता है, परन्तु गणेशजी गलती से अपने ही शिर को पकड़ने लगे जिसको देखकर मां हंस पड़ी।

[७३]

अमू ते वक्षोजावमृतरसमाणिक्यकुतुपौ(कलशौ)
न संदेहस्पन्दो नगपतिपताके मनसि नः।
पिबन्तौ तौ यस्मादविदितवधूसंगमरसौ
कुमारावद्यापि द्विरदवदनक्रौञ्चदलनौ ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—वक्षोज=स्तन। कुतुप=कुप्पा। नग=पर्वत। द्विरद=हाथी।

अर्थः—हे पर्वतराज हिमाचल की पताका सदृश पुत्री! अमृत रस से भरे माणिक्य के बने कुप्पों अथवा कलशों के सदृश तेरे स्तनों को देखकर हमारे मन में संदेह का स्पन्द भी नहीं होता (जैसा कि स्त्रियों के स्तनों से होना संभव है), क्योंकि (उनका ऐसा प्रभाव है कि) उनका दुग्ध पान करने से गणेशजी और स्कन्द दोनों आज भी कुमार ही हैं और उनको स्त्री-संगम का रस विदित नहीं है।

दोनों के पास पत्नियां होते हुए भी वे शृंगार रस से परिचित नहीं है, यह भगवती के स्तन-पान का फल है।

गणेशजी के साथ ऋद्धि-सिद्धि दोनों पत्नियों के समान हैं और देवताओं के सेनापति स्कन्द के पास देवताओं की सेना (देवसेना) रूपी पत्नि है अर्थात् ऋद्धि-सिद्धि और देवसेना स्त्रीवाचक शब्द मात्र हैं और वे शक्तियां हैं—न कि पत्नियां, परन्तु तो भी उनको ऋद्धि-सिद्धियों से युक्त गणपति और देवताओं के सेनापति कहने से उनमें पति-पत्नि का दाम्पत्य सम्बन्ध होने की भ्रान्ति मात्र होती है वास्तव में दोनों नित्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही हैं।

[७४]

बहत्यम्ब स्तम्बेरमदनुजकुम्भप्रकृतिभि:
समारब्धां मुक्तामणिभिरमलां हारलतिकाम्।
कुचाभागो बिम्बाधररुचिभिरन्त:शबलितां
प्रतापव्यामिश्रां पुरदमयितुः कीर्तिमिव ते ।।

क्लिष्ट शब्दार्थ:—स्तम्बेरम=हाथी । दनुज=असुर । पुर-दमयितु:=पुरारि के, शिवजी के ।

अर्थ:—हे मां ! तेरा कुचभाग (छाती का भाग) जो गजासुर के मस्तक रूपी कुम्भ से निकली हुई मुक्तामणियों की विमल माला पहने हुए है, उस पर तेरे बिंबसदृश लाल होठों की कान्ति पड़ने से अरुण छाया दीखती है, इसलिये वह हार शिवजी की प्रताप-मिश्रित-कीर्ति के प्रतीकवत् है ।

हाथी के मस्तक से गजमुक्ता का निकलना प्रसिद्ध है। इसलिये जो मुक्तामणियां गजासुर के मारे जाने पर शिवजी

को मिली थीं, उनकी माला भगवती ने छाती पर पहिनी हुई है और उन पर भगवती के होठों का लाल रंग चढ़ा हुआ है अर्थात् वे मणियां होठों की अरुण कान्ति की छाया से लाल दीखने लगी हैं। इस प्रकार हार में दोनों का मिश्रण हो रहा है। कवि लोग प्रताप को लाल रंग और कीर्ति को स्वच्छ रंग से उपमित किया करते हैं। यहां मणियां स्वच्छ होने के कारण कीर्ति की प्रतीक हैं और उन पर चमकने वाला लाल रंग प्रताप का प्रतीक है। यहां गजासुर का वध रूपी प्रताप शंकर की शक्ति का प्रताप है और मणियां उस प्रताप की कीर्ति के चिन्ह हैं। भगवती स्वयं शंकर की शक्ति है। श्लोक का अन्तिम 'ते' पद 'कुचाभागो' पद के लिये सर्वनाम है। प्रथम पंक्ति में क्रियापद 'वहति' को 'कीर्तिमिव-हारलतिकां वहति' इस क्रम से पढ़ना चाहिए। 'कुचाभागो' 'वहति' का कर्ता है।

[७५]

तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयःपारावारः परिवहति सारस्वतमिव ।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरस्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनिकमनीयः कवयिता ॥

अर्थ.—हे धरणिधरकन्ये! मैं ऐसा समझता हूँ कि तेरे स्तनों के दूध का पारावार तेरे हृदय से बहने वाले

सारस्वत ज्ञान के सदृश है जिसे पीकर, दयावती होकर तेरे स्तनपान कराने पर, द्रविड़शिशु ने प्रौढ़ कवियों के सदृश कमनीय कविता की रचना की थी।

द्रविड़शिशु कौन था जिसका संकेत इस श्लोक में है? इस पर विद्वानों का मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि शंकर भगवत्पाद ने यहां अपने लिये ही संकेत किया है।

भगवती के स्तनपान कराने की दैवी कृपा की घटना इस प्रकार घटित हुई बताई जाती है कि एक बार भगवत्पाद के शिशुकाल में जब उनके पिता किसी स्थानान्तर को जाने लगे तो अपनी धर्मपत्नि को भगवती का पूजन करने को कह गये। परन्तु वे मासिक धर्म के कारण पति की अनुपस्थिति में पूजन नहीं कर सकीं और बालक शंकर को भगवती का पूजन करने का सुअवसर मिला। नैवेद्यार्थ भगवती को दूध अर्पण किया जाता था। शंकर भगवत्पाद बालपन के भोलेपन से समझे कि भगवती दूध को प्रतिदिन साक्षात् पिया करती हैं, परन्तु उस दिन न पीते देखकर वे रोकर प्रार्थना करने लगे। बालक के आग्रह से प्रसन्न होकर भगवती प्रकट हो गई और सारा दूध पी गईं। परन्तु शंकर भगवत्पाद के पिता नैवेद्य का दूध पुत्र को दिया करते थे, अतः भगवती के सारा दूध पी लेने पर बाल शंकर रो पड़े। इस पर भगवती को दया आई और बालक को अपने स्तनों का दूध पिलाया। भगवती के स्तन का दूध पान करते ही शंकर एक उच्चकोटि की कविता

में भगवती की स्तुति करने लगे जो उनके मुख से स्वतः निकलने लगी। पिता को घर आकर यह सब सुनने पर बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर भगवती ने उनको स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि यह बालक एक महान् पुरुष होगा। यह कथा कैवल्य शर्मा ने लिखी है।

इस पर कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि शंकर भगवत्पाद अपनी लेखनी से अपनी श्लाघा नहीं कर सकते, इसलिये द्रविड़शिशु कोई दूसरा व्यक्ति होना चाहिये जो भगवत्पाद का समकालीन था। परन्तु हमें तो—'एक शिशु प्रौढ़ कवियों जैसी कमनीय कविता करने लगा'—इतना कहने में कोई विशेष आत्मश्लाघा की बात नहीं दीखती। यदि इसे आत्म-श्लाघा कहा भी जाय तो यह वास्तव में भगवती के स्तनपान के फल की महिमा का गानमात्र है।

एक ऐसी भी किंवदन्ती है कि द्रविड़शिशु एक सिद्ध महात्मा थे। उन्होंने कैलाश के पत्थरों पर एक स्तोत्र लिखा था। जब शंकर भगवत्पाद कैलाशयात्रा को गये, तब उन्होंने उसे पढ़ा। परन्तु इनको स्तोत्र पढ़ते देखकर भगवती के इशारे से सिद्ध ने उसे मिटाना आरम्भ कर दिया। इतने अवसर में भगवत्पाद ने पूर्व के ४१ श्लोक कंठाग्र कर लिये थे, वे ही इस स्तोत्र के प्रथम ४१ श्लोक हैं। उसी द्रविड़शिशु का संकेत इस श्लोक में किया गया है। परन्तु हमारे इस मत की पुष्टि कि द्रविड़शिशु से भगवत्पाद ने अपना ही संकेत किया

है, श्लोक १०० से होती है जिससे सौन्दर्यलहरी का लेखन-समय उनका विद्यार्थीवय सिद्ध होता है।

नाभि का ध्यान [७६]

हरक्रोधज्वालाऽवलिभिरवलीढेन वपुषा
गभीरे ते नाभीसरसि कृतसंगो मनसिजः।
समुत्तस्थौ तस्मादचलतनये धूमलतिका
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति ॥

अर्थ—हे अचलतनये! हर के क्रोध की ज्वालाओं से लिपटे हुए शरीर से कामदेव ने गहरे सरोवर सदृश तेरी नाभि में जब गोता लगाया, उससे लता सदृश उठने वाले धूवें की जो रेखा बनी, हे जननि! उसे जनसाधारण तेरी नाभि के ऊपर उठने वाली रोमावलि समझते हैं।

इसका आध्यात्मिक भाव यह है कि कामोद्दीपन होने पर भ्रूमध्य में शंकर का ध्यान करने से, जहां उनका ज्ञानरूपी तीसरा नेत्र है, हृदय में उदय होने वाले काम का ताप नाभि चक्र में उतरकर शान्त हो जाता है और अग्नि के पानी में बुझने से जो धुआं-सा ऊपर उठता है, तद्वत् नाभि से हृदय में उठने वाली रोमांच की लता-सी उठकर शांति प्रदान करती है।

[७७]

यदेतत्कालिन्दीतनुतरतरङ्गाकृति शिवे
कृशेमध्ये किञ्चिज्जननि तव तद्भाति सुधियाम्।

विमर्दादन्योऽन्यं कुचकलशयोरन्तरगतं
तनुभूतं व्योम प्रविशदिव नाभिं कुहरिणीम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—कालिन्दी=यमुना । कुहरिणी=(कुं हरतीति कुहर, कुं ह राति ददातीति वा) बिल, रंध्र, सर्पिणी ।

अर्थः—हे शिवे, हे जननि ! यह जो यमुना की बहुत पतली तरंग के सदृश आकृति वाली (रोमावलि) तेरे कृश कटिभाग में किंचित् दीख रही है, वह सद्बुद्धि वाले मनुष्यों को ऐसी जान पड़ती है मानों तेरे कुचकलशों के बीच, एक दूसरे की रगड़ से पिस-पिस कर पतला होने पर, आकाश तेरी नाभि के बिल में अथवा नाभि में सर्पिणी की तरह प्रवेश कर रहा है ।

यमुना नदी और आकाश दोनों का रंग श्याम है, अतः आकाश को यमुना की पतली तरंग से उपमा दी गई है ।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति मानी जाती है । प्रत्येक तत्त्व का अर्धभाग और दूसरे आधे भाग में शेष चारों तत्त्वों का समभाग मिलने से पंचीकरण द्वारा पांचों महाभूतों की रचना होती है । इसलिये मूलाधार में पृथिवी तत्त्व के साथ $\frac{1}{8}$ अंश जल, $\frac{1}{8}$ अंश अग्नि, $\frac{1}{8}$ अंश वायु और $\frac{1}{8}$ अंश आकाश रहता है । इसी प्रकार स्वाधिष्ठान में जल के साथ $\frac{1}{8}$ अंश पृथ्वी, अग्नि, वायु और आकाश प्रत्येक का होता है । मणिपूर

में अग्नि के साथ दूसरे चार तत्त्वों का प्रति तत्त्व $\frac{1}{8}$ अंश रहता है। हृदय में वायु के साथ चारों अन्य तत्त्व $\frac{1}{8}$ अंश में रहते हैं और विशुद्ध चक्र में आकाश का आधा भाग तथा अन्य तत्त्वों का अष्टांश रहता है। इसलिये विशुद्ध चक्रस्थ आकाश तत्त्व का सम्बन्ध नीचे के सब चक्रों से बना हुआ है और विशुद्ध चक्र में आकाश का वेध होने के साथ ही नीचे के चक्रों के आकाश का भी वेध होना सम्भव है, इससे पूर्व नहीं। मानों भगवती के भारी कुचों के परस्पर रगड़ने से, चक्की के गले से उतरने वाले धान्य के सदृश, विशुद्ध चक्र से नीचे उतरकर पिसता हुआ आकाश नीचे गिर रहा है। आकाश तत्त्व के वेध की पिसाई से सुन्दर उपमा दी गई है। जिन योगियों को तत्त्ववेध की क्रिया का ज्ञान है, उनको ही यहां बुद्धिमान् कहा गया है।

कालिन्दी अर्थात् यमुना सूर्यपुत्री है। नाभि में उतरने वाली आकाश रूपी रोमावलि हृदय के सूर्यमण्डल से नीचे उतर रही है, इसलिये उसकी उपमा यमुना नदी की तरंग से दी जानी सर्वथा संगत है। आकाश, रोमावलि और यमुना तीनों का वर्ण भी श्याम है। यमुना पिंगला नाड़ी को भी कहते हैं जिसका सम्बन्ध प्राण से है और प्राण की क्रिया से ही षट्चक्र वेध होता है। इस अभिप्राय से भी कालिन्दी रूपी पिंगलागत प्राण की क्रिया से उनकी उपमा ठीक सिद्ध होती है।

[७८]

स्थिरो गङ्गाऽऽवर्त स्तनमुकुलरोमावलिलता-
निजाबालं कुण्डं कुसुमशरतेजोहुतभुजः ।
रतेर्लीलाऽगारं किमपि तव नाभिर्गिरिसुते
बिलद्वारं सिद्धे र्गिरिशनयनानां विजयते ॥

क्लिष्ट शब्दार्थ – आबाल=गमला । कुसुमशर=कामदेव ।

अर्थः—हे गिरिसुते ! तेरी नाभि की जय है जिसकी उपमा नीचे दिये हुए किसी भी प्रकार से दी जा सकती है— (१) गंगा का स्थिर भंवर, (२) तेरे स्तन रूपी विकसित पुष्पों को धारण करने वाली रोमावलि रूपी लता के उगने का गमला, (३) कामदेव के तेज रूपी अग्नि को धारण करने वाला हवनकुण्ड, (४) रति का क्रीड़ास्थल अथवा (५) गिरीश शंकर के नयनों को सिद्धि प्राप्त करने के लिये तप करने की गुफा का द्वार ।

[७६]

निसर्गक्षीणस्य स्तनतटभरेण क्लमजुषो
नमन्मूर्तेर्नाभौ*वलिषु च शनैस्त्रुट्यत इव ।
चिरं ते मध्यस्य त्रुटिततटिनीतीरतरुणा
समावस्थास्थेम्नो भवतु कुशलं शैलतनये ॥

---

* पाठान्तर—'नारीतिलकशनकै स्त्रुट्यत इव' ।

क्लिष्ट शब्दार्थः· तिलक=तिलक और एक वृक्ष विशेष का नाम। शनकैः=शनैः।

अर्थः—हे शैलतनये ! तेरे मध्य भाग की सम अवस्था चिर कुशल रहे, जो स्वाभाविक ही क्षीण है और स्तन रूपी तट के भार से क्लान्त होने के कारण झुकी हुई तेरी मूर्ति के नाभि देश पर पड़ने वाली वलियों पर शनैः-शनैः नदी के तट के वृक्ष के सदृश टूटता-सा प्रतीत होता है।

यहां कटि का बहुत पतला होना और स्तनों का भारी होना दिखाया गया है। ये दोनों स्त्रियों के सौन्दर्य के चिन्ह हैं।

[८०]

कुचौ सद्यः स्विद्यतटघटितकूर्पासभिदुरौ
　　कषन्तौ दोर्मूले कनककलशाभौ कलयता।
तव त्रातुं भङ्गादलमिति वलग्नं तनुभुवा
　　त्रिधानद्धं देवि त्रिवलिलवलीवल्लिभिरिव॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—कूर्पास=अंगिया, चोली। दोर्मूल= कांख, बगल। वलग्नं=जुड़ा-सा, जोड़। तनुभू=कामदेव।

अर्थः—हे देवि ! कांखों की रगड़ से झट-झट पसीना आने के कारण जिनके किनारे पर से अंगिया फट गई है, सुवर्ण कलश की आभायुक्त तेरे कुचद्वय के हिलने से टूटने से बचाने के लिए अलम् अर्थात् पर्याप्त है, इतना मात्र जुड़ा

आ तेरा (कटि प्रदेश) मानों कामदेव ने लवली वल्लि
[ए]क प्रकार की बेल) की वलियों से तीन बार बांध रखा है।

भाव यह है कि छाती का भाग भारी है और नीचे [क]टि-प्रदेश इतना पतला है कि हिलने मात्र से टूट सकता है, [प]रन्तु पेट की तीन वलियां ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानों [क]ामदेव ने उसके सौन्दर्य की रक्षा करने के लिए लवली की [बे]ल से तीन बार लपेट कर बांध रखा हो, नहीं तो टूटने में [क]ोई कसर नहीं जान पड़ती।

[नि]तंब का ध्यान [८१]

गुरुत्वं विस्तारं क्षितिधरपतिः पार्वति निजात्
नितम्बादाच्छिद्य त्वयि हरणरूपेण निदधे।
अतस्ते विस्तीर्णो गुरुरयमशेषां वसुमतीं
नितम्बप्राग्भारः स्थगयति लघुत्वं नयति च।

क्लिष्ट शब्दार्थः—हरणरूपेण=दहेज।

अर्थः—हे पार्वती! पर्वतराज हिमालय ने अपने नितंबों से काटकर अपना भारीपन और विस्तार तुझको दहेज में दिये थे, इसीलिए तेरे नितंब इतने विस्तीर्ण और भारी हैं कि उन के भार से सारी पृथिवी की गति रुक गई है और तेरे विस्तार की अपेक्षा पृथिवी छोटी दीखने लगी है।

यदि पृथिवी को स्थिर मानें तो भगवती के उस पर बैठ जाने से उसकी गति रुक गई है और यदि उसे चल मानें तो उसकी गति स्थगित होकर नियमबद्ध हो गई है। भाव यह है कि प्रकृति देवी ने पृथिवी को अपना आसन बना रखा है और भूमि पर जो भी शोभा फैली हुई है, उसका सारा श्रेय पर्वतों को ही है जिनकी देन रूपी स्रोत सारी पृथिवी को हरा-भरा ही नहीं कर रहे, वरन् बड़े-बड़े देश भी उनके नितंबों से काटकर लाई हुई मिट्टी की ही कृपायें हैं। अर्थात भूमि की प्राकृतिक शोभा हिमाच्छादित पर्वतराज की ही तनुजा है।

उरुयुग्म का ध्यान [८२]

करीन्द्राणां शुण्डान् कनककदलीकाण्डपटली-
मुभाभ्यामुरुभ्यामुभयमपि निर्जित्य भवती।
सुवृत्ताभ्यां पत्युः प्रणतिकठिनाभ्यां गिरिसुते
विजिग्ये जानुभ्यां विबुधकरिकुम्भद्वयमपि ।।

क्लिष्ट शब्दार्थः—पटली=पटं विस्तारं लाति आददाति।

अर्थः—हे गिरिसुते! आप अपने दोनों उरुओं से गजेन्द्रों की सूंडों को और सुवर्ण के बने हुए केले के लम्बे स्थम्बों को जीतकर, पति को प्रणाम करते-करते कठिन बने हुए दोनों सुन्दर गोल घुटनों से बुद्धिमान् हाथी के दोनों (मस्तक के) कुम्भों को भी पराजित कर रही हैं।

जंघाओं का ध्यान [८३]

पराजेतुं रुद्रं द्विगुणशरगर्भौ गिरिसुते
निषङ्गौ जंघे ते विषमविशिखो बाढमकृत ।
यदग्रे दृश्यन्ते दशशरफलाः पादयुगली-
नखाग्रच्छद्मानः सुरमुकुटशाणैकनिशिताः ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—निषंग=तरकस । विशिखः=शर, बाण । विषमविशिखः=कामदेव ।

अर्थः—हे गिरिसुते ! तेरी दोनों पिंडलियां रुद्र को जीतने के लिये दुगुने बाणों से भरे कामदेव के दो तरकसों के समान हैं, जिनके दश अग्रफल पैरों की १० अंगुलियों के नखों के अग्र भाग के रूप में दीख रहे हैं जो देवताओं के मुकुटरूपी सान पर पैनाए गये हैं ।

भाव यह है कि कामदेव के तरकस में केवल ५ पुष्प-बाण हैं । उनसे वह शंकर को नहीं जीत सका, इसलिये उसने भगवती के चरणों की अंगुलियों के नखरूपी फल वाले १० बाण अपनी सहायता के लिये और ले लिये हैं जो दोनों पिंडलियोंरूपी तरकसों में पांच-पांच रखे हैं । इन बाणों के फलवत् नखों के अग्रभाग प्रणाम करते-करते देवताओं के मुकुटरूपी सान पर घिस-घिसकर पैने हो गये हैं ।

कामदेव के ५ बाण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—५ विषय हैं । भगवती के चरणों में ५ सामान्य और ५ दिव्य

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध सहित १० बाण हैं। योगदर्शन में दिव्य विषयों का वर्णन १-३५ सूत्र में मिलता है—

'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबंधिनी।'

विषयों की दिव्य प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मन की स्थिरता का उदय होता है। इसलिये भगवती के चरणों के नखों का ध्यान योगी को सामान्य और दिव्य भोग देकर चित्त को एकाग्रता प्रदान करता है, मानों वह कामदेव के ५ बाणों के स्थान पर भगवती के चरणों की शरण लेकर दश बाणों से शंकर को जीतना चाहता है, परन्तु मन की एकाग्रता हो जाने से मनुष्य स्वयं शिवरूप हो जाता है। इसलिये—

[८४]

श्रुतीनां मूर्धानो दधति तव यौ शेखरतया
ममाप्येतौ मातः शिरसि दयया धेहि चरणौ।
ययोः पाद्यं पाथः पशुपतिजटाजूटतटिनी
ययोर्लाक्षालक्ष्मीररुणहरिचूड़ामणिरुचिः ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—पाथ=जल। तटिनी=नदी। चूड़ा=केश। शेखर=चोटी। रुचि=कान्ति।

अर्थः—हे मां! तेरे चरण जो श्रुतियों की मूर्धा पर शिखरवत् रखे हैं, दया करके उनको मेरे शिर पर भी रख दे, जिनका चरणोदक शंकर के जटाजूट से निकली हुई गंगा है

और जिनके तलवों में लगी लाक्षा की कान्ति हरि के चूड़ा (केशों) में धारण की हुई अरुण मणि की कान्ति के सदृश है।

[८५]

नमोवाकं ब्रूमो नयनरमणीयाय पदयो-
स्तवास्मै द्वन्द्वाय स्फुटरुचिरसालक्तकवते ।
असूयत्यत्यन्तं यदभिहननाय स्पृहयते
पशूनामीशानः प्रमदवनकंकेलितरवे ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—अलक्तक=लाक्षा । कंकेलि=अशोक । असूयति=ईर्ष्या करते हैं।

अर्थः—हम तेरे इन दोनों चरणों को प्रणाम करते हैं जो नयनों को रमणीय हैं, जिन पर लाक्षा की तीव्र कान्ति चमक रही है और जिनके अभिहनन की स्पृहा से पशुपति तेरे प्रमोदवन के अशोक वृक्ष से अनन्य असूया रखते हैं।

ऐसा कहते हैं कि पद्मिनी स्त्री के पदप्रहार से अशोक वृक्ष प्रसन्न होता है। इस श्लोक में यह भाव है कि भगवती की वाटिका के अशोक वृक्ष को भगवती के पदप्रहार का सौभाग्य सदा प्राप्त है, इसलिये पशुपति उससे ईर्ष्या रखते हैं, क्योंकि उनको भी भगवती के चरण-प्रहार की स्पृहा है।

अशोक का अर्थ वीतशोक अथवा शोकरहित है और पशु-पति भी वीतशोक होने के कारण अशोक हैं। जीवों को पशु

कहते हैं क्योंकि वे संसार की आसक्तिरूप राग के पाश में बंधे हैं। शिव को इसी अभिप्राय से पशुपति कहा जाता है।

'पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।
पाशबद्धः पशु प्रोक्तः पाशमुक्तः पशुपतिः ॥'

प्रत्येक मनुष्य में जीव-भाव और शिव-भाव साथ-साथ रहते हैं, जैसा कि भगवान् गीता में कहते हैं—

'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥'

वेदानुवचन भी है—'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया', 'असंगोयमात्मा' इत्यादि।

इसलिये बद्धजीव का अन्तरात्मारूपी शिव सदा असंग होने पर भी भगवती के पदप्रहार से अपने को शोकरहित अनुभव करने की स्पृहा सदा किया करता है।

[८६]

मृषा कृत्वा गोत्रस्खलनमथ वैलक्ष्यनमितं
ललाटे भर्तारं चरणकमले ताडयति ते।
चिरादन्तःशल्यं दहनकृतमुन्मूलितवता
तुलाकोटिक्वाणैः किलिकिलितमीशानरिपुणा ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—मृषा कृत्वा=झूठा करके। गोत्र=वंश, पहाड़, नाम अथवा गां इन्द्रियं त्रायते इति गोत्र। स्खलन ॥

गिरावट, फिसलना। वैलक्ष्य=लज्जा, स्वभाव का परिवर्तन, लक्ष्य से हटना। शल्यं=बाण, अन्तर्दाह। उन्मूलितवता=जड़ से उखाड़ता हुआ, सर्वथा नष्ट करता हुआ। तुलाकोटि=मंजीरा, नूपुर, तराजू के पलड़ों की आकृति वाला। क्वाणैकिलिरतं= घंटियां, मजीरों अथवा नू पुरों के बजने का शब्द। ईशानरिपु= शिव का शत्रु, काम। भर्ता=पालने वाला. पति।

अर्थः—तेरे गोत्र का अपमान करने से लज्जित नीचे नेत्र किये हुए भर्तार के ललाट पर तेरे चरण कमलों का ताड़न होने पर ईशानरिपु (कामदेव) ने अपना बदला देखकर, जलाये जाने के कारण चिरकाल से हो रहे अपने अन्तर्दाह को निकालते हुए तेरे नूपुरों के बजने के क्वणत्कार रूपी किलकिलाहट की हर्षध्वनि को।

पूर्व श्लोक में शिवजी को भगवती के चरणों के ताड़न की स्पृहा दिखाकर इस श्लोक में यह दिखाया गया है कि भगवती ने भर्तार के ललाट पर चरण कमलों से लात मार-कर उनकी इच्छा पूरी की। इसका सामान्य अर्थ शृंगार रसपूर्ण है और शृंगार रस के प्रेमीजन प्रेयसी के चरण-स्पर्श करना अथवा उसके पद-प्रहारों से प्रसन्न होना शृंगार-रस की विशेषता मानते हैं। राधिका के भक्तगण श्रीकृष्ण भगवान् से भी उनके चरण पलोटन कराने में अपनी उपा-सना की उत्कृष्टता समझते हैं। परन्तु आपत्तिजनक विषय तो यह है कि क्या ९७ श्लोकोक्त सतीत्व की चरम सीमा पति

के ललाट पर पदप्रहार करने में होती है ? ऐसे विरुद्ध भावों का समन्वय कैसे किया जा सकता है ? इसलिये हम योग पर इसका कूटार्थ दिखाने का यत्न करते हैं। सामान्य भाव तो यही है कि शंकर, जिन्होंने काम को भस्म कर दिया, वह भी पत्नि की लातें खाकर काम के उपहासास्पद बनते हैं।

इस श्लोक का दूसरा अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है। गोत्र का अर्थ इन्द्रियसंयम किया जा सकता है अर्थात् 'गां त्रायते इति गोत्रम्'। इसलिये 'गोत्रस्खलनं' से इन्द्रिय-संयम की गिरावट अथवा इन्द्रियसंयम से च्युत होना है। उसको मृषाकृत्वा अर्थात् झूठा करने से इन्द्रियसंयम की कमी को पूरा करने का अभिप्राय है। वैलक्ष्यनमितं उस दृष्टि को कहते हैं जिसमें वह लक्ष्यरहित नीचे को झुकी होती है। शांभवी मुद्रा में भी नेत्रों की दृष्टि ऐसी ही रहती है जिसमें अन्तर्लक्ष्य-बहिर्दृष्टि होने से दृष्टि लक्ष्यरहित हो जाती है और नेत्र अर्धोन्मीलित-से रहते हैं। जालंधर बंध लग जाने से शिर भी आगे को झुक जाता है और चिबुक कंठ-कूप पर जा लगती है। उस समय दृष्टि नीचे की ओर झुक जाती है और उसे वैलक्ष्यनमित कह सकते हैं। इन्द्रियसंयमयुक्त जालन्धर बन्ध लगने पर शांभवी मुद्रा का फल यह होता है कि शक्ति का उत्थान होकर वह झट आज्ञा चक्र के ऊपर चढ़ जाती है अर्थात् आज्ञा चक्रस्थ शिव के ललाट पर पदा-

रोपण करती हुई सहस्रार में प्रवेश करने को उतावली हो उठती है। भर्तार पद से अभिप्राय देहाभिमानी, देह का पोषण करने वाला भर्ता, महेश्वर ही है—

'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥'—गीता

क्योंकि आज्ञा चक्र तक ही देहाभिमान रहता है, उसके ऊपर चित्त की अवस्था उन्मन्याभिमुखी होने लगती है और देहाभिमान शिथिल होने पर भर्ता शब्द की उपयुक्तता कम होने लगती है।

शंकर भगवत्पाद ने स्थान-स्थान पर भगवती के अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता का वर्णन करते समय उनके हावभावों में कामदेव का सहयोग दिखाया है, मानों कामदेव सदा भगवती का आश्रय लेकर अपना कार्य करता रहता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानों भगवती कामदेव की ही प्रतिमूर्ति है। कादि विद्या का प्रथम अक्षर 'क'कार है जिससे ब्रह्म की आदि कामरूपा शक्ति अभिप्रेत है। उसकी त्रिपुरतापिन्युपनिषद् में इस प्रकार व्याख्या मिलती है—

'स एको देवः शिवरूपी दृश्यत्वेन विकासते, यतिषु, यज्ञेषु, योगिषु कामयते। कामं जायते। स एष निरंजनोऽकामत्वेनोज्जृम्भते, अकचटतपयशान् सृजते। तस्मादीश्वरः कामोऽभिधीयते, तत्परिभाषया कामः ककारं व्याप्नोति।'

अर्थः—वह शिव रूपी देव दृश्य के रूप में विकसित होता है। यतियों में, यज्ञों में, योगियों में कामना करता है। इस प्रकार काम उत्पन्न होता है। वह निरंजन कामना रहित ब्रह्म जम्हाई लेता है (विकसित होता है)। अ वर्ग, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य वर्ग और श वर्ग की सृष्टि करता है। इसलिये ईश्वर को काम कहते हैं। उसकी परिभाषा करने से काम 'क'कार में व्यापक माना जाता है।

सृजन शक्ति आद्योपान्त काम शक्ति ही है। सामान्य इच्छा के रूप में उसे कामना कहते हैं और प्रजनन वासना को काम वासना कहते हैं। वह शिव की प्रभवाभिमुखी शक्ति है। परन्तु जब वह प्रतिप्रसवरूपा होती है, तब उसे शिवा कहते हैं। प्रभव और लय क्रम दोनों उसीके विपरीत भाव होने के कारण एक दूसरे के प्रतिबन्धक और शत्रु हैं। समाधि-काल में काम शिव का शत्रु है, परन्तु सृष्टिकाल में वही शक्ति के रूप में शिव की अर्धांगिनी का सहयोगी बन जाता है। समाधि-काल में जिस काम को शंकर अपने तीसरे नेत्र को खोलकर भस्म कर देते हैं, वही उनके प्रभवाभिमुख होने पर मानों उनका उपहास करता है। भगवती के नूपुरों के शृंगार रस परिपूर्ण क्वण-क्वण शब्द की ध्वनि में मानों कामदेव के उक्त उपहास का व्यंग व्यक्त हो रहा है। नृत्य के समय नूपुरध्वनि अथवा गान-वाद्य के साथ मंजीरों का बजना जो ध्यान-समाधि के प्रतिपक्षी हैं और कामदेव की

प्रसन्नता को व्यक्त करने वाले हास्य की किलकिलाहट के सदृश्य हैं।

मन के लय और व्युत्थान का स्थान आज्ञा चक्र के ऊपर है। अनाहत में ईश्वर, विशुद्ध में सदाशिव और आज्ञा में शिव का स्थान है। शांभवी मुद्रा को समाधि का द्वारोद्घाटन कहना चाहिये। व्युत्थान के समय जब शक्ति नीचे उतरती है तब मानों शिव के ललाट पर पदप्रहार करती हुई नीचे उतरती है और उसके नूपुरों के शब्द में कामदेव के हास्य की प्रतिध्वनि बताई गई है। शांभवी मुद्रा के अभ्यासी के कामवासना रूपी अन्तर्दाह का उन्मूलन हो जाता है।

[८७]

हिमानीहन्तव्यं हिमगिरिनिवसैक चतुरौ
निशायां निद्राणं निशि च पर भागे च विशदौ।
परं लक्ष्मी पात्रं श्रियमतिसृजन्तौ समयिनां
सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम् ॥

अर्थः—हे जननि! तेरे दोनों चरण कमल पर जय प्राप्त कर रहे हैं, इसमें आश्चर्य क्या है? क्योंकि कमल बरफ से मर जाता है, परन्तु तेरे चरण हिमगिरि पर निवास करने में कुशल हैं। कमल रात को सो जाता है, परन्तु तेरे चरण दिन-रात विशद रहते हैं। वह दिन में

लक्ष्मी का पात्र रहता है, पर तेरे चरण समयाचार के उपासकों को खूब लक्ष्मी देते हैं।

अर्थात् तेरे चरणों को कमल की उपमा कैसे दी जा सकती है ? कदापि नहीं दी जा सकती।

[८८]

पदं ते कीर्त्तीनां प्रपदमपदं देवि विपदां
कथं नीतं सद्भिः कठिनकमठीखर्परतुलाम्।
कथंचिद्बाहुभ्यामुपयमनकाले पुरभिदा
यदादाय न्यस्तं दृषदि दयमानेन मनसा ॥

अर्थ:—हे देवि ! तेरा पद कीर्तियों का प्रपद (स्थान) है और विपदाओं का अपद है। न जाने सत्पुरुषों ने उसकी तुलना कछुवे की कठिन खोपड़ी से कैसे की है ! वह इतना कोमल है कि विवाह के समय पुरारि ने दयार्द्र मन से किसी प्रकार (अर्थात् बड़ी हिचकिचाहट और संकोच के साथ) दोनों हाथों से उठाकर उसे पत्थर पर रखा था।

विवाह में फेरों या भांवरों के समय वर, वधू के एक चरण को अपने हाथों से उठाकर पत्थर पर रखकर कहता है कि हे देवि ! तू धर्म पालनार्थ अपना चित्त इतना दृढ़ रखना जैसा कि यह पत्थर है।

कैवल्यशर्मा का मत है कि यह श्लोक मद्रास की भाषाओं की प्रतियों में नहीं मिलता, इसलिये क्षेपक है।

[८९]

नखैर्नाकिस्त्रीणां करकमलसंकोचशशिभि-
स्तरूणां दिव्यानां हसत इव ते चण्डि चरणौ ।
फलानि स्वःस्थेभ्यः किसलयकराग्रेण ददतां
दरिद्रेभ्यो भद्रां श्रियमनिशमह्नाय ददतौ ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—नाक=स्वर्ग। किसलय=पत्र, पल्लव। अह्नाय—तुरन्त । स्वःस्थ—स्वावलम्बी, स्वर्ग निवासी। अनिशं—निरन्तर ।

अर्थ:—हे चण्डी ! तेरे दोनों चरण अपने नखों से कल्पवृक्षों का परिहास-सा कर रहे हैं, जो नख देवांगनाओं के कर रूपी कमलों को (हाथ जोड़ते समय) बन्द करने के लिए संख्या में १० चन्द्रमा के सदृश हैं। कल्पवृक्ष तो स्वर्ग में रहने वाले स्वावलम्बी देवताओं को ही अपने पल्लव रूपी कराग्रों से फल देते हैं, परन्तु तेरे चरण दरिद्रियों को निरन्तर, तुरन्त और बहुत धन देते रहते हैं।

कल्पवृक्ष से स्वर्ग-निवासियों को ही लाभ है, यहां के दरिद्रियों को कुछ नहीं।

[९०]

ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमाशाऽनुसदृशी-
ममन्दं सौन्दर्यप्रकरमकरन्दं विकिरति ।

तवास्मिन्मन्दारस्तवकसुभगे यातु चरणे
निमज्जन्मज्जीवः करणचरणः षट्चरणताम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—करण चरणः = इन्द्रियों रूपी चरण वाला। षट्चरण—भौंरा, मधुकर।

अर्थः—इस तेरे चरण में जो मंदार वृक्ष के पुष्पों के स्तवक जैसा सुन्दर है, दीनों को उनकी आशा के अनुसार निरन्तर लक्ष्मी देता रहता है, सौन्दर्यराशि के मकरन्द को खूब फैलाता रहता है और मन्दार के पुष्पों के स्तवक सदृश सुभग है, उसमें मेरा ५ ज्ञानेन्द्रिय और १ अन्तःकरण रूपी ६ चरण वाला यह जीव छः चरणों वाला मधुकर बनकर डूबा रहे।

अर्थात् मैं भौंरे की तरह तेरे चरण कमल पर मनसा-वाचा-कर्मणा अपना सर्वस्व, सब इन्द्रियों और मन के व्यापारों को समर्पण कर दूँ।

चरणों की गति का ध्यान [९१]

पदन्यासक्रीडापरिचयमिवारब्धुमनस-
श्चरन्तस्ते (स्खलन्तस्ते) खेलं भवनकलहंसा न जहति।
अतस्तेषां (स्वविक्षेपे)शिक्षां सुभगमणिमञ्जीररणित-
च्छलादाचक्षाणं चरणकमलं चारुचरिते ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—आचक्षाणः = बातें करता हुआ।

अर्थः—हे चारुचरिते ! ऐसा प्रतीत होता है कि तेरे भवन के राजहंस चलते समय तेरी पदन्यास-क्रीड़ा (चाल) का परिचय प्राप्त करने के लिए तेरे खेल का त्याग नहीं करते (अर्थात् तेरे पीछे-पीछे तेरी तरह कदम उठाकर चलते हैं और वे इस खेल का त्याग नहीं करते) और तेरे चलते समय चरण-कमलों में लगी मणियों-युक्त नूपुरों की झंकार का शब्द मानों उनको चलने की शिक्षा का उपदेश कर रहा है।

स्त्रियों की चाल की हंसगति से उपमा दी जाया करती हैं, परन्तु भगवती की चाल से हंस स्वयं चलने की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। दूसरा भाव यह भी है कि परमहंस महापुरुषों की उन्मत्त गति-विधि में शक्ति की क्रीड़ायुक्त मस्ती-भरी चाल का आभास रहता है। जीवन्मुक्त परमहंस ही भगवती के भवन के राजहंस हैं।

पलंग का ध्यान [९२]

गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृतः
शिवः स्वच्छच्छायाघटितकपटप्रच्छदपटः।
त्वदीयानां भासां प्रतिफलनरागारुणतया
शरीरी शृङ्गारो रस इव दृशां दोग्धि कुतुकम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—प्रच्छदपट = चादर। दृशां = दृष्टि को। दोग्धि = दुहता है। कुतुकं = कौतूहल।

अर्थः—ब्रह्मा, हरि, रुद्र और ईश्वर द्वारा रक्षा किये जाने वाले (क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत चक्र) तेरे मंच के चार पाये हैं अर्थात् चारों तेरा मंच बनाते हैं। उस पर बिछी हुई स्वच्छ छाया की बनी हुई कपट रूपी माया की चादर शिव है, जो तेरी प्रभा के झलकने के कारण अरुण दीख पड़ने से ऐसी प्रतीत होती है मानों शृंगार रस शरीरी बनकर दृष्टि में कौतूहल उत्पन्न कर रहा है।

शिव-शक्त्यात्मक प्रथम स्पन्द आज्ञा चक्र में, सदाख्य अर्थात् अर्धनारीश्वर शिव विशुद्ध में, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा क्रमशः नीचे के चारों चक्रों में अधिदेव हैं। रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा शुद्ध विद्या के अन्तर्गत हैं और जीव (पुरुष) माया के अन्तर्गत है। अन्य २४ तत्त्वों का संघातरूपी देह अशुद्ध विद्या के अन्तर्गत है। अशुद्ध विद्या के रूप को सुप्त कुण्डलिनी कहा जा सकता है। जागकर वह सब तत्त्वों की शुद्धि करती हुई विशुद्ध चक्र में अपने विशुद्ध रूप में विराजने लगती है। हम ऊपर भी एक स्थान पर कह आये हैं कि प्रसुप्त अवस्था में शक्ति का स्थान मूलाधार के पास सुषुम्ना से बाहर और जागने पर सुषुम्ना के भीतर स्वाधिष्ठान चक्र में है; परन्तु विशुद्ध स्वरूप में वह विशुद्ध चक्र में ही रहती है। इस श्लोक में भगवती के इस रूप का ही वर्णन है।

इस श्लोक के साथ ३७वें श्लोक को एक बार फिर पढ़

लेना चाहिये। यहां व्योमेश्वर और व्योमेश्वरी का चित्र खींचा गया है। शिव को यदि स्वच्छ छाया घटित आकाशमयी मायावी चादर सदृश समझा जाय तो शक्ति को उसमें स्फटिकवत् झलकने वाली अरुणिमा समझना चाहिये।

श्री चक्र को भी भगवती का मंच कहा जा सकता है। ईशान कोण में ईश्वर, अग्नि कोण में रुद्र, नैऋत्य कोण में विष्णु और वायव्य कोण में ब्रह्मा समझना चाहिये। अथवा पूर्व में ब्राह्मी (ईश्वरी) मातृ देवता, दक्षिण में रौद्री, पश्चिम में कौमारी और उत्तर में वैष्णवी मातृ देवता अर्थात् प्रत्येक की शक्ति को देव के वाम ओर में देखना चाहिये जो चारों द्वारों पर स्थित हैं। श्रीचक्र को आकाश रूपी स्फटिक का बना हुआ समझना चाहिये। उस पर शिव रूपी चादर है और अरुणिमा रूपी शक्ति है। वैन्दव स्थान पर शक्ति का आसन है। श्री चक्र की रश्मियां दशों दिशाओं में भुक्ति-मुक्ति सहित अणिमादि सिद्धियों के रूपों में फैल रही हैं।

यहां तक भगवती के अंगों का पृथक्-पृथक् ध्यान बताकर इस श्लोक से पूरे शरीर का ध्यान कहा है—

पूरे शरीर का ध्यान

[६३]

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा[1] गात्रे दृषदिव कठोरा कुचतटे।

भृशंतन्वी मध्ये पृथुरपि[2] वरारोहविषये
जगत् त्रातुं शंभोर्जयति करुणा काचिदरुणा ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—अराला=कुटिल । पृथु=भारी, बड़ा। वरारोह=सुन्दर नितम्ब । उपल=रत्न । उरसिज=कुच । काचित्=कचते (प्रकाशित) इति काचित, चमकती हुई अथवा काच के सदृश अथवा कोई भी जिसको हम नहीं जान सकते। करुणा काचिदरुणा=करुणा का अर्थ काचित् अरुणा किया जाना चाहिये।

अर्थः—शम्भु की करुणा (अर्थात् दया) की, जगत् की रक्षा करने के लिए मानों जो काचित अरुणा है, सर्वत्र जय हो रही है जिसके अर्थात् अरुणा भगवती के केश स्वाभाविक सरलता लिये हुए घुंघराले अर्थात् कुटिल हैं, मन्द-मन्द हँसी मुख पर है, गात्र अथवा चित्त शिरीष की आभा लिये हुए है, कुच पत्थर सदृश कठोर हैं (अथवा स्फटिक की शोभायुक्त हैं), मध्य में कटिभाग अति पतला है और नितम्ब भारी हैं (अथवा कुचों का उठाव भारी है) ।

पाठान्तर को ग्रहण करने से शरीर के स्थान पर चित्त और नितम्ब के स्थान पर कुचों का दुबारा वर्णन हो जाता है। चित्त को स्फटिक से उपमित तो किया जा सकता है, परन्तु देह की शोभा का वर्णन किया जाना अधिक उपयुक्त

पाठान्तरः—१. चित्तेदृपदुपलशोभा। २. पृथुरुरसिजारोह।

लगता है और कुचों को दुबारा न बताकर नितम्बों का भी वर्णन आना अत्यावश्यक है, इसलिये हमने पाठान्तरों को पृथक् दिखा दिया है।

शम्भु की करुणा और अरुणा दोनों एक ही हैं। अरुणा भगवती का एक नाम है और उसके अरुण वर्ण के कारण प्रसिद्ध है। करुणा भी 'क'कार पूर्वक अरुणा ही है, इसलिये ककार से काचित् का भाव व्यक्त होता है। काचित् का अर्थ 'कोई' होने से करुणा को अरुणा का एक अंश समझना चाहिये अर्थात् परा शक्ति अरुणा जिसको कोई नहीं जान सकता, वह शम्भु की करुणा के रूप में ही जानी जा सकती है।

दूसरा भाव यह भी है कि शम्भु के स्फटिक अथवा काँच सदृश स्वच्छ शरीर में प्रतिफलित होने वाली अरुणिमा ही भगवती अरुणा की छवि करुणा के स्वरूप में दीख रही है। कुटिलता, हिंसा और कठोरता करुणा के विरोधी भाव होते हैं। दया का मन्द पड़ना भी एक कमी का लक्षण है और किसी भाव का तनु होना उसके क्षीण होने का पूर्व रूप है। इसलिये शम्भु की करुणा में कुटिलता, हिंसा, कठोरता, मन्दपना और तनु का भाव नहीं होना चाहिये, क्योंकि शम्भु की करुणा के रूप में जगत् की रक्षा के लिये ही अरुणा ने यह रूप धारण किया है। अराल का अर्थ कुटिल होता है, परन्तु कुटिलता भगवती के केशों की शोभा बढ़ा रही

है। शम्भु की करुणा कभी मन्द नहीं पड़ती, परन्तु मन्दपना हंसी में रहकर करुणा की वृद्धि करता है।

शिरीष की व्युत्पत्ति 'शृ' धातु से है (शृ हिंसायां शृणाति शीर्यते वा इति शिरीषः) अर्थात् जो काटा जाता है अथवा जो फैलता है, वह शिरीष कहलाता है। शिरीष (सिरस) एक वृक्ष का नाम है जो कल्याण का सूचक है। अर्थात् भगवती में हिंसा का भाव ऐसा है जैसा कि सिरस में (क्योंकि भगवती का शरीर सिरस की आभायुक्त है) जो सारे जगत् का कल्याण करने में सदा तत्पर रहता है।

जैसे कुटिलता को भगवती ने केशों में धारण करके उनकी शोभा को बढ़ाया है और फिर भी पीठ पर पीछे की ओर फेंक दिया है, इसी प्रकार कठोरता भी दया का विरोधी भाव है, उसे भगवती ने अपने पयोधरों में धारण कर लिया है। दूध पिलाकर पोषण करने वाले स्तनों में कठोरता रहने पर भी वे दयार्द्रता से टपकते रहते हैं, क्योंकि भगवती का सारा शरीर शिरीष वृक्षवत् कल्याण-वपुः है।

शम्भु की करुणा में कुटिलता, हिंसा और कठोरता के विरोधी भावों को स्थान कहां? वे इतने दयालु हैं कि उनकी करुणा में कभी कमी नहीं आती, वह सदा सर्वदा पूर्ण हैं, फिर तनु अथवा क्षीण होने की तो सम्भावना ही कैसे हो सकती है? इसलिये वह पृथु अर्थात् महती करुणा

है। पृथु भाव भगवती ने नितम्बों में धारण किया हुआ है। नीचे नितम्ब भाग का भारीपन स्थिरता का द्योतक है अर्थात् शम्भु की करुणा नित्य है। परन्तु भगवती का कटि प्रदेश अति तनु भी है, यद्यपि यह स्त्रियों की शोभा का लक्षण है, तो भी करुणा का मध्य भाग तनु होने से उसके क्षीण होने की सम्भावना की भ्रांति हो सकती है, परन्तु यह बात नहीं है। कटि प्रदेश में मणिपूर चक्र रुद्र का स्थान होने से, भगवती में रुद्र का रौद्र भाव अर्थात् क्रोध अति तनु* हो गया है अर्थात् क्षीणवत् तनु है मानों भगवती ने रुद्र के रौद्र भाव को मेखला सदृश कस रखा है।

अभिप्राय यह है कि भगवती का शरीर मानों शम्भु की दया का अवतार है जो जगत् की रक्षा करने के लिये अवतीर्ण हुआ है।

इस श्लोक में यह भाव भी प्रतीत होता है कि सद्गुरु-स्वरूप शिव के अनुग्रह से जिस शक्ति की जागृति होती है और उपरोक्त करुणा के स्वरूप में साधकगण जिसे अपने अन्तर में अनुभव करते हैं, वह शम्भु की करुणा ही है। अर्थात् शिव स्वरूप गुरु का अनुग्रह शम्भु का ही अनुग्रह है जिससे शिष्य में शक्ति का उत्थान होता है। इसलिये गुरु-कृपा, शक्ति की अभिव्यक्ति और शंभु की करुणा– तीनों पर्यायवाची हैं।

---

*नोट:—देखें योगदर्शन सूत्र २, ४ में ५ क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—चार अवस्थायें।

लक्ष्मी का पात्र रहता है, पर तेरे चरण समयाचार के उपासकों को खूब लक्ष्मी देते हैं।

अर्थात् तेरे चरणों को कमल की उपमा कैसे दी जा सकती है ? कदापि नहीं दी जा सकती।

[८८]

पदं ते कीर्त्तीनां प्रपदमपदं देवि विपदां
कथं नीतं सद्भिः कठिनकमठीखर्परतुलाम्।
कथंचिद्बाहुभ्यामुपयमनकाले पुरभिदा
यदादाय न्यस्तं दृषदि दयमानेन मनसा ।।

अर्थः—हे देवि ! तेरा पद कीर्तियों का प्रपद (स्थान) है और विपदाओं का अपद है। न जाने सत्पुरुषों ने उसकी तुलना कछुवे की कठिन खोपड़ी से कैसे की है ! वह इतना कोमल है कि विवाह के समय पुरारि ने दयार्द्र मन से किसी प्रकार (अर्थात् बड़ी हिचकिचाहट और संकोच के साथ) दोनों हाथों से उठाकर उसे पत्थर पर रखा था।

विवाह में फेरों या भांवरों के समय वर, वधू के एक चरण को अपने हाथों से उठाकर पत्थर पर रखकर कहता है कि हे देवि ! तू धर्म पालनार्थ अपना चित्त इतना दृढ़ रखना जैसा कि यह पत्थर है।

कैवल्यशर्मा का मत है कि यह श्लोक मद्रास की भाषाओं की प्रतियों में नहीं मिलता, इसलिये क्षेपक है।

[८६]

नखैर्नाकिस्त्रीणां करकमलसंकोचशशिभि-
स्तरूणां दिव्यानां हसत इव ते चण्डि चरणौ ।
फलानि स्वःस्थेभ्यः किसलयकराग्रेण ददतां
दरिद्रेभ्यो भद्रां श्रियमनिशमह्नाय ददतौ ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—नाक=स्वर्ग। किसलय=पत्र, पल्लव। अह्नाय—तुरन्त । स्वःस्थ—स्वावलम्बी, स्वर्ग निवासी। अनिशं—निरन्तर ।

अर्थ—हे चण्डी! तेरे दोनों चरण अपने नखों से कल्पवृक्षों का परिहास-सा कर रहे हैं, जो नख देवांगनाओं के कर रूपी कमलों को (हाथ जोड़ते समय) बन्द करने के लिए संख्या में १० चन्द्रमा के सदृश हैं। कल्पवृक्ष तो स्वर्ग में रहने वाले स्वावलम्बी देवताओं को ही अपने पल्लव रूपी कराग्रों से फल देते हैं, परन्तु तेरे चरण दरिद्रियों को निरन्तर, तुरन्त और बहुत धन देते रहते हैं।

कल्पवृक्ष से स्वर्ग-निवासियों को ही लाभ है, यहां के दरिद्रियों को कुछ नहीं।

[९०]

ददाने दीनेभ्यः श्रियमनिशमाशाऽनुसदृशी-
ममन्दं सौन्दर्यप्रकरमकरन्दं विकिरति ।

तवास्मिन्मन्दारस्तवकसुभगे यातु चरणे
निमज्जन्मज्जीवः करणचरणः षट्चरणताम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—करण चरणः=इन्द्रियों रूपी चरण वाला। षट्चरण—भौंरा, मधुकर।

अर्थः—इस तेरे चरण में जो मंदार वृक्ष के पुष्पों के स्तवक जैसा सुन्दर है, दीनों को उनकी आशा के अनुसार निरन्तर लक्ष्मी देता रहता है, सौन्दर्यराशि के मकरन्द को खूब फैलाता रहता है और मन्दार के पुष्पों के स्तवक सदृश सुभग है, उसमें मेरा ५ ज्ञानेन्द्रिय और १ अन्तःकरण रूपी ६ चरण वाला यह जीव छः चरणों वाला मधुकर बनकर डूबा रहे।

अर्थात् मैं भौंरे की तरह तेरे चरण कमल पर मनसा-वाचा-कर्मणा अपना सर्वस्व, सब इन्द्रियों और मन के व्यापारों को समर्पण कर दूँ।

चरणों की गति का ध्यान [९१]

पदन्यासक्रीडापरिचयमिवारब्धुमनस-
श्चरन्तस्ते (स्खलन्तस्ते) खेलं भवनकलहंसा न जहति।
अतस्तेषां (स्वविक्षेपे)शिक्षां सुभगमणिमञ्जीररणित-
च्छलादाचक्षाणं चरणकमलं चारुचरिते ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—आचक्षाणः=बातें करता हुआ।

अर्थः—हे चारुचरिते ! ऐसा प्रतीत होता है कि तेरे भवन के राजहंस चलते समय तेरी पदन्यास-क्रीड़ा (चाल) का परिचय प्राप्त करने के लिए तेरे खेल का त्याग नहीं करते (अर्थात् तेरे पीछे-पीछे तेरी तरह कदम उठाकर चलते हैं और वे इस खेल का त्याग नहीं करते) और तेरे चलते समय चरण-कमलों में लगी मणियों-युक्त नूपुरों की झंकार का शब्द मानों उनको चलने की शिक्षा का उपदेश कर रहा है।

स्त्रियों की चाल की हंसगति से उपमा दी जाया करती है, परन्तु भगवती की चाल से हंस स्वयं चलने की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। दूसरा भाव यह भी है कि परमहंस महापुरुषों की उन्मत्त गति-विधि में शक्ति की क्रीड़ायुक्त मस्ती-भरी चाल का आभास रहता है। जीवन्मुक्त परमहंस ही भगवती के भवन के राजहंस हैं।

पलंग का ध्यान [९२]

गतास्ते मञ्चत्वं द्रुहिणहरिरुद्रेश्वरभृतः
शिवः स्वच्छच्छायाघटितकपटप्रच्छदपटः।
त्वदीयानां भासां प्रतिफलनरागारुणतया
शरीरी शृङ्गारो रस इव दृशां दोग्धि कुतुकम् ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—प्रच्छदपट = चादर। दृशां = दृष्टि को। दोग्धि = दुहता है। कुतुकं = कौतूहल।

अर्थः—ब्रह्मा, हरि, रुद्र और ईश्वर द्वारा रक्षा किये जाने वाले (क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर और अनाहत चक्र) तेरे मंच के चार पाये हैं अर्थात् चारों तेरा मंच बनाते हैं। उस पर बिछी हुई स्वच्छ छाया की बनी हुई कपट रूपी माया की चादर शिव है, जो तेरी प्रभा के झलकने के कारण अरुण दीख पड़ने से ऐसी प्रतीत होती है मानों शृंगार रस शरीरी बनकर दृष्टि में कौतूहल उत्पन्न कर रहा है।

शिव-शक्त्यात्मक प्रथम स्पन्द आज्ञा चक्र में, सदाख्य अर्थात् अर्धनारीश्वर शिव विशुद्ध में, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा क्रमशः नीचे के चारों चक्रों में अधिदेव हैं। रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा शुद्ध विद्या के अन्तर्गत हैं और जीव (पुरुष) माया के अन्तर्गत है। अन्य २४ तत्त्वों का संघातरूपी देह अशुद्ध विद्या के अन्तर्गत है। अशुद्ध विद्या के रूप को सुप्त कुण्डलिनी कहा जा सकता है। जागकर वह सब तत्त्वों की शुद्धि करती हुई विशुद्ध चक्र में अपने विशुद्ध रूप में विराजने लगती है। हम ऊपर भी एक स्थान पर कह आये हैं कि प्रसुप्त अवस्था में शक्ति का स्थान मूलाधार के पास सुषुम्ना से बाहर और जागने पर सुषुम्ना के भीतर स्वाधिष्ठान चक्र में है; परन्तु विशुद्ध स्वरूप में वह विशुद्ध चक्र में ही रहती है। इस श्लोक में भगवती के इस रूप का ही वर्णन है।

इस श्लोक के साथ ३७वें श्लोक को एक बार फिर पढ़

लेना चाहिये। यहां व्योमेश्वर और व्योमेश्वरी का चित्र खींचा गया है। शिव को यदि स्वच्छ छाया घटित आकाशमयी मायावी चादर सदृश समझा जाय तो शक्ति को उसमें स्फटिकवत् झलकने वाली अरुणिमा समझना चाहिये।

श्री चक्र को भी भगवती का मंच कहा जा सकता है। ईशान कोण में ईश्वर, अग्नि कोण में रुद्र, नैऋत्य कोण में विष्णु और वायव्य कोण में ब्रह्मा समझना चाहिये। अथवा पूर्व में ब्राह्मी (ईश्वरी) मातृ देवता, दक्षिण में रौद्री, पश्चिम में कौमारी और उत्तर में वैष्णवी मातृ देवता अर्थात् प्रत्येक की शक्ति को देव के वाम ओर में देखना चाहिये जो चारों द्वारों पर स्थित हैं। श्रीचक्र को आकाश रूपी स्फटिक का बना हुआ समझना चाहिये। उस पर शिव रूपी चादर है और अरुणिमा रूपी शक्ति है। वैन्दव स्थान पर शक्ति का आसन है। श्री चक्र की रश्मियां दशों दिशाओं में मुक्ति-मुक्ति सहित अणिमादि सिद्धियों के रूपों में फैल रही हैं।

यहां तक भगवती के अंगों का पृथक्-पृथक् ध्यान बताकर इस श्लोक से पूरे शरीर का ध्यान कहा है—

पूरे शरीर का ध्यान

[६३]

अराला केशेषु प्रकृतिसरला मन्दहसिते
शिरीषाभा[१] गात्रे दृषदिव कठोरा कुचतटे।

भृशंतन्वी मध्ये पृथुरपि[2] वरारोहविषये
जगत् त्रातुं शंभोर्जयति करुणा काचिदरुणा ॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—अराला=कुटिल। पृथु=भारी, बड़ा। वरारोह=सुन्दर नितम्ब। उपल=रत्न। उरसिज=कुच। काचित्=कचते (प्रकाशित) इति काचित, चमकती हुई अथवा काच के सदृश अथवा कोई भी जिसको हम नहीं जान सकते। करुणा काचिदरुणा=करुणा का अर्थ काचित् अरुणा किया जाना चाहिये।

अर्थः—शम्भु की करुणा (अर्थात् दया) की, जगत् की रक्षा करने के लिए मानों जो काचित अरुणा है, सर्वत्र जय हो रही है जिसके अर्थात् अरुणा भगवती के केश स्वाभाविक सरलता लिये हुए घुंघराले अर्थात् कुटिल हैं, मन्द-मन्द हँसी मुख पर है, गात्र अथवा चित्त शिरीष की आभा लिये हुए है, कुच पत्थर सदृश कठोर हैं (अथवा स्फटिक की शोभायुक्त हैं), मध्य में कटिभाग अति पतला है और नितम्ब भारी हैं (अथवा कुचों का उठाव भारी है)।

पाटान्तर को ग्रहण करने से शरीर के स्थान पर चित्त और नितम्ब के स्थान पर कुचों का दुबारा वर्णन हो जाता है। चित्त को स्फटिक से उपमित तो किया जा सकता है, परन्तु देह की शोभा का वर्णन किया जाना अधिक उपयुक्त

पाठान्तरः—१. चित्तेदृपदुपलशोभा। २. पृथुरुरसिजारोह।

लगता है और कुचों को दुबारा न बताकर नितम्बों का भी वर्णन आना अत्यावश्यक है, इसलिये हमने पाठान्तरों को पृथक् दिखा दिया है।

शम्भु की करुणा और अरुणा दोनों एक ही हैं। अरुणा भगवती का एक नाम है और उसके अरुण वर्ण के कारण प्रसिद्ध है। करुणा भी 'क'कार पूर्वक अरुणा ही है, इसलिये ककार से काचित् का भाव व्यक्त होता है। काचित् का अर्थ 'कोई' होने से करुणा को अरुणा का एक अंश समझना चाहिये अर्थात् परा शक्ति अरुणा जिसको कोई नहीं जान सकता, वह शम्भु की करुणा के रूप में ही जानी जा सकती है।

दूसरा भाव यह भी है कि शम्भु के स्फटिक अथवा कांच सदृश स्वच्छ शरीर में प्रतिफलित होने वाली अरुणिमा ही भगवती अरुणा की छवि करुणा के स्वरूप में दीख रही है। कुटिलता, हिंसा और कठोरता करुणा के विरोधी भाव होते हैं। दया का मन्द पड़ना भी एक कमी का लक्षण है और किसी भाव का तनु होना उसके क्षीण होने का पूर्व रूप है। इसलिये शम्भु की करुणा में कुटिलता, हिंसा, कठोरता, मन्दपना और तनु का भाव नहीं होना चाहिये, क्योंकि शम्भु की करुणा के रूप में जगत् की रक्षा के लिये ही अरुणा ने यह रूप धारण किया है। अराल का अर्थ कुटिल होता है, परन्तु कुटिलता भगवती के केशों की शोभा बढ़ा रही

है। शम्भु की करुणा कभी मन्द नहीं पड़ती, परन्तु मन्दपना हंसी में रहकर करुणा की वृद्धि करता है।

शिरीष की व्युत्पत्ति 'शृ' धातु से है (शृ हिंसायां शृणाति शीर्यते वा इति शिरीषः) अर्थात् जो काटा जाता है अथवा जो फैलता है, वह शिरीष कहलाता है। शिरीष (सिरस) एक वृक्ष का नाम है जो कल्याण का सूचक है। अर्थात् भगवती में हिंसा का भाव ऐसा है जैसा कि सिरस में (क्योंकि भगवती का शरीर सिरस की आभायुक्त है) जो सारे जगत् का कल्याण करने में सदा तत्पर रहता है।

जैसे कुटिलता को भगवती ने केशों में धारण करके उनकी शोभा को बढ़ाया है और फिर भी पीठ पर पीछे की ओर फेंक दिया है, इसी प्रकार कठोरता भी दया का विरोधी भाव है, उसे भगवती ने अपने पयोधरों में धारण कर लिया है। दूध पिलाकर पोषण करने वाले स्तनों में कठोरता रहने पर भी वे दयार्द्रता से टपकते रहते हैं, क्योंकि भगवती का सारा शरीर शिरीष वृक्षवत् कल्याण-वपुः है।

शम्भु की करुणा में कुटिलता, हिंसा और कठोरता के विरोधी भावों को स्थान कहां? वे इतने दयालु हैं कि उनकी करुणा में कभी कमी नहीं आती, वह सदा सर्वदा पूर्ण हैं, फिर तनु अथवा क्षीण होने की तो सम्भावना ही कैसे हो सकती है? इसलिये वह पृथु अर्थात् महती करुणा

है। पृथु भाव भगवती ने नितम्बों में धारण किया हुआ है। नीचे नितम्ब भाग का भारीपन स्थिरता का द्योतक है अर्थात् शम्भु की करुणा नित्य है। परन्तु भगवती का कटि प्रदेश अति तनु भी है, यद्यपि यह स्त्रियों की शोभा का लक्षण है, तो भी करुणा का मध्य भाग तनु होने से उसके क्षीण होने की सम्भावना की भ्रांति हो सकती है, परन्तु यह बात नहीं है। कटि प्रदेश में मणिपूर चक्र रुद्र का स्थान होने से, भगवती में रुद्र का रौद्र भाव अर्थात् क्रोध अति तनु* हो गया है अर्थात् क्षीणवत् तनु है मानों भगवती ने रुद्र के रौद्र भाव को मेखला सदृश कस रखा है।

अभिप्राय यह है कि भगवती का शरीर मानों शम्भु की दया का अवतार है जो जगत् की रक्षा करने के लिये अवतीर्ण हुआ है।

इस श्लोक में यह भाव भी प्रतीत होता है कि सद्गुरु-स्वरूप शिव के अनुग्रह से जिस शक्ति की जागृति होती है और उपरोक्त करुणा के स्वरूप में साधकगण जिसे अपने अन्तर में अनुभव करते हैं, वह शम्भु की करुणा ही है। अर्थात् शिव स्वरूप गुरु का अनुग्रह शम्भु का ही अनुग्रह है जिससे शिष्य में शक्ति का उत्थान होता है। इसलिये गुरु-कृपा, शक्ति की अभिव्यक्ति और शंभु की करुणा– तीनों पर्यायवाची हैं।

---

*नोट:—देखें योगदर्शन सूत्र २, ४ में ५ क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—चार अवस्थायें।

भगवती के शृङ्गारार्थ दर्पण का ध्यान

[६४]

समानीतः पद्भ्यां मणिमुकुरतामम्बरमणि-
भंयादास्यादन्तः स्तिमितकिरणश्रेणिमसृणः ।
दधाति त्वद्वक्त्रप्रतिफलनमश्रान्तविकचं
निरातंकं चन्द्रान्निजहृदयपंकेरुहमिव ।।

क्लिष्ट शब्दार्थः—मसृण=चिकना, स्वच्छ । विकचं= प्रफुल्लित, विकसित, खिला हुआ । निरातंक=आतंकरहित, निडर, बिना भय के।

अर्थ.—अम्बर मणि अर्थात सूर्य तेरे चरणों के समीप होने पर मुकुर (दर्पण) का काम दे रहा है। तेरे मुख के भय से उसने अपनी किरणों के समूह को अन्दर छिपा लिया है, इसलिये वह स्वच्छ है और तेरे मुख का प्रतिबिम्ब उसके हृदय-कमल के सदृश सदा विकसित है (क्योंकि तेरा मुख-कमल सदा विकसित रहता है और वह उसका प्रतिबिम्ब है), उसको चन्द्रमा का भय नहीं है । (कमल सूर्य को देखकर खिलता है और रात्रि में मुरझा जाता है, मानों उसे चन्द्रमा से भय लगता है)।

यहां पर सूर्य को दर्पण से उपमा देकर उसमें प्रतिबिंबित भगवती के मुख-कमल को उसके विकसित हृदय-कमल से

उपमित किया गया है। अनाहत चक्र का स्थान हृदय है और वह सूर्यमण्डल का स्थान है। अनाहत चक्र की १२ पंखुड़ियां १२ आदित्य मानी जाती हैं, इसलिये हृदयस्थ सूर्यमण्डल भगवती के चरणों के समीप मुकुरवत् रखा हुआ है। ६२वें श्लोक में भगवती को जिस मंच पर बिठाया गया है, वह विशुद्ध चक्र है और हृदय चक्र उसके नीचे है एवं आज्ञा चक्रस्थ चन्द्रमंडल ऊपर है। दर्पण स्वच्छ होना चाहिये। यदि सूर्य की किरणें उसको ढक लेती हैं तो वे मुकुर को मलीनवत करके मुख के प्रतिबिंबित होने में बाधक होती हैं। परन्तु भगवती के मुख का तेज सूर्य के तेज से भी अधिक है अथवा उसका तेज भगवती के तेज से ही प्रकाश पाता है, इसलिये सूर्य ने भगवती के मुख के भय से अपनी किरणों को अन्तः-स्तिमित कर लिया है और भगवती का प्रफुल्लित मुखकमल उसमें दीखने लगा है।

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥'—गी० १५, १२

भगवती का मुख कमल के सदृश है, इसलिये उसका प्रतिबिंब सूर्य के हृदय कमलवत् जान पड़ता है। कमल रात्रि में संकुचित हो जाता है और दिन में ही खिलता है, इस-लिये ऊपर आज्ञा चक्र में चन्द्रमंडल दीखने से यदि उसके बन्द हो जाने की आशंका की जाय तो वह उचित नहीं है,

क्योंकि भगवती के तेज से ही चन्द्रमंडल चमकता है और उसके प्रतिबिंब को चन्द्रमा से कोई भय नहीं हो सकता।

कठवल्ली ६, ५ की 'यथादर्शे तथात्मनि' इत्यादि श्रुति पर भाष्यकार भगवत्पाद लिखते हैं कि जैसे मलरहित दर्पण में मनुष्य को अपना प्रतिबिंब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही तमोगुण और रजोगुण से शुद्ध होने पर बुद्धि रूपी निर्मल आदर्श पर आत्मतत्त्व का प्रतिबिंब स्पष्ट दीखा करता है। अर्थात् योगियों को प्रत्यक्ष होने वाला हृदय पुरुष परमतत्त्व का प्रतिबिंब है जो ऊर्ध्वोन्मीलित सूर्य और अधोन्मीलित चन्द्र के योग से योगियों के हृदय में सदा क्रीड़ा किया करता है। अथवा वह शक्ति का ही रूप है जो योगियों के हृदयस्थ सूर्यमण्डल रूपी मुकुर में परमतत्त्व का प्रतिबिंब मात्र है।

लक्ष्मीधर के मतानुसार श्लोक ६४, ६६ और १०२—तीनों क्षेपक हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कैवल्य शर्मा के मत से श्लोक ८८ क्षेपक है। शंकर भगवत्पाद ने पूरी शतश्लोकी लिखी थी, इसलिए ३ श्लोक क्षेपक होने चाहियें अर्थात् उक्त चारों में एक श्लोक क्षेपक नहीं है। हमारी समझ में यह ६४वां श्लोक क्षेपक नहीं माना जाना चाहिये, क्योंकि इसकी पूर्व संगति ६५ श्लोक से स्पष्ट है। शृङ्गार के लिए यदि ६५ श्लोकोक्त शृङ्गार का डिब्बा पास में दिखाया जाता है तो शृङ्गार के आवश्यक साधन मुकुर को स्थान क्यों नहीं दिया

जाना चाहिये ? शृङ्गार के लिए शृङ्गार का डिब्बा जितना अनिवार्य है, उतना ही आवश्यक मुकुर भी है।

शृङ्गार के डिब्बे का ध्यान

[९५]

कलङ्कः कस्तूरी रजनिकरबिम्बं जलमयं
कलाभिः कर्पूरैर्मरकतकरण्डं निविडितम्।
अतस्त्वद्भोगेन प्रतिदिनमिद रिक्तकुहर
विधिर्भूयो भूयो निविडयति नूनं तव कृते॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—मरकत=एक हरे रंग की मणि। करण्ड=डिब्बा, पिटारी। निविडितं=भरा हुआ। कुहरं=डिब्बे के भीतर का पोलापन।

अर्थः—चन्द्रबिंब एक मरकत मणि के बने हुए डिब्बे के सदृश है, उसका कलङ्क (काला धब्बा) कस्तूरी का काला रंग है और चमकती हुई कलायें कर्पूर सदृश हैं। दोनों को जल में पीसकर तेरे आभोग के लिये डिब्बे में भरकर रखा हुआ है, जो प्रतिरात्रि खर्च होता रहता है और ब्रह्मा उसे फिर दिन में बार-बार भरता रहता है।

नीचे चरणों के पास सूर्यमण्डल और ऊपर विशुद्ध चक्र में १६ कलायुक्त चन्द्रमण्डल दोनों भगवती के शृंगार के साधन हैं। सूर्यमंडल यदि मुकुर है तो चन्द्रमंडल शृंगार

का डिब्बा है। कृष्णपक्ष भगवती की रात्रि और शुक्लपक्ष दिवस है। शुक्ल और कृष्ण पक्षों को देवताओं के दिन-रात कहते हैं।

भगवती की सपर्या की असुलभता

[९६]

पुरारातेरन्तःपुरमसि ततस्त्वच्चरणयोः
सपर्यामर्यादा तरलकरणानामसुलभा।
तथाह्येते नीताः शतमखमुखाः सिद्धिमतुलां
तव द्वारोपान्तस्थितिभिरणिमाऽऽद्याभिरमराः॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—शतमख=इन्द्र।

अर्थः—तू त्रिपुरारि के अन्तःपुर की रानी है, इसलिये तेरे चरणों की सपर्या पूजा की मर्यादा चंचल इन्द्रियों वाले मनुष्यों को सुलभ नहीं और इन्द्र की प्रमुखता में रहने वाले ये देवगण तेरे द्वार के निकट खड़ी रहने वाली अणिमादि की अतुल सिद्धियों तक ही पहुँच पाते हैं।

देवताओं के पास जो अणिमादि सिद्धियां होती हैं, उन का स्थान भगवती के अन्तःपुर के द्वारों के बाहर ही है, जैसा कि श्रीचक्र के भूगृह के बहिर्द्वारों पर उनका स्थान बताया जाता है और असंयतेन्द्रिय चंचल चित्त वाले मनुष्यों की तो वहां तक गति ही दुर्लभ है। उनको तो भगवती की

पूजा करने का भी सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। कहा है--'देवो भूत्वा देवं यजेत्', और सिद्धियां भी अन्तःपुर में प्रवेश नहीं कर पातीं।

इस श्लोक में असंयमी और सिद्धियों की कामना रखने वाले मनुष्यों की निन्दा की गई है और अगले श्लोक में कुरवक तरु (कांटेदार वृक्षों) के सदृश कषायों से युक्त कुत्सित मनुष्यों में शक्ति के जागरण होने की असंभावना दिखाई गई है।

[६७]

कलत्रं वैधात्रं कतिकति भजन्ते न कवयः

श्रियो देव्याः को वा न भवति पतिः कैरपि धनैः।

महादेवं हित्वा तव सति सतीनामचरमे

कुचाभ्यामासंगः कुरवकतरोरप्यसुलभः॥

क्लिष्ट शब्दार्थः—कुरवक=एक प्रकार का वृक्ष जिसमें पीत, रक्त और नीले रंग के पुष्प होते हैं। लाल फूलों वाला कुरवक कहलाता है, पीले फूलों वाला कुरुण्टक और नीले फूलों वाले को झिंटी कहते हैं। कुत्सित् है 'रव' अर्थात् शब्द जिसका, वह कुरवक।

अर्थः—विधाता की स्त्री सरस्वती को क्या कितने ही कविजन नहीं भजते और कौन थोड़ा-सा भी धनवान् होकर लक्ष्मी का पति नहीं होता? (धनाढ्य को धनपति

या लक्ष्मीपति कहने लगते हैं)। परन्तु, हे सती ! सतियों में श्रेष्ठ ! महादेव को छोड़कर तेरे कुचों का संग तो कुरवक तरु को भी दुर्लभ है।

यहां भगवती का आसंग आलिंगन करने से शक्ति के जागृत होने पर उसकी क्रिया अथवा उसके आवेश का अपने शरीर में अनुभव करने से अभिप्राय है, परन्तु वह कुरवक जैसे कषाययुक्त, कुतर्की, कुवादियों को सुलभ नहीं होता। शक्ति के जाग्रत होने पर तो मनुष्य शिवतुल्य हो जाता है। कवि होना और धनवान होना सुलभ है, परन्तु भगवती का कृपापात्र बनना कठिन है।

[९८]

गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेःपत्निं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम् ।
तुरीया काऽपि त्वं दुरधिगम निःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि ॥

अर्थः—हे परब्रह्म की महाराज्ञि ! शास्त्रों के जानने वाले ब्रह्मा की पत्नि को सरस्वती वाग्देवी कहते हैं, विष्णु की पत्नि को पद्मा (कमला) कहते हैं और हर की सहचरी को पार्वती कहते हैं। परन्तु तू महामाया कोई चौथी ही है। तेरी महिमा असीम है, तूने सारे विश्व को भ्रम में डाल रखा है। तुझको जानना कठिन है।

सरस्वती का बीजमन्त्र ऐं, लक्ष्मी का श्रीं, पार्वती का क्लीं और महामाया का ह्रीं है। वाग्भव कूट का तीसरा अक्षर शक्ति का वाचक है और वर्णमाला का चौथा अक्षर होने से तुरीय पद समाधि का द्योतक है और वह सब बीजाक्षरों के अन्त में रहता है। अनुस्वार भी शक्ति के साथ सदा रहता है, वह शिवात्मक है। इसे कामकला कहते हैं।

घटावस्था [९९]

समुद्भूतस्थलस्तनभरमुरश्चारुहसितं

कटाक्षे कंदर्पो कतिचन कदम्बद्युतिवपुः।

हरस्य त्वद्भ्रान्ति मनसि जनयसिस्म विमला

भवत्या ये भक्ताः परिणतिरमोषामियमुमे ॥

अर्थः—हे उमे! ऊपर उभरे हुए स्थूल स्तनों के भार से युक्त उरुःस्थल, सुन्दर हंसी और कटाक्ष में कंदर्प और कदम्ब वृक्ष की कुछ शोभा वाला शरीर, सब हर के मन में तेरी याद दिलाकर भ्रम उत्पन्न करते हैं, क्योंकि तेरे विमल भक्तों में तेरी तद्रूपता की परिणति के कारण वे तेरे जैसे दीखने लगते हैं।

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। भगवती का निरन्तर चिन्तन करने से भगवती के भक्त भी भगवती के रूप वाले हो जाते हैं। शक्ति जाग्रत होने पर साधक का शरीर आनख-शिख शक्ति

के आवेश से पूर्ण आविष्ट हो जाता है। इस अवस्था को घटावस्था कहते हैं।

यह श्लोक क्षेपक माना जाता है। यह क्षेपक हो सकता है; क्योंकि इसकी संगति पूर्वापर से नहीं मिलती और भगवती के शरीर का इस प्रकार का वर्णन पहले भी आ चुका है।

प्रार्थना   [१००]

कदा काले मातः कथय कलितालक्तकरसं
पिबेयं विद्यार्थी तव चरणनिर्णेजनजलम्।
प्रकृत्या मूकानामपि च कविताकारणतया
यदाधत्ते वाणी मुखकमलताम्बूलरसताम्॥

अर्थः—हे मां! बताओ, वह समय कब आयेगा जब मैं, एक विद्यार्थी, तेरे चरणों का धुला हुआ जल (चरणोदक), जो लाक्षारस (महावर) के रंग से लाल हो रहा है, पान करूंगा जिसमें सरस्वती के मुखकमल से निकले हुए पान की पीक के सदृश, जन्म के गूंगे को भी कविता-शक्ति प्रदान करने की क्षमता है!

यहां 'अयं विद्यार्थी' पद से अनुमान होता है कि जिस समय यह स्तोत्र लिखा गया था, उस समय शंकर भगवत्पाद विद्यार्थी ही थे। वैसे तो मनुष्य जीवन भर विद्या का प्रार्थी

रहता है, परन्तु विद्यार्थी शब्द रूढ़ी अर्थ में गुरुकुल में रहने वाले विद्यार्थी के लिये ही प्रयुक्त होता है।

[१०१]

सरस्वत्या लक्ष्म्या विधि हरि सपत्नो विहरते
रतेः पातिव्रत्यं शिथिलयति रम्येण वपुषा।
चिरञ्जीवन्नेव क्षपितपशुपाशव्यतिकरः
परानन्दाभिख्यं रसयति रसं त्वद्भजनवान्॥

अर्थः—तेरा भजन करने वाला मनुष्य सरस्वती और लक्ष्मी दोनों से युक्त होकर ब्रह्मा और हरि के सापत्निडाह का पात्र बनकर विहार करता है और सुन्दर रम्य शरीर से रति (कामदेव की स्त्री) के भी पातिव्रत्य धर्म को शिथिल करता है अर्थात् वह विद्वान्, धनाढ्य और सुन्दर रूप-लावण्ययुक्त शरीर वाला हो जाता है तथा पशुपाश के दुःखों को नष्ट करके चिरकाल तक परमानन्द के रस का रसास्वाद लेता हुआ जीवित रहता है।

बंधन में पड़ा हुआ जीव पशु कहलाता है और राग रूपी पाश संसार रूपी खूंटे से बांधने की रस्सी है। कहीं-कहीं आठ पाशों का भी जिकर आता है; वे ये हैं - घृणा, लज्जा, भय, निन्दा, शोक, जाति, कुल और शील। परन्तु भावनोपनिषद् में मोह अथवा राग को ही पाश कहा है। श्वेता-

श्वतरोपनिषद् के १, ४ में भी एक ही पाश बताया गया है. जैसे– 'अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं' इत्यादि।

अगला १०२वां श्लोक भी क्षेपक समझा जाता है। हम कह आये हैं कि लक्ष्मीधर के मत के अनुसार ६४, ९६ और १०२ श्लोक क्षेपक हैं और कैवल्य शर्मा ८८वें श्लोक को ही क्षेपक मानते हैं। अनुमान से भगवत्पाद ने पूरे १०० श्लोक का ही यह स्तोत्र लिखा होगा। हमारी समझ में ६४वां श्लोक क्षेपक नहीं होना चाहिये। इसलिये ८८, ९९ और १०२–ये तीन श्लोक क्षेपक कहे जा सकते हैं। ६६वें श्लोक का क्षेपक होना तो स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि अन्तिम दो श्लोकों को ग्रंथ का अंग न माना जाय, क्योंकि उनमें ग्रंथ की स्वीकृति के लिये भगवती से पृथक् प्रार्थना की गई है अर्थात् जिसके लिये प्रार्थना की गई है, वह ग्रंथ पूरे १००वें श्लोक पर समाप्त होता है, तो प्रार्थना के इस १०२वें श्लोक को भी क्षेपक कहना उचित नहीं। इस दृष्टि से एक ही श्लोक क्षेपक कहा जा सकता है। वह ९९वां श्लोक हो सकता है अथवा ८८वां ? ८ और ९ के अंक के पढ़ने में भ्रांति होने के कारण किसी ने ८८ को, किसी ने ९९ को क्षेपक समझ लिया है और संभव है ९९ के स्थान पर ८८ को गलती से क्षेपक कह दिया गया हो।

समर्पण

[१०२]

निधे नित्यस्मेरे निरवधिगुणे नीतिनिपुणे
निराधाटज्ञाने नियमपरचित्तैकनिलये ।

नियत्या निर्मुक्ते निखिलनिगमान्तस्तुतपदे
निरातंके नित्ये निगमय ममापि स्तुतिमिमाम् ॥

अर्थः—हे सदा हंसमुखी, असीमगुणनिधे, नीति-निपुणे, निरतिशयज्ञानवती, नियमपरायण, भक्तों के चित्त में घर करने वाली, नियति से निर्मुक्त अर्थात् नियति से अतीते, सर्व शास्त्र उपनिषद् जिसके पद की स्तुति करते हैं ऐसी अभये, सनातनि नित्ये! मेरी इस स्तुति को भी स्वीकार करके अपने निगमों में स्थान दो।

[१०३]

प्रदीपज्वालाभिर्दिवसकरनीराजनविधिः
सुधासुतेश्चन्द्रोपलजललवैरर्घ्यरचना।
स्वकीयैरम्भोभिः सलिलनिधिसौहित्यकरणं
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम् ॥

अर्थः—हे जननि! तेरी प्रदान की हुई वाक्शक्ति से की गई इस स्तुति के शब्द इस प्रकार हैं जैसे दीपक की ज्वालाओं से सूर्य की आरती उतारना अथवा चन्द्रकान्त मणि से टपकते हुए जलकणों से चन्द्रमा को अर्घ्य प्रदान करना अथवा समुद्र का सत्कार उसी के जल से करना।

—०: ★ :०—

उपसंहार



शास्त्रों में कर्म, भक्ति, ध्यान और ज्ञान भेद से अध्यात्म-साधन के सोपानक्रम के तीन स्तर कहे गये हैं। इनकी साधन-पद्धतियों में भिन्नता अवश्य है, परन्तु सब के आधार में एक ही मूल सिद्धान्त है, इसलिये परस्पर में एक-दूसरे के विरोधी न होते हुए वे अधिकारी भेद से सबको उत्तरोत्तर एक ही लक्ष्य पर पहुंचाते हैं। श्रीकृष्ण भगवान ने सब साधनों की उपयोगिता बताते हुए सब जिज्ञासुओं को तीन प्रकार का अधिकारी माना है। प्रथम श्रेणी के वे पुरुष हैं जिनको धन-दारादि में दृढ़ आसक्ति है वे कर्मयोग के अधिकारी होते हैं। दूसरी श्रेणी के वे पुरुष हैं जिनको संसार से तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया है, वे ज्ञान-ध्यान के अधिकारी होते हैं। तीसरे मध्यम श्रेणी के मनुष्य वे हैं जिनका चित्त संसार की आपत्तियों से व्याकुल रहता है, परन्तु घर की आसक्ति का त्याग नहीं कर सकते। उनको भक्ति योग का अधिकारी समझना चाहिये जिनके लिये भक्ति उपासना का मार्ग ही श्रेयस्कर होता है। यद्यपि सब साधनों का लक्ष्य शुद्ध चेतन-स्वरूप परमात्मतत्त्व की प्राप्ति ही होता है, तो भी ऐहिक और पारलौकिक भोगों की प्रबल वासना

उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अग्रसर होने में बाधा डालती रहती है। ज्यों-ज्यों अनेक दृष्ट और अनुश्रविक अर्थात् देखे और सुने विषयों की तृष्णा कम होती जाती है, चित्त की स्वस्थता उन्नत होती जाती है और वृत्तियां बाह्य विषयों का आश्रय त्याग कर अभ्यन्तर नित्य अखंड आनन्दमयी आत्म-ज्योति का अवलम्बन पकड़ने लगती हैं। बाह्य विषयों से शनैः-शनैः क्रमशः, विरक्तिपूर्वक शुद्ध आत्मज्योति का प्रकाश एवं साक्षात्कार होने तक सारी साधन-यात्रा को बाह्य, अभ्यन्तर और मिश्रित उपासना भेद से तीन स्तरों पर बांटा जाता है। उनको बहिर्याग और अन्तर्याग अथवा अपरा और परा पूजा भी कहते हैं। शुद्ध सात्त्विक चेतन सत्ता एक परमात्मा की ही है और देहादि की उपाधियों के योग से प्रतिभासित होने वाली चेतना जीव कहलाती है। इसलिये चित्त की वृत्तियों को सब उपाधियों से हटाकर शुद्ध चेतन सत्ता पर लगाना ही सब साधनों का सार है जिसका उप-संहार जीवाभिमान के सर्वथा नष्ट होने पर सब वृत्तियों के परमतत्त्व में विलीनीकरण द्वारा होता है। कर्मयोगी उसे स्थित-प्रज्ञता कहता है, भक्त उसे जीव-ब्रह्म का सायुज्य योग मानता है और ज्ञानी उसे ब्राह्मी स्थिति जानता है।

इसलिये उपासना सदा चेतन सत्ता की ही की जाती है, जड़ पदार्थों की नहीं। व्यवहार में भी सब मनुष्य पुत्र, कलत्र, मित्र, बंधु, राजा और राज्य कर्मचारियों के देह की

सेवा द्वारा देही आत्मा की ही प्रसन्नता प्राप्त किया करते हैं। परन्तु परम चेतन तत्त्व जिसकी व्यापकता सर्वत्र है, सामान्यतया मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं। उसकी सेवा-उपासना 'ईशावास्यमिदं सर्वं' इस श्रुति के अनुसार यत्र-तत्र-सर्वत्र भावना द्वारा ही प्रतिमादि जड़ प्रतीकों के सहारे आवाहन, पूजन के उपचारों सहित की जानी संभव है। सर्वव्यापी परमेश्वर का आवाहन, अर्चन करने का विनियोग यंत्र, प्रतिमा अथवा प्रतीक विशेष में उसके अस्तित्व की धारणा को दृढ़ कराना मात्र है। इस प्रकार दृढ़ संकल्प और दृढ़ धारणा से सर्वव्यापी की चेतन सत्ता उन जड़ प्रतीकों में इसी प्रकार प्रकट हो जाती है जैसे ईंधन में अग्नि। बाह्य यागों में जैसे मूर्ति अथवा यंत्रों में देव का आवाहन, प्राणप्रतिष्ठा और तदनन्तर पंचोपचार, षोडशोपचार सहित अर्चन, पूजन एवं ध्यान किया जाता है, वैसे ही अन्तर्याग में भी देहरूपी प्रतीक के अंग-प्रत्यंगों में करन्यास, अंगन्यासों द्वारा उसी देव की प्रत्येक अंग संबंधिनी शक्तियों का आवाहन, हृदय में प्राण-प्रतिष्ठा और मानसिक पूजन, ध्यानादि अनेक क्रियाओं का विधान है, जिनका तात्पर्य अपने देह रूपी प्रतीक में उस सर्वान्तर्यामी की जागृति करना है। जब उस देवात्मिका शक्ति का अपने अन्तर में प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है, तब बाह्य प्रतीकों की अपेक्षा नहीं रहती, तो भी वे मूर्तियां और यंत्रादि विशेष आदरणीय बने ही रहते हैं।

इसके पश्चात् उस मनुष्य की उपासना का स्तर सूक्ष्म हो जाता है और उपासना के पीठस्थान स्थूल देह को छोड़कर सूक्ष्म देह के स्तरों पर उठने लगते हैं। पंचतन्मात्राओं, पंचप्राणों और पंच कर्मेन्द्रियों का देह से सुषुम्नागत मूलाधारादि चक्रों द्वारा और पंचज्ञानेन्द्रियों का आज्ञा चक्र द्वारा सम्बन्ध है। साधक इस स्तर पर अपने भावनायुक्त ध्यान को क्रमशः भिन्न-भिन्न चक्रों पर करता हुआ सहस्रार तक ऊपर उठाता है। प्रत्येक चक्र पर प्रत्यक्ष होने वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव प्रभृति सब शिव-शक्ति भेद से एक ही परम चेतन तत्त्व के उस-उस चक्र से सम्बन्धित रूप हैं। उनसे ऊपर नाद, कला, ज्योति, शांति आदि भी उसी परम चिति शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं जो प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आती हैं।

एक ही निर्विशेष चिदात्मा ब्रह्म की सगुण-निर्गुण भेद से उपासना की जाती है। सगुण ब्रह्म के दो भेद हैं—एक जगत् का नियन्ता और दूसरा जगदात्मक अर्थात् सब का अन्तरात्मा। ज्ञान, क्रिया, गुणादि की उपाधि भेद से जैसे एक ही ईश्वर का अनेक रूपों में ध्यानार्चन किया जाता है, वैसे ही उसका स्मरण भी अनेक नामों द्वारा किया जाता है। विष्णुसहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम, दुर्गासहस्रनाम, ललितासहस्रनाम आदि अनेक सहस्रनामावलियां प्रसिद्ध हैं जिनमें पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग पदों

द्वारा ब्रह्मपद का गुणविशिष्ट निर्देश देखने में आता है। वास्तव में ब्रह्म को किसी लिंगवाच्य नहीं कहा जा सकता। भास्करराय अपनी ललितासहस्रनाम की व्याख्या में कहते हैं —'पदानुसारीण्येव हि लिंगानि, न तु वास्तविकं ब्रह्मण्येकमपि लिंगम् ।' अर्थात् ये लिंग पदानुसारी मात्र हैं, वास्तविकता यह है कि ब्रह्म में एक भी लिंग नहीं होता। जैसा कि कहा है—

'पुंरूपं वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा चिन्तयेत् ।
अथवा निष्कलं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥'

अर्थः—हे देवी ! चाहे पुंरूप से उसका स्मरण करो, चाहे स्त्रीरूप से चिन्तन करो अथवा उस निष्फल ब्रह्म पद का ध्यान सत्-चित्-आनन्द लक्षणयुक्त करो ।

बहिर्योगों में भक्त जिसको भगवान् अथवा भगवती पदों से सम्बोधन करता है, उसी को अन्तर्योग वाला साधक प्रज्ञानात्मा, चिदात्मा, चिन्मय अन्तःपुरुष, चिन्मयी या चिति शक्ति कह कर ध्यान और निदिध्यासन करता है। जैसा कि श्रुति कहती है--

'एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यंति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥'

उसी परम तत्त्व को श्रीविद्या के उपासक ललिता महात्रिपुर-सुन्दरी कहते हैं ।

'श्रीचक्रराजनिलया, श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी ।
श्रीशिवा शिवशक्त्यैक्यरूपिणी ललिताम्बिका ।।'—ल०स०

अर्थात् श्रीचक्रराज में निवास करने वाली श्रीमत्त्रिपुर-सुन्दरी श्रीशिवा ललिता अंबिका शिव-शक्ति के भेदरहित ऐक्यरूपा है।

त्रिपुरसुन्दरी का अर्थ भास्करराय इस प्रकार करते हैं:—
'अत्र त्रीणि पुराणि ब्रह्माविष्णुशिवशरीराणि यस्मिन् सः त्रिपुरः परशिवः, तस्य सुन्दरी शक्तिः।'

वायुसंहिता में भी कहा है कि—

'शिवेच्छया पराशक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलंतिलादिव ।।'

अर्थः—वह परा शक्ति सृष्टि के आदि में शिव की इच्छा (संकल्प) से, शिवतत्त्व की एकता रखने वाली उसी (शिव) से परिस्फुरित होती है, जैसे तिलों से तेल।

यही भाव सौन्दर्य लहरी के प्रथम श्लोक में व्यक्त किया गया है।

'ब्रह्मणोऽभिन्नशक्तिस्तु ब्रह्मैव खलु नापरा।'—सौर संहिता

शक्ति ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म ही है, अन्य नहीं। जड़-चेतन भेद से उसके दोनों ही रूप हैं। कहा है:—

'चिच्छक्तिश्चेतनारूपा जडशक्तिर्जडात्मिका।'—ल.स., सौं.ल. २,५

सत्-चित्-आनन्द की अभिव्यक्ति अस्ति, भाति और प्रियता द्वारा सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है। अखिल ब्रह्माण्ड की भौतिक सत्ता सत् शक्ति का कार्य है, उसका ज्ञान प्राणि-मात्र में प्रतिभासित होने वाली चित् शक्ति का परिस्फुरण है और बाह्य ज्ञान से उदय होने वाली प्रियता आनन्द की प्रतिफलित क्रिया है। अर्थात् सत् शक्ति के आसन पर चिति शक्ति महात्रिपुरसुन्दरी विराजमान् है, जिस चिदानन्द-लहरी से पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों व्याप्त हैं और परब्रह्म उसकी आत्मा है (श्लोक ३४)। विश्व उस विश्वरूपा षोडश-कलात्मिका का विराट् देह है, इसलिये स्थूल शरीराभिमानी जागरित स्थानीय बहिःप्रज्ञ एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक्वैश्वानरो जीव उसी का अभिन्न स्वरूप है। ललितासहस्रनाम में कहा है—

'विश्वरूपा जागरिणी स्वपन्ती तैजसात्मिका।'
सुप्ता प्राज्ञात्मिका तुर्यासर्वावस्थाविवर्जिता ॥'

इसी प्रकार स्वप्नस्थानीय अन्तःप्रज्ञ प्रविविक्तभुक् तैजस तैजसात्मिका से और सुषुप्तस्थानीय एकीभूत प्रज्ञानघन आनन्दमय आनन्दभुक् चेतोमुख प्राज्ञ प्राज्ञात्मिका से अभिन्न एक ही रूप हैं। सर्व अवस्थाओं से वर्जित शुद्ध, शान्त, अद्वैत, शिव, चिन्मात्र आत्मा का स्वरूप तुर्यावस्था है।

जैसे जगन्नियन्त्रिणी विराट्रूपा विश्वतोमुखी भगवती का अनुग्रह प्रतिमा विशेष में अथवा ब्रह्माण्ड और पिण्ड के

प्रतीक स्वरूप श्रीयन्त्र में पूजन-अर्चन करने से अनन्यभक्ति द्वारा प्राप्त किया जाता है, वैसे ही अध्यात्म योग-विद्या के जानकार देह को ही श्रीयन्त्र जानकर चिदात्मिका की अन्तर्भावना द्वारा उपासना करते हैं। जैसा कि कहा है:—'अन्तर्मुख समाराध्या बहिर्मुख सुदुर्लभा'—ल०स०। योगीजन उस शक्ति की स्थिति प्राणिमात्र के देह में प्रसुप्त अवस्था में मानते हैं जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं और जो भावना द्वारा जगाई जा सकती है।

'मूलाधारैकनिलया ब्रह्मग्रंथि विभेदिनी। मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रंथि विभेदिनी॥ आज्ञाचक्रान्तरस्था रुद्रग्रंथि विभेदिनी। सहस्राराम्बुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी॥ तडिल्लतासमरुचिः षट्चक्रोपरिसंस्थिता। महाशक्तिः कुण्डलिनी विसतन्तुतनीयसी। भवानी भावनागम्या भवारण्यकुठारिका॥'—ल० स०

भावना दो प्रकार की होती है—आर्थी भावना और शाब्दी भावना। आर्थी भावना प्रवृत्तिरूपा होती है, यह स्थूलरूप है जिसका सावयव अनुभव किया जा सकता है और शाब्दी सूक्ष्म मन्त्रमयी है। योगिनी-हृदय में भावना के तीन प्रकार इस प्रकार कहे गये हैं—

'आज्ञान्तं सकलं प्रोक्तं ततः सकलनिष्कलम्।
उन्मन्यन्ते परे स्थाने निष्कलं च त्रिधा स्थितम्॥'

अर्थ:—मूलाधार से आज्ञा चक्र तक सगुण रूप कहा जाता है, उसके ऊपर उन्मनी तक सगुण-निर्गुण और उसके

अन्त में सहस्रारस्थ परम स्थान पर निष्कल निर्गुण की स्थिति है, इसलिये तीनों में वैसी ही भावना करनी चाहिये। यह आर्थी भावना के भेद हैं।

शाब्दी भावना के अन्तर्गत मन्त्रों का न्यास, प्राणप्रतिष्ठा और जप-स्वाध्याय का समावेश है। वैदिक, तान्त्रिक और पौराणिक भेद से मन्त्र अनेक हैं, परन्तु वे सब एक नादरूपा नामरूप-विवर्जिता शक्ति के ही अनेक पदवाचक रूप हैं। कहा है—

'यदा भवति सा संवित् विगुणीकृतविग्रहा।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः॥
शक्तिस्ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो विन्दुस्तस्मादासीत्परा ततः॥
पश्यन्ति मध्यमा वाणी वैखरीसर्गजन्मभूः।
इच्छाज्ञानक्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका॥
क्रमेणानेन सृजति कुण्डलिन्यर्णमालिकाम्।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्॥'

अर्थः—जब वह संवित् ज्ञानशक्ति विशेष गुणों से युक्त होकर वर्णपदमंत्रविग्रहा अर्थात् पदों का रूप धारण करती है, तब वह शब्द ब्रह्ममयी कुण्डलिनी व्यापिका (विभुः) रूप से शक्ति को जन्म देती है, फिर शक्ति से ध्वनि (महानाद), ध्वनि से नाद, नाद से निरोधिका, उस से अर्धेन्दु, फिर बिन्दु, उस से परा, परा से पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणी का जन्म

होता है। वह तेजोमयी त्रिगुणात्मिका कुण्डलिनी, जो इच्छा-ज्ञान-क्रिया स्वरूपा है, क्रम से वर्णमाला की सृष्टि करती है। वह विश्वात्मिका जब प्रबुद्ध होती है, तब समस्त मंत्रमय जगत् को जन्म देती है।

नादरूपा की व्याख्या करते हुए श्रीभास्करराय कहते हैं कि:—

'ह्रींकारादिषु विन्दोरुपर्यर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तशक्ति व्यापिका: समनोन्मन्याख्या: सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमरूपा अष्टौवर्णा वर्तन्ते तेषुतृतीयो रूपो वर्णोनाद इत्युच्यते। नाद एव रूपं यस्या: सा नादरूपा।'

ह्रीं आदि मंत्रों में बिन्दु के ऊपर अर्धचंद्रिका, रोधिनी, नाद, नादान्त (ध्वनि या महानाद), शक्ति, व्यापिका, समनी और उन्मनी नाम वाले सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम ८ वर्ण होते हैं, उनमें तीसरा वर्ण नाद कहलाता है। नाद है रूप जिसका वह नादरूपा।

शक्ति के सूक्ष्म रूप को भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भेद से त्रिविध समझना चाहिये। उसका सूक्ष्म रूप पंचदशी विद्या है, सूक्ष्मतर रूप कामकला बीजाक्षर और सूक्ष्मतम रूप कुण्डलिनी है। प्रथम के तीन विभाग हैं जिनको क्रमशः वाग्भवकूट, कामराजकूट और शक्तिकूट कहते हैं। पूरे मंत्र को मूल पंचदशाक्षरी विद्या कहते हैं। यह भगवती का सूक्ष्म शरीर है जिसका स्वरूप श्लोक ३२, ३३ में दिया गया है

और सूक्ष्मतर रूप कामकला का रूप श्लोक १९ में देखें।
कुण्डलिनी का वर्णन श्लोक ९, १० में देखें।

श्रीभास्करराय ने अपने वरिवस्यारहस्य में तीनों त्रिकूट-युक्त पंचदशी मंत्र के गायत्र्यार्थ, भावार्थ, संप्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, महातत्त्वार्थ, नामार्थ, शब्द-रूपार्थ, नामैकदेशार्थ, शाक्तार्थ, सामरस्यार्थ, समस्तार्थ, सगुणार्थ और महावाक्यार्थ--इन १५ प्रकार से अर्थ समझाकर भावना करने का उपदेश किया है। कहा भी है--

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'

'पुरुषार्थानिच्छद्भिः पुरुषैरर्थाः परिज्ञेयाः।
अर्थानादरभाजां नैवार्थः प्रत्युतानर्थः॥'—वरिवस्यारहस्य ५६

अर्थः—पुरुषार्थों की इच्छा रखने वाले पुरुषों को अर्थ जानने चाहियें, अर्थ का आदर न करने वालों को अर्थसिद्धि भी नहीं होती, प्रत्युत अनर्थ होता है।

मंत्र की वर्ण संख्या, उनका उद्धार, उच्चारण का काल और मात्रा, उच्चारण, उत्पत्ति-स्थान, आकार, स्वरूप और अर्थयुक्त भावना—ये विद्या के अंतरंग अवयव कहलाते हैं और ऋषि, छंद, देवता, विनियोग, बीज, शक्ति, कीलक, न्यास, ध्यान, नियम और पूजा-अर्चनादि बहिरंग अवयव कहलाते हैं। प्रायः बहिरंग अवयवों से सब लोग परिचित होते हैं, परन्तु अंतरंग अवयवों का ज्ञान उन्हें प्रायः नहीं होता

जिनका ज्ञान मंत्रसिद्धि के लिये अत्यावश्यक है, क्योंकि उनके बिना उपासना को प्राणविहीन जानना चाहिये। जैसे बीज से जड़ और जड़ से भूमि के नीचे और ऊपर वृक्ष का फैलाव होता है, यद्यपि दोनों समान रूप से वृक्ष के अंग हैं परन्तु भूमि के नीचे का फैलाव उसकी जान होती है। इसी प्रकार मंत्र के अंतरंग अवयवों को मंत्र का प्राण समझना चाहिये।

हम ऊपर कह आये हैं कि पंचदशी के १५ अक्षरों का १५ तिथियों से संबंध है और षोडशी का १६वां अक्षर चितिरूपा अमावस्या अर्थात् निर्विकल्प समाधि है। वहां यह भी बताया गया है कि दशमीविद्धा एकादशी उपोष्या नहीं मानी जाती, वरन् द्वादशी विद्धा होनी चाहिये, नहीं तो शुद्धा द्वादशी ही उपोष्या माननी चाहिये। इसी क्रम से मंत्र के जप और न्यास के समय ध्यान रखना जरूरी है। इसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि मूलाधार से लेकर आज्ञा चक्र के ऊपर निरोधिका तक दशमी रहती है, निरोधिका पर एकादशी आती है, उसके ऊपर नाद पर द्वादशी का स्थान है। इसका अर्थ यह है कि नीचे के चक्रों का संबंध ५ कर्मेन्द्रियों से है और आज्ञा से अर्धेन्दु तक ५ ज्ञानेन्द्रियों के स्थान हैं अर्थात् १० तिथियों एवं १० अक्षरों का संबंध दश इन्द्रियों से रहता है। मन एकादशी है। उसका योग जब तक इन्द्रियों से रहता है, वह उपोष्या नहीं होती अर्थात् वह बहिर्मुख

रहती है। बुद्धि को द्वादशी, चित्त को त्रयोदशी, अहंकार को चतुर्दशी और महत्तत्त्व को पूर्णिमा समझना चाहिये। अमावस्या निर्विकल्प स्थिति है। संचित और प्रारब्ध संस्कारों के आशय को अव्यक्त कहते हैं, वह कामेश्वरी है। उसे चिति-रूपा ज्ञानाग्नि में शुद्ध कर लेना है, इसलिये उसको यहां गणना नहीं की गई, जैसा कि कठ श्रुति में कहा गया है कि—

'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषाः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥'—३, ११

इसलिये —

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥'
—कठ ३, १३

अर्थात् महत्तत्त्व से सूक्ष्म अव्यक्त और अव्यक्त से सूक्ष्म परम पुरुष है। वह अंतिम सीमा है। उस से परे कुछ भी नहीं और वही परमगति का स्थान है, इसलिये वाणी आदि इन्द्रियों को बुद्धिमान् मन में ले जाकर (रोक दे), मन को ज्ञानात्मा बुद्धि में ले जावे, बुद्धि को महत् में और महत् को शांत आत्मा में ले जाय। इस क्रम में अव्यक्त को छोड़ दिया गया है।

यदि एकादशी रूपी मन दशमी रूपी इन्द्रियों से बिंधा

रहता है तो द्वादशी रूपी बुद्धि को ही ग्रहण करना चाहिए, उस मन का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि:—

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।'—कठ ३, १२

किसी मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करने के लिये उस मन्त्र को सिद्ध गुरु के मुख से ग्रहण करना चाहिये। गुरु की शक्ति मन्त्र के साथ शिष्य में प्रविष्ट होकर बीज का कार्य करती है, जो शिष्य के अन्तःकरण रूपी क्षेत्र में श्रद्धा की वर्षा से पोषण पाकर अंकुरित होती है और दीर्घकाल निरन्तर सत्कार-सेवित होने पर पूर्ण प्रकाश पाती है। इसलिये गुरु, मन्त्र, शक्ति और शिव—चारों की एकता समझनी चाहिये। द्वैत की भावना में शक्ति और गुरु अथवा शिव का भेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और अद्वैत की सिद्धि के साथ शक्ति की अपने अन्तरात्मा के साथ एकता अनुभव होने लगती है। इस प्रकार गुरु, ईश्वर और आत्मा—तीनों का एकीकरण अनुभव में आता रहता है। कहा है:—

'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवत्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः॥'

श्रीभगवत्पाद ने सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में शिव-शक्ति की अभिन्नता और दूसरे में सत्कारणवाद की पुष्टि करते हुए तीसरे श्लोक में धर्म, अर्थ, काम—तीनों की सिद्धि सहित अज्ञान-तिमिर के नाशार्थ उपासना द्वारा मोक्ष प्राप्ति

की ओर लक्ष्य कराया है। ६ठे-७वें श्लोक में बहिर्ध्यान और ८वें में भगवती के अभ्यन्तर चिति शक्ति के चिदानन्दलहरी स्वरूप को इङ्गित कर के ९-१०वें श्लोकों में तान्त्रिक योगपद्धति के अनुसार षट्चक्रवेध की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि बहिः उपासना का पूर्ण फल कुण्डलिनी के जागरणोपरान्त अन्तर्योग रूपी षट्चक्रवेध होकर परम तत्त्व का अनुभव प्राप्त करने पर होता है।

११ से १३ श्लोकों में बहिरुपासना के लिये ब्रह्माण्ड के प्रतीक स्वरूप यन्त्र का वर्णन और पश्चात् जगन्नियन्त्री के ध्यान एवं अर्चन का फल कहा है। फिर १४ से २१ तक अभ्यन्तर साधन के लिये षट्चक्रों का रहस्य और ध्यान बताकर मूल बीजमंत्र स्वरूप कामकला की ओर लक्ष्य कराया गया है। इस प्रकार मन्त्रयोग द्वारा लय योग, राज योग के सोपानक्रम के पश्चात् भक्ति-उपासना से महावाक्योत्थ ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान की उपलब्धि २२ से ३० श्लोक तक कही गई है। तत्पश्चात् श्रीविद्या की उत्कृष्टता ३१वें श्लोक में बताकर ३२, ३३ श्लोकों में पंचदशी का उद्धार और ३४, ३५ में समष्टि-व्यष्टिगत शक्ति एवं उसके परिणामों द्वारा वाचारम्भण मात्र नामरूपात्मक व्यापारों में सूत्रात्मा शिव का अन्वय-व्यतिरेक ज्ञान से विवेचन किया गया है। श्लोक ३६ से ४१ तक षट्चक्रों का विशेष विवरण दिया गया है। शेष ग्रन्थ

में विराट्रूपा भगवती के ध्यानार्थ और अन्तर्यागार्थ मानसिक उपचारों का सुन्दर निरूपण किया गया है।

भगवती का वर्ण अरुण अर्थात् लाल माना जाता है; इसलिये उसका एक नाम अरुणा भी है। वेद और तन्त्र अग्नि को ही शक्ति का रूप मानते हैं, चिदग्नि, ब्रह्माग्नि, ज्ञानाग्नि पदों के प्रयोग इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। अग्नि का भी वर्ण अरुण है। अग्नि जब शान्त हो जाती है, तब उसका अपने कारण स्वरूप ब्रह्म में विलीनीकरण होता है, इसी अभिप्राय से हवन में आहुतियां देने से वे जिस-जिस देवता को लक्ष्य करके दी जाती हैं, उसी-उसी देव को पहुँचती हैं, क्योंकि ब्रह्म में सभी देवों का समावेश है। भगवान् गीता में कहते हैं कि: -

'येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥—६ २३
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्तिते ॥'—६,२४

अर्थात् जो लोग श्रद्धा से युक्त होकर किसी भी अन्य देवता का भजन करते हैं, वे मेरा ही भजन करते हैं। उनका वह भजन विधिपूर्वक नहीं होता, क्योंकि वास्तव में सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु मैं ही हूं, परन्तु वे मेरे तात्त्विक स्वरूप को नहीं जानते, इसलिये उनका उपास्यभाव परमतत्त्व से च्युत होकर नीचे के स्तरों पर रह जाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण की श्रुति कहती है – 'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (१.४)। अर्थात् अग्नि सब देवताओं में प्रथम है, इसलिये सब का मुख है। शिव का प्रथम स्पन्द शक्ति के रूप में प्रकट होता है, इसलिये शक्ति ही सर्वप्रथम देवता है और वह स्वयं अग्नि स्वरूप ही है। ललितासहस्रनाम में भी भगवती को चिदग्निकुण्ड-सम्भूता कहा गया है अर्थात् चिद्-ब्रह्म वह अग्निकुण्ड है जिसमें से भगवती की उत्पत्ति होती है, इसलिये महात्रिपुरसुन्दरी को चिति शक्ति कहते हैं। चित् और चित् से उत्पन्न होने वाली चिति शक्ति एक ही हैं। ज्ञानाग्नि अज्ञान रूपी सब कर्माडम्बर को भस्मसात् कर देती है, जैसे अग्नि सब ईंधन को भस्म कर देती है।

'ज्ञानाग्निः सर्वं कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।'—गीता ४,३७

अग्नि शान्त हो जाने पर ईंधन की जो राख बचती है, वह भी इतनी पवित्रता लिये होती है कि किसी भी अपवित्र एवं गन्दे पदार्थ पर डालने से उस से उत्पन्न होने वाली घृणा को दूर कर देती है और अग्नि में जलकर चन्दन और विष्ठा एक समान हो जाते हैं। इसलिये तान्त्रिक शक्ति-उपासना को वैदिक अग्नि-उपासना की आश्रयीभूता याज्ञिक पद्धति की ही उपासना का साधनक्रम समझना चाहिये, जिस प्रकार कि उपनिषदों में भी अनेक उपासनाओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु उन सब उपासनाओं का उपसंहार जैसे ब्रह्मात्मैक्य अनुभूति में किया गया है, वैसे ही यहां पर भी समझना

चाहिये। वेदों में 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि ऋचाओं द्वारा लक्ष्य करके जिस देवता का यज्ञों में आह्वान किया गया है, वह देवता सच्चिदानन्दरूपा ब्राह्मी शक्ति के सिवाय दूसरा कौन हो सकता है ? यास्काचार्य ने अग्नि का अर्थ अग्रणी भी किया है। इस अभिप्राय से भी स्थूल अग्नि द्वारा सर्व-प्रथमकारणभूता चिदग्नि की ही उपासना मह्णीय है। उपनिषदों में अग्नि को ब्रह्म की एक कला कहा गया है, जैसे:—

'अग्निःकला सूर्यःकला चन्द्रःकला विद्युत्कलैष वै
सौम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम।'—छा० ४,७,३

वाक् को भी ब्रह्म मानकर उपासना करने की विधि बताई गई है। जैसे 'वाग्वै ब्रह्मेति' (बृ० ४,१,२), 'वाचं ब्रह्मेति उपास्ति' (छा० ७, २, २) इत्यादि। और वाक् को अग्नि का ही सूक्ष्म रूप कहा गया है (तेजोमयी वाक्)। इस प्रकार कारण, सूक्ष्म और स्थूल भेद से चितिशक्ति, वाणी और स्थूल अग्नि की एकरूपता मानकर हवन में आहुति द्वारा मंत्र के जपपूर्वक चिन्मात्र की भावना करने से एक ही ब्रह्म की सगुणोपासना की जाती है।

वैदिक उपासना के इस सिद्धान्त के आधार पर चिदग्नि-कुण्ड-सम्भूता ब्रह्ममयी शक्ति को भगवती अरुणा महात्रिपुर-सुन्दरी नाम देकर तान्त्रिक रूप दिया गया है, जो योग की ही एक पद्धति है और जिसका निर्माण दीर्घ अनुभूति की

नींव पर किया गया है। श्रीमच्छंकर भगवत्पाद ने उसे उपासकों के लाभार्थ सौन्दर्यलहरी का सुन्दर रूप देकर वैदिक कर्मकाण्ड से अनभिज्ञ कलिकाल के जिज्ञासुओं पर परम अनुग्रह किया है।

संक्षेप में सब साधनपद्धतियों का समावेश इन तीन मंत्रों में किया जाता है:—(१) 'ॐ तत् सत्' अर्थात् वह ॐ स्वरूप ब्रह्म सत् स्वरूप है, (२) 'सच्चिदेकं ब्रह्म'—वह सत्-चित्स्वरूप भी है और सारे चेतन जगत् में एक ही चित्सत्ता है जिसे ब्रह्म कहते हैं, (३) 'आनन्दं ब्रह्म'- उस ब्रह्म की अनुभूति ब्रह्मानन्द के आवेश में होती है। निम्न कोटि के साधकों को सारे जगत् में ईश्वर की सत्ता की व्यापकता की कल्पना करने का उपदेश प्रथम मंत्र द्वारा किया गया है। दूसरी श्रेणी के साधकों को दूसरे मंत्र के द्वारा अपनी चेतना में ब्रह्मभावना करने का उपदेश है जिसका अभ्यास महावाक्यों के मनन-निदिध्यासन द्वारा किया जाता है और अपने अन्तर में आत्मानन्द के आवेश की जागृति होने पर उसकी आश्रयीभूता आत्मस्थिति द्वारा प्राप्त होने वाली ब्राह्मी स्थिति का साधन तीसरे भाव की प्रत्यक्ष अनुभूति है। यह अन्तिम साधनपद्धति शक्ति-उपासना का मुख्य विषय है और भगवत्पाद ने उस चिदानन्द के सौन्दर्य का विशद निरूपण सौन्दर्यलहरी के रहस्यपूर्ण पदों में किया है। अन्त में सब साधनों का उपसंहार 'तत् सत् सोहम्' में होता है। प्रथम दो

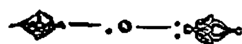
साधन कल्पना के विषय हैं जो प्रत्येक नर-नारी की कल्पना-शक्ति पर निर्भर हैं, परन्तु अन्तिम साधन स्वात्मानुभूति का वस्तुतन्त्र विषय होने के कारण सर्वथा गुरुकृपा की ही अपेक्षा रखता है।

यह हम अनेक बार कह चुके हैं कि गुरुजन शक्तिपात दीक्षा द्वारा शिष्यों पर अनुग्रह किया करते हैं। शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को जगा देने का ही नाम शक्तिपात है, जैसा कि शक्तिरहस्य के निम्नोद्धृत श्लोकों से स्पष्ट है:—

'व्यापिनी परमाशक्तिः पतितेत्युच्यते कथं ?
ऊद्ध्वादधोगतिःपातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च ॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता।
किन्त्वियं मलकर्मादिपाशवद्धेषु संवृता ॥
पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ।'

अर्थः—वह परमा शक्ति सर्वव्यापिनी है, फिर वह पतिता अर्थात् गिरती है, ऐसा क्यों कहते हैं? मूर्तिमान्, एकदेशीय, जो सर्वव्यापी नहीं, उसी की ऊपर से नीचे गिरने की गति को पतन कह सकते हैं। वास्तव में तो वह नित्य सर्वव्यापिनी है और स्वभाव से शिववत् स्थित है, किन्तु वह कर्मों के मल के पाश से आवृत रहती है। जब दोषों के पक जाने पर वह सुव्यक्त होती है, तब उसे शक्तिपात कहते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



परिशिष्ट १

ऋग्वेदीयं नासदासीय सूक्तम्

[अष्टक ८, अ० ७, मं १०, सू० १२९]

[परमेष्ठी प्रजापतिः ऋषिः, त्रिष्टुभ् छन्दः, परमात्मा देवता]

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं, नासीद्रजोनो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुहः कस्य शर्मन्नम्भः, किमासीद्गहनं गंभीरम् ॥१६

अर्थ:—तब न असत् था, न सत् था, रज नहीं था और जो पराकाश है वह भी न था, क्या कोई आवरण था, (जैसे) कुहरा या अन्धकार ? किसकी प्रधानता थी, जल की ? क्या था ? गहन गंभीर था।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधयातदेकं, तस्माद्धान्यन्न[1] परः किंचनाऽऽस ॥१७

न मृत्यु थी न अमृत था, रात्री और दिन के चिन्ह भी नहीं थे, वह बिना वायु प्राण लेता था, वह[1] अकेला अपनी महिमा से पूर्ण था और निश्चय उससे अन्य दूसरा कुछ न था।

तम[2] आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतमसलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्, [3]तपसस्तन्महिनाऽजायतेकम्[4] ॥१८

पहिले तम[2] हुआ, वह तम से छिपा हुआ था, (उसमें) यह सब (जगत्, नाम-रूपात्मक प्रपंच) लिंग रहित था, वह जल (सलिल) नहीं था। जो था वह तुच्छ (माया) से ढक

---

१. यह परब्रह्म ॐ का स्वरूप है। २. यह माया पराशक्ति

गया, उसने[3] तप किया, तप की महिमा से एक[4] (पुरुष) उत्पन्न हुआ।

कामस्तदग्रे[5] समवर्तताधि, मनसो[6] रेतः[7] प्रथमं यदासीत्।
सतो बंधुमसति निरविन्दन्, हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषाः ॥१६

उसने पहिले संवर्तन (जगत् की सृष्टि) के लिये कामना[5] की। (संसार के रूप में वर्तमान होने को संवर्तन कहते हैं)। प्रथम जो हुआ वह (उसके) मन[6] की रेतस्[7] शक्ति हुई। उस असत् में सत् ने अपना बंधु साथी पाया, यह बात बुद्धिमान् सर्वज्ञ ऋषियों ने जिज्ञासा पूर्वक जानी।

ह्लीं का रूप है। ३. यह सदाख्य तत्त्व श्रीं का स्वरूप है। ४. यह ईश्वर का ऐं स्वरूप है। ५. यह भी ईश्वर का क्लीं रूप है। ६. सत् मन शुद्ध विद्या का रूप है। ७. असत् रेतस् अशुद्ध विद्या का रूप है।

नोट:—बीजमन्त्रों का उत्पत्ति-क्रम जो यहां दिखाया गया है, वह योगमार्ग का क्रम है, देखें योगशिखोपनिषद्—

'महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती।
आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वंप्रवर्तते ॥'—२,११,१२

दूसरा क्रम जो प्रवृत्ति मार्ग वालों को इष्ट है, उसके अनुसार पराशक्ति को माया के ऊपर का स्तर मानकर 'ऐं' बीज ग्रहण किया जाता है। सदाख्य स्पन्द में माया की स्थिति बीज रूप से मानने से वहां ह्रीं बीज माना जाता है।

तिरश्चिनो विततोरश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः
परस्तात् ॥२०

तिरछी फैलती हुई उनकी किरणें नीचे की ओर फैलीं या ऊपर की ओर, वे शक्ति धारण किये हुए थीं, बड़े विस्तार वाली थीं और अपने ही आधार पर दूर तक फैली हुई थीं।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबाभूव ॥२१

निश्चय यह किसने जाना ? किसने यहां कहा कि कहां से आई कहां से यह सृष्टि हुई ? देवता तो इसके बनने के पीछे के हैं। इसलिये किसने जाना कि कहां से हुई ?

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव, यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥२२

यह सृष्टि जहां से हुई, उसको धारण किया हुआ है या नहीं। यह बात इसका जो अध्यक्ष परमाकाश है, अरे! वही जानता है अथवा यदि नहीं जानता (तो दूसरा कौन जान सकता है, इसलिए वही जानता) है।

तपः पुञ्ज ईश्वर को श्रीं का स्थान और कामना युक्त ईश्वर को काम बीज क्लीं का स्थान माना जाता है। सत् और असत् दोनों शक्ति सकार के रूप होने से सौः बीज के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। इस प्रकार दो मंत्रों का निर्माण हो जाता है।

परिशिष्ट २

अथ ऋग्वेदीया त्रिपुरोपनिषत्

'त्रिपुरोपनिषद्वेद्यपारमैश्वर्यवैभवम् ।
अखण्डानन्दसाम्राज्यं रामचन्द्रपदं भजे ॥'

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि वेदस्य मे आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः।
अधिष्टायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥१

अर्थः— तीन पुर जिसके तीन पथ हैं, विश्व का आकर्षण करके धारण किये हुए हैं, जहां अकथ अक्षर संनिविष्ट है, उसकी अधिष्ठातृ देवता अजरा, पुराणी, देवताओं की सब से बड़ी महिमायुक्त त्रिपुरा है।

श्रीचक्र के मध्यस्थ त्रिकोणाकृति सर्वसिद्धिप्रद आवरण का यहां संकेत है। तीनों भुजाओं पर सोलह-सोलह अक्षर जानने चाहियें अर्थात् ▽ की ऊपर की भुजा पर अ से अः तक १६ स्वर, दाहिनी ओर भुजा पर क से त तक और तीसरी भुजा पर थ से स तक तथा शेष ह, क्ष और ल तीनों अक्षरों को उसी क्रम से तीनों कोणों पर जानना

चाहिये। इस क्रम से लकार नीचे के कोण पर आता है। इसको अकथ अथवा गुरु चक्र भी कहते हैं जिसका स्थान सहस्रार के मध्य ब्रह्मरंध्र में है। यह त्रिपुरा भगवती की पीठ है। सौन्दर्य लहरी श्लोक ८ में कहा गया शिवाकार मंच यही है।

नवयोनीर्नवचक्राणि दधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथा स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम् ।।२

अर्थः— उसमें ६ योनी और ६ चक्रों को धारण किया हुआ है, ६ ही योग हैं और ६ योगिनियां हैं। वे चक्रों की अधिनाथा हैं, जिनकी किरणें ६ भद्रा और ६ मुद्रा हैं।

अर्थः—सौन्दर्य लहरी के ११वें श्लोकोक्त चार श्रीकंठ और पांच शिवयुवतियां ६ योनियां हैं। इनको वहां मूलप्रकृति कहा गया है। ६ चक्र ६ आवरण हैं। प्रत्येक चक्र की एक-एक योगिनी है। उनके नाम प्रकट, गुप्त, गुप्ततर, संप्रदाय, कुलोत्तीर्ण, निगर्भ, रहस्य, परा और परपरातिरहस्य योगिनी हैं। (देखें—सौन्दर्य लहरी, श्लोक ११)।

एका स आसीत् प्रथमा सा नवासीदासोनविंशादासोनत्रिंशात्।
चत्वारिंशादथ तिस्रः समिधा उशतीग्विव मातरो मा विशन्तु ।।३

अर्थः— वह पहिले एक थी, फिर (अष्टार सहित) ६ हो गई, (अन्तर्दशार सहित) १६ हुई, (बहिर्दशार सहित) २६ हुई और (चतुर्दशार सहित) ४३ हुई। ये सब प्रज्ज्वलित

कान्तियुक्त समिधा सदृश तेजीमयी माताएं मेरे भीतर प्रवेश करें अर्थात् मेरे शरीर में निवास करें।

ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद्रजोऽभूत्।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयन्ति ॥४

अर्थः—पहिले ऊर्ध्व ज्वाला युक्त प्रज्ज्वलित ज्योति तमोगुण हुई, बिना जीर्ण हुए अर्थात् अनन्त वह जब तिरछी फैली, वह रजोगुण हुआ और आनन्द एवं मोद के देने वाली चन्द्रमा की ज्योति सत्त्व गुण हुआ। ये तीनों क्रमशः अग्नि, सूर्य और सोम के मण्डल बनाती हैं।

४३ त्रिकोणों को समिधाओं से उपमित किये जाने से यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि ये सब अग्नि और सूर्य-मंडलों के अन्तर्गत होने चाहियें क्योंकि चन्द्रमा को समिधा की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये अष्ट दल और षोडश दल पद्म चन्द्रमण्डल में, चतुर्दशार और बहिर्दशार सूर्य-मंडल में और अन्तर्दशार एवं अष्टार अग्निमण्डल में होने चाहियें। मध्य त्रिकोण शक्ति का स्थान है और भूगृह तीनों पुर अर्थात् भूर्भुवः स्वः तीनों लोकों का प्रतीक है।

अन्तर्दशार और बहिर्दशार के दश-दश दलों को अग्नि की दश-दश कलायें, अष्टार के ८ दलों को अष्टवसु अथवा ८ दिशाओं रूपी ८ समिधा और चतुर्दशार के १४ दलों को सप्ताह की दिन-रात्रियों रूपी १४ समिधाओं से उपमित किया जा सकता है।

यास्तिस्रो रेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रिप्रकाराः ।
एतत्त्रयं पूरकं पूरकाणां मन्त्री प्रथते मदनो मदन्या ॥५

अर्थः—जो तीन रेखा हैं वे तीन सदन अर्थात् लोक हैं, तीन प्राकार तीन गुण हैं। इस तीन मण्डलों से बने श्रीचक्र का कामेश्वरी मंत्र द्वारा मदन मंत्रीकरण करता है। (मनुष्य देह ही श्री चक्र है)।

मदन्तिका मानिनी मंगला च सुभागा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता ।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती ॥६

अर्थः— पंचदशी कादि विद्या के प्रत्येक अक्षर के अनुसार १५ शक्तियों के नाम ये हैं:—मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभागा और वह सुन्दरी त्रिपुरा, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता और लालपन्ती।

इमां विज्ञाय सुधिया मदन्तो परिस्रुता तर्पयन्तः स्वपीठम् ।
नाकस्य पृष्टे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशंति ॥७

अर्थः—इस विद्या को जानकर (सुधारूपी) मदिरा से मदन्ती को, उसकी पीठ (श्रीचक्र) में तृप्त (प्रसन्न) करने वाले महान् पुरुष स्वर्ग के ऊपर वास करते हैं और त्रैपुर धाम में प्रवेश करते हैं।

स्वपीठम् को निवसन्ति के साथ पढ़ने से अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये कि मदन्ती को तृप्त करने वाले महान् पुरुष स्वर्ग के ऊपर उसकी पीठ में वास करते हैं, इत्यादि।

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातादिविद्या ॥८

अर्थः—कामः (ककार) योनिः (एकार) कामकला (ईकार) वज्रपाणिः इन्द्र (लकार) गुहा (ह्रीं) हसा (हस) मातरिश्वा (ककार) अभ्रं (हकार) इन्द्रः (लकार) पुनर्गुहा (ह्रीं), सकला (सकल) मायया (ह्रीं)। यह प्रकाशवती विश्वमाता स्वरूपा आदि विद्या है।

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।
कथ्यं कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते ॥६

अर्थः— ऊपर वाली विद्या के षष्टं, सप्तम और वह्निसारथि अर्थात् मातरिश्वा का मूलत्रिकं (प्रथम तीन अक्षरों) के स्थान पर आदेश करने वाले साधक कथ्य (वाच्य पद) सर्वज्ञ कल्प के निर्माता कामेश्वर को प्रसन्न करके मुक्त हो जाते हैं। (कल्पः शास्त्रे विधी न्याये संवर्ते ब्रह्मणो दिने)। यह लोपामुद्रा मंत्र है।

पुरं हन्त्रीमुखं विश्वमातू रवे रेखा स्वरमध्यं तदेषा।
वृहत्तिथिर्दश पंच च नित्या सषोडशीकं पुरमध्यं विभर्ति ॥१०

अर्थः—पुरं हन्त्रीमुखं (शिवाभिमुखं), विश्वमातुः (छंदेदीर्घ) विश्वमाता की, अवेः पुष्पवती की, एखा 'ए' नामाख्या, स्वर मध्यं (स्वर हैं मध्य में जिसके वह विद्या), वृहत्तिथिर्दशपंच च (शुक्ल पक्ष की १५ तिथियां) और षोड-

शीक बीज सहित नित्या भगवती पुर के मध्य में धारण करती है। अर्थात् पुष्पवती विकसिता विश्वमाता की 'ए' नामाख्या और जो शुक्लपक्ष की १५ तिथियों युक्त है वह नित्या शिवाभिमुखसषोडशीक मध्य में स्वर-युक्त है, उसे पुर के मध्य में लिये हुए श्रीचक्र अथवा सहस्रारस्थ अकथ चक्र को धारण करती है।

इस श्रुति का संकेत अष्टम मंत्रोक्त विद्या की ओर और विशुद्ध चक्र एवं श्रीचक्र के पूजन की विधि की ओर है। अर्थात् कादिविद्या को सषोडशीक लेना चाहिये, जिसके १५ अक्षर शुक्लपक्ष की तिथियों के सदृश विकसित हो रहे हैं। अवि: से रजस्वला स्त्री का अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये। उसका अर्थ 'शिवाभिमुख अर्थात् शिव की ओर मुख किये हुए मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाली' होना चाहिये। विशुद्ध चक्र जो सब स्वरों का स्थान है, उसमें उसका ध्यान करना चाहिये, जिसके दल सहस्रार की ओर विकसित हो रहे हैं।

यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि।
कामी कलां कामरूपां चिकित्वा नरो जायते कामरूपश्च काम: ॥११

अर्थ:—अथवा जो गोल होने के कारण स्तनबिम्ब के सदृश एक मुख वाला है और उसके नीचे तीन गुहा सदृश घर बने हुए हैं, ऐसी कामरूपा कला को कोई सकामी मनुष्य अनुष्ठान में लाता है तो उसकी कामना पूर्ण होती है और

वह स्वयं कामरूप हो जाता है। यहां काम बीज की ओर संकेत है।

परस्रुतं झषमाजं फलं च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृताश्च।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति ॥१२

अर्थः—परिस्रुतं=मदिरा, झषं=मत्स्य, नागर बेल, आजं=अजा से सम्बन्ध रखने वाला फल अथवा आज्यं घी और फल अथवा झषा नागबला से उत्पन्न होने वाला फल, भात भोजन के पदार्थ और योनियों को अच्छी तरह साफ-सुथरा करके महादेवी को नैवेद्य देकर अपने लिये किये हुए सुकृत से सिद्धि पाता है। यह सारी विद्या सांगोपांग अति गोपनीय है, इसका यंत्र, मंत्र, पूजनविधि और पूजन की सामग्री का वर्णन कूट शब्दों में किया गया है। वास्तविक अर्थ सांप्रदायिक आचार्यों के मुख से ही जाना जा सकता है, इसलिये नैवेद्य की सामग्री के नाम भी कूट शब्दों में बताये हैं, जैसे परिस्रुतं मदिरा, झषं मछली, आजं बकरे का मांस, योनि स्त्री की योनि इत्यादि। वास्तव में इन निषिद्ध पदार्थों के नामों द्वारा कूट शब्दों में अध्यात्म-निवेदन निहित है। उसको गुप्त रखा गया है। परिस्रुतं से कुण्डलिनी जागरणोपरान्त अनुभव में आने वाली अध्यात्म-मस्ती का संकेत है, झषमाज-फलं से कर्मों का फल, भक्तानि से प्रारब्ध भोग और योनि से उनकी कारणभूत वासनायें समझनी चाहियें।

सृण्येव सितया विश्वचर्षणि: पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकाम्।
इषुभि: पंचभिर्धनुषा च विध्यत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या ॥१३

अर्थ:—शर्करा के अंकुश से विश्व का आकर्षण करने वाली, पाश से क्रूरता का दमन करती है, पांच बाणों और धनुष से वह विश्वजननी आदिशक्ति अरुणा सब को नियन्त्रण में रखती है।

भगवती के चारों हाथों में अंकुश, पाश, पांच बाण और धनुष हैं और उनका वर्ण लाल है, इसलिये उनका नाम अरुणा है। अंकुश शर्करा का, बाण फूलों के और धनुष ईख का बना है। क्रोध को अंकुश, मोह को पाश, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध को पांच बाण और मन को धनुष समझना चाहिये। मोह भी माधुर्य लिये होता है, भगवती का क्रोध भी मीठा होता है। मन में आनन्दरूपी रस भरा रहता है और पांचों विषयों में भी मधुरता होती है।

भग: शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दातारविह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समोजौ तयो: शक्तिरजरा विश्वयोनि: ॥१४

अर्थ:—भग शक्ति है भगवान कमेश दोनों यहां सौभाग्य के देने वाले हैं, दोनों समान रूप से प्रधान हैं, समान सत्त्व वाले हैं और समान ओजस्वी हैं, अजरा उनकी शक्ति है जो विश्व का कारण है।

इच्छा, श्री, ज्ञान, वैराग्य, कीर्ति, ऐश्वर्य, धर्म और मोक्ष—ये ८ भग कहलाते हैं, इनकी शक्तियों से युक्त भगवान् कहलाता है।

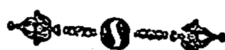
परिस्रुता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः।
शर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति ॥ १५

अर्थः—मदिरा को हवि द्वारा अर्थात् आनन्दावेशरूपी हवि द्वारा भावना करने से प्रसंकोच के गलित होने पर अर्थात् जीव-भाव का त्याग करके वैमनस्क उन्मनी भाव को प्राप्त होता है। कल्याण स्वरूप सारे जगत् का विधाता, धर्ता और हर्ता उसको विश्वरूप में दीखने लगता है।

इयं महोपनिषत् त्रैपुर्या यामक्षयं परमो गीर्भिरीट्टे।
एषर्ग्यजुः परमेतच्च सामायमथर्वेयमन्या च विद्या ॥ १६

अर्थः—यह त्रिपुरा का महोपनिषत् है, जो अक्षय और परम है, जिसको यहां वाणी द्वारा कहा गया है। यह ऋक्, यजुर् है और वह परम साम है। यही अथर्व और अन्य विद्या स्वरूप है।

ॐ ह्रीमों ह्रीमित्युपनिषत्। ॐ वाङ्मे मनसीति शान्तिः ॥
हरिःॐतत्सत् इति ऋग्वेदीया श्रीत्रिपुरोपनिषत् समाप्ता: ॥



परिशिष्ट ३

अथ अथर्ववेदीया भावनोपनिषत् का हिन्दी अनुवाद

स्वाविद्यापदतत्कार्यं श्रीचक्रोपरि भासुरम् ।
बिन्दुरूपशिवाकारं रामचन्द्रपदं भजे ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु । ॐ शान्तिः ३ ॥

हरिः ॐ ॥ आत्मा का चारों ओर सकल ब्रह्माण्डमण्डल को घेरे हुए, अखण्ड मण्डलाकार स्वयं प्रकाशमान ध्यान करना चाहिये । ॐ श्रीगुरु सबकी कारणभूता शक्ति है । उससे ९ रंध्र (छिद्र) वाला देह बनता हैं, वही ६ शक्ति स्वरूप श्रीचक्र हैं । (जैसे देह में २ नेत्र, २ कान, २ नाक के छिद्र, १ मुख, १ पायु और १ उपस्थ—ये ६ छिद्र हैं, वैसे ही श्रीचक्र में ४ श्रीकंठ और ५ शिवयुवतियों वाले ६ प्रकृति स्वरूप त्रिकोण हैं सौं० ल० श्लोक ११) ।

वाराही शक्ति पितृ रूपा है । (सौं० ल० श्लोक ३) और कुण्डलिनी शक्ति मातृ रूपा है (सौं० ल० श्लोक ६), पुरुषार्थ सागर हैं, देह-नवरत्नद्वीप (सौं० ल० श्लोक ८) है, आधार नौ मुद्रा शक्तियां हैं (त्रैलोक्यमोहन चक्र के तीसरे चतुष्कोण की प्रकट योगिनियां) अर्थात् सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी,

सर्वाकर्षिणी, सर्ववशंकरी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहांकुशा, सर्वखेचरी, सर्वबीजा और सर्वयोनिमुद्रा शक्तयः। त्वगादि सप्त धातुओं से अनेक प्रकार संयुक्त संकल्प कल्पतरु हैं, तेज कल्पकोद्यान है (श्लोक ८)।

जिह्वा के मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय और क्षार (लवण) भेद से छः रस छः ऋतु हैं। क्रियाशक्ति पीठ है, ज्ञानशक्ति कुण्डलिनी घर है और इच्छाशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी है। ज्ञाता होता, ज्ञान अग्नि और ज्ञेय हवि है; तीनों की अभेद भावना श्रीचक्र का पूजन है। नियति सहित शृंगार, वीभत्स, रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीर, हास्य, करुण और शांत ६ रस, त्रैलोक्य-मोहन चक्र के प्रथम बहिः चतुष्कोण पर स्थित अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशत्व, वशित्व, प्राकाम्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति और मुक्ति—१० सिद्धियां हैं (श्लोक ४१)।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य और पाप मध्य चतुष्कोणस्था ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेन्द्री, चामुण्डा और महालक्ष्मी ८ मातृ देवता हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ और मनोविकार सर्वाशापरिपूरक दूसरे आवरण के १६ दलों पर स्थित कामाकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी, अहंकाराकर्षिणी, शब्दस्पर्शरूपरसगंधाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामा-

कर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षिणी और शरीराकर्षिणी—१६ नित्या कला गुप्त योगिनियां हैं।

बोलना, चलना, पकड़ना, मल-मूत्र का विसर्जन करना, मैथुन, हानि, लाभ और उपेक्षा बुद्धि, सर्वसंक्षोभण संज्ञक तीसरे आवरण के ८ दलों पर स्थिता अनङ्गकुसुमा, मेखला, मदना, मदनातुरा, रेखा, वेगिनी, अङ्कुशा और मालिनी ८ गुप्ततर योगिनियां हैं। अलंबुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्वती अथवा पयस्विनी, अश्विनी, गांधारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना—ये १४ नाड़ियां सर्वसौभाग्यदायक चतुर्थ चतुर्दशार आवरण के १४ त्रिकोणों पर स्थिता सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाल्हादिनी, सर्वसंमोहिनी, सर्वस्तंभिनी, सर्वजृंभिणी, सर्ववशंकरी, सर्वरञ्जनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसंपत्ति-पूरिणी, सर्वमंत्रमयी और सर्वद्वंद्वक्षयंकरी १४ संप्रदाय योगिनियां हैं।

प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय १० वायु सर्वार्थसाधक संज्ञक बहिर्दशारगत पांचवें आवरण के १० त्रिकोणों पर स्थिता सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसंपत्प्रदा, सर्वप्रियकरी, सर्वमंगलकरी, सर्वकामदा, सर्वदुःखविमोचिनी, सर्वमृत्युप्रशमनी, सर्वविघ्न निवारिणी, सर्वाङ्गसुन्दरी और सर्वसौभाग्यदायिनी १० कुलोत्तीर्ण योगिनियां हैं। उक्त दश वायु के संसर्ग की उपाधि के भेद से

जो रेचक, पूरक, शोषक, दाहक, प्लावक पंचप्राणादि की अमृत रूपी पालन करने वाली क्रियाएं हैं और द्रावक, दारक, क्षोभक, मोहक, जृंभक ५ क्रियाएं जो पालन नहीं करतीं, नागादि की क्रियाएं हैं जिनसे मनुष्यों का मोहक-दाहक खाया-पीया भक्ष्य, लेह्य, चोष्य और पेय चतुर्विध अन्न पचता है।

सर्वरक्षाकर संज्ञक छठे अन्तर्दशार चक्र की सर्वज्ञा, सर्वशक्तिप्रदा, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधि-विनाशिनी, सर्वाधारस्वरूपा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षास्वरूपिणी और सर्वेप्सितफलप्रदा—१० वह्निकला निगर्भ योगिनियां हैं। शीत, उष्ण, सुख, दुःख, इच्छा, सत्त्व, रजोगुण और तमोगुण सर्वरोगहर संज्ञक अष्टार सप्तम आवरण के ८ त्रिकोणों में स्थिता वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयनी, सर्वेश्वरी और कौलिनी वाग्देवता ८ रहस्य योगिनियां हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध ५ पुष्प बाण हैं, मन इक्षु-धनु, वश्य बाण, राग पाश और द्वेष अंकुश है।

अव्यक्त, महत्, अहंकार तीनों कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी देवियां हैं जिनका स्थान सर्वसिद्धिप्रद अष्टम आवरण के मध्य त्रिकोण के अग्र भागों पर है। काल के परिणाम को दिखाने वाली १५ तिथियां १५ नित्या हैं, श्रद्धानुरूपा बुद्धि देवता है, उनमें कामेश्वरी सदा आनन्द-

घना परिपूर्ण स्वात्मैका रूपा है। इसका स्थान सर्वानन्दमय संज्ञक नवम आवरण में अर्थात् बिन्दु स्थान है जिसको ललितामहात्रिपुर सुन्दरी परापरातिरहस्य योगिनी कहते हैं।

उपासना-क्रम:—तर्पणादि के लिये जल सत्त्व है, कर्तव्याकर्तव्य-विचार उपचार है, कर्तव्यता है या नहीं यह अनूपचार अर्थात् गौण उपचार है। बाह्य और अभ्यन्तर इन्द्रियों की रूप ग्रहण करने की योग्यता बनी रहे, यह इच्छा आवाहन है। उन बाह्याभ्यन्तर कर्मों की एक विषय पर स्थिरता आसन है। रक्त और शुक्ल पदों का एकीकरण पाद्य है (इडा और पिंगला शक्ति के दोनों चरणों में शक्त्यात्मक पद रक्त है और शिवात्मक पद शुक्ल है।) आमोद और आनन्द का प्रकाश आसन और अर्घ्यदान, स्वतःसिद्ध स्वच्छता आचमन, चन्द्रमयी चिति से सर्वांग स्रवण स्नान है। चिदग्नि स्वरूप परमानन्द शक्ति का स्फुरण वस्त्र है। सत्ताईस भेदों से युक्त क्रिया, इच्छा और ज्ञानरूपी ब्रह्मग्रंथि वाली छः तन्तु की ब्रह्मनाड़ी ब्रह्मसूत्र है।

प्रत्येक क्रिया शक्ति, इच्छा और ज्ञान शक्ति के २७ भेद कहे गये हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक और अध्यात्म भेद से तीनों शक्तियां तीन-तीन प्रकार की होती हैं। फिर प्रत्येक के मृदु, मध्य और तीव्र भेद से नवधा भेद समझने चाहियें। फिर प्रत्येक के सुख, दुःख और मोहात्मक अथवा

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से सत्ताईस भेद होते हैं। मृदु, मध्य और तीव्र के स्थान पर मनसा-वाचा-कर्मणा भेद से भी तीनों को त्रिधा माना जा सकता है।

ब्रह्मसूत्र में तीन ग्रंथियां इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपा हैं और उनमें छः तन्तु हैं। तीनों की शक्तियां शिव-शक्ति अथवा इडा-पिंगला भेद से ६ प्रकार की होती हैं। इस प्रकार २७ तारों का यज्ञोपवीत बट कर उसकी छः डोरियों से सुषुम्ना रूपी ब्रह्मसूत्र बना है। अपने को वस्तुसंगरहित पृथक् स्मरण करना विभूषण है। सच्चिदानन्द की परिपूर्णता का स्मरण करना गंध है। सब विषयों का एकाग्र स्थिर मन से अनुसंधान करना पुष्प है। उनको ही सर्वदा स्वीकार करना धूप है। सच्चित् स्वरूप उल्काकाश देह वाला, पवन के झोकों से न हिलने वाला, ऊर्ध्व शिखायुक्त प्रज्वलित दीप है। सर्वथा यातायात वर्जित एकान्तवास नैवेद्य है। तीनों अवस्थाओं का एकीकरण तांबूल है। मूलाधार से ब्रह्मरंध्र पर्यन्त और ब्रह्मरंध्र से मूलाधार तक आना-जाना प्रदक्षिणा है। तुर्यावस्था नमस्कार है। देह के शून्य होने पर प्रमातृत्व का लय होना बलि-हरण है। कर्तव्य और अकर्तव्य सत्य हैं, परन्तु उदासीनता के भाव में नित्य आत्मा को मग्न रखना होम है। स्वयं उसकी पादुकाओं में निमग्नता परिपूर्ण ध्यान है।

इस प्रकार तीन मुहूत भावना करने वाला जीवन्मुक्त

हो जाता है। उसे सायुज्य देवात्मैक्य सिद्धि होती है। उसके चिन्तित कार्य बिना यत्न के सिद्ध होते हैं। वही शिवयोगी कहलाता है। यह कादि-हादि मत के अनुसार भावना प्रतिपादित की गई है। जो ऐसा जानता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है! वह जीवन्मुक्त हो जाता है!!

इति उपनिषत्। ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः

हरि ॐ तत्सत्।

●

परिशिष्ट ४

अथ देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रम्

न मंत्रं नो यंत्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
न चाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुतिकथाः।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं
परं जाने मातस्त्वदनुसरणं क्लेशहरणम् ॥१

अर्थः—हे मा! मैं न यंत्र जानता हूं, न मंत्र और फिर, अहो! स्तुति भी तो नहीं जानता। आवाहन, ध्यान और तेरी स्तुति-कथा कुछ नहीं जानता। तेरी मुद्रा नहीं जानता और न रोना ही जानता हूं। परन्तु, हे मात! इतना तो जानता हूं कि तेरा अनुसरण करने से क्लेशों का नाश होता है।

विधेरज्ञानेन द्रविणविरहेणालसतया
विधेयाशक्यत्वात्तव चरणयोर्या च्युतिरभूत् ।
तदेतत्क्षन्तव्यं जननि सकलोद्धारिणि शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।२

अर्थ:—तेरी पूजा की विधि का ज्ञान न होने के कारण धन के अभाव और आलस्य से एवं विधिवत् पूजा करने में अशक्य होने के कारण जो तेरे चरणों से अलग रहा हूँ, वह मेरा अपराध क्षमा किया जाने के योग्य है। हे जननि! सब का उद्धार करने वाली शिवे! कुपुत्र तो हो सकता है, परन्तु कहीं भी कुमाता नहीं होती।

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि बहवः संति सरलाः
परं तेषां मध्ये विरलतरलोऽहं तव सुतः ।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।। ३

अर्थ:—पृथ्वी पर तेरे, हे मा! बहुत से सरल पुत्र हैं, परन्तु उनमें मैं भी एक विरल चपल तेरा सुत हूं। हे शिवे! जो तूने मुझे त्याग रखा है, यह तेरे लिये उचित नहीं है, क्योंकि कुपुत्र तो होते हैं, परन्तु कहीं भी कुमाता नहीं होती।

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता।
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया ।।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत्प्रकुरुषे।
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।। ४

अर्थः—हे जगज्जननि ! हे मा ! मैंने तेरे चरणों की सेवा कभी नहीं की, और हे देवि ! मैं तुझे बहुत धन भी न दे सका, तो भी तू जो मेरे ऊपर निरुपम स्नेह करती है, यह ठीक है, क्योंकि कुपुत्र तो हो सकते हैं, परन्तु कहीं भी कुमाता नहीं होती।

परित्यक्ता देवा विविधविधसेवाकुलतया।
मया पंचाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि ॥
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता।
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम् ॥ ५

अर्थः—विविध प्रकार से सेवा करते-करते व्याकुल होकर अब ८५ वर्ष से भी अधिक आयु हो जाने पर मैंने सब देवों को छोड़ दिया है, यदि अब, हे मा ! तेरी भी कृपा नहीं होगी तो, हे गणेशजननि ! मैं निरालम्ब किसकी शरण में जाऊँ ?

यहां ८५ वर्ष की आयु से अधिक समय अन्य देवताओं की सेवा में व्यतीत हो जाने के उल्लेख से यह शंका होती है कि यह स्तोत्र आदि शंकर भगवत्पाद का विरचित नहीं है। संभव है कि चारों मठों की आचार्यपरंपरा में यह किसी अन्य आचार्य का विरचित हो, क्योंकि सब मठों के आचार्य शंकराचार्य की कहलाते हैं। अन्यथा ८५ वर्ष से भी अधिक वय कहने से सामान्य लोगों का दीर्घायु तक अन्य देवताओं की सकाम उपासना में ही लगे रहने की ओर संकेत है।

श्वपाको जल्पाको भवति मधुपाकोपमगिरा
निरातंको रंको विहरति चिरं कोटिकनकैः ।
तवापर्णे कर्णे विशति मनुवर्णे फलमिदं
जनः को जानीते जननि जननीयं जपविधौ ॥ ६

अर्थः—हे अपर्णे ! तुम्हारे मंत्र का एक वर्ण भी कान में पड़ जाने का जब यह फल है कि बकवास करने वाला श्वपच भी मधुपाक जैसी मधुर वाणी का वक्ता हो जाता है और रंक भी करोड़ों सुवर्ण की मुद्राओं से दीर्घ काल तक निर्भय विहार करता है, तो कौन मनुष्य जान सकता है कि, हे जननि ! जप की विधि के अनुसार जप करने का क्या फल होगा, क्योंकि जपविधि को कौन जानता है ? अर्थात् कोई नहीं जानता ।

चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो
जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः ।
कपाली भूतेशो भजति जगदीशैकपदवीं
भवानि ! त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम् ॥ ७

अर्थः—हे भवानी ! चिता की भस्म का लेप करने वाला, हलाहल खाने वाला, दिगम्बर, जटाधारी, कंठ में सर्पों का हार पहिनने वाला, पशुओं का पति, कपाली (हाथ में भिक्षा के लिये खप्पर लिये), भूतेश ईश्वर जगत् की एक मात्र ईशन (शासन) करने की पदवी धारण करता है, इसका कारण तेरा पाणिग्रहण करने की परिपाटी का ही फल है ।

न मोक्षस्याकांक्षा भवविभववाञ्छापि च न मे।
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः॥
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै।
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः॥ ८

अर्थः— हे चन्द्रमुखि जननि! न मुझे मोक्ष की इच्छा है, न सांसारिक वैभव की इच्छा है, न विज्ञान की ही अपेक्षा है और न सुख की इच्छा है, इसलिये यही याचना करता हूं कि मेरा जीवन 'मृडानी, रुद्राणी, शिव-शिव भवानी' इस प्रकार जप करते हुए बीते।

नाराधितासि विधिना विविधोपचारैः
किं रुक्षचिन्तनपरैर्न कृतं वचोभिः।
श्यामे त्वमेव यदि किञ्चन मय्यनाथे
धत्से कृपामुचितमम्ब परं तवैव॥ ९

अर्थः— हे श्यामे! अम्बे! मुझ से न तो विधिपूर्वक तेरी विविध सामग्रियों से पूजा ही हुई है और मेरी रूखे चिन्तन में लगी वाणी द्वारा क्या नहीं किया गया है? तो भी यदि तू मुझ अनाथ पर जो कुछ कृपा रखती है, हे मा! वह तेरे लिये उचित है (जो मुझ जैसे कुपात्र पर भी कृपा तो है ही)।

आपत्सु मग्नः स्मरणं त्वदीयं करोमि दुर्गे करुणार्णवेशि।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथाः क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति॥ १०

अर्थः—हे दुर्गे, हे दया के सागर की ईश्वरि! आप-

त्तियों में डूबा हुआ मैं तेरा स्मरण करता हूं। मेरी इस में शठता है, ऐसा मत समझना, क्योंकि क्षुधा और तृषा से दुखी बालक ही मां को याद करता है।

जगदम्ब विचित्रमत्र किं परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि।
अपराधपरम्परापरं न हि माता समुपेक्षते सुतम् ॥ ११

अर्थः—हे जगदम्ब ! इस में यहां आश्चर्य ही क्या है कि मेरे ऊपर तेरी पूर्ण दया है; अपराधों पर अपराध करते रहने पर भी माता पुत्र की उपेक्षा नहीं करती।

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु ॥ १२

अर्थः—मेरे समान कोई पापी नहीं और तेरे समान पापों का नाश करने वाली दूसरी नहीं, ऐसा जानकर, हे महादेवि ! जैसा योग्य समझो वैसा करो।

इति श्री शङ्कराचार्य विरचितं देव्यपराधक्षमापन स्तोत्रं संपूर्णम् ॥



